साहित्य [और] कला का समग्र मासिक
नवम्बर 2007 ● मूल्य : 20 रुपये

कथादेश

नवीन सागर विशेषांक

नवीन सागर की कविताएँ, कहानियाँ और पत्र

इस अंक के अन्य लेखक : विष्णु खरे, रमेश चन्द्र शाह, प्रयाग शुक्ल, डॉ. प्रभात त्रिपाठी, ज्योत्स्ना मिलन, रघु ठाकुर, अशोक अग्रवाल, मंगलेश डबराल, उदय प्रकाश, विष्णु नागर, कमला प्रसाद, रमेश दत्त दुबे राजकुमार केसवानी, नरेन्द्र जैन, विनोद कुमार श्रीवास्तव, लीलाधर मंडलोई, मुकेश वर्मा, रामकुमार तिवारी, अनिरुद्ध उमट शम्पा शाह, छाया सागर, समता सागर और अनिरुद्ध सागर





साहित्य, संस्कृति और कला का समग्र मासिक

कथादेश

अगला अंक

दिसम्बर 2007

कथाकार सत्येन कुमार पर केन्द्रित

- सत्येन कुमार की कहानियाँ

- संस्मरण : कृष्णा सोबती, धनंजय वर्मा, अशोक वाजपेयी, प्रमीला कुमार, मंजूर एहतेशाम, डॉ. कमला प्रसाद, गगन गिल, इजलाल मजीद, मनोज रूपड़ा, राजीव वर्मा, गीतांजलिश्री और अनिता सभरवाल

- सत्येन कुमार की कहानियों पर
  उपेन्द्रनाथ अश्क, मनोहर वर्मा और जय प्रकाश

- सत्येन कुमार के उपन्यासों पर
  डॉ. धनंजय वर्मा और महेश दर्पण

- तथा अन्य सामग्री

साहित्य, संस्कृति और कला का समग्र मासिक

कथादेश

वर्ष : 27 पुनर्प्रकाशन वर्ष : 11 अंक : 9 नवम्बर 2007

कुल पृष्ठ संख्या **112 + 4**

आवरण सहित समस्त चित्र : **नवीन सागर**

इस अंक के अतिथि सम्पादक
रामकुमार तिवारी

सम्पादक
हरिनारायण

उप सम्पादक
श्रीधरम

कानूनी सलाहकार
मनीष पाठक

प्रचार/प्रसार
मुदित

रूप-सज्जा/शब्द-संयोजन
सन्तोष कुमार
लक्ष्मी कश्यप

कार्यालय सहायक
विनोद कुमार मीणा

सम्पादकीय कार्यालय

सहयात्रा प्रकाशन प्रा.लि.
सी-52/जेड-3 दिलशाद गार्डन,
दिल्ली-110095 फोन : 22570252

E mail :
kathadeshsahyatra@hotmail.com
kathadesh@gmail.com

शाखा कार्यालय
वसुन्धरा प्रकाशन प्रा.लि.
602 गेटवे प्लाजा, हीरानन्दानी
गार्डेन्स, पवई, मुम्बई-400076

नरेन्द्र मौर्य
डी-2 विंडसर एस्टेट, कोलार रोड,
भोपाल (म.प्र.)

एक अंक का मूल्य 20/-
मूल्य वार्षिक
(व्यक्तिगत) : 200/-
मूल्य वार्षिक
(संस्था तथा लाइब्रेरी) : 250/-
आजीवन सदस्यता
(व्यक्तिगत) : 3000/-
(संस्थागत) : 4000/-
वार्षिक (विदेश) : 50 डॉलर

सारे भुगतान चैक या बैंक ड्राफ्ट **सहयात्रा प्रकाशन प्रा.लि.** के नाम से किये जायें.

1000 रु. से कम के बाहर के चैक स्वीकार नहीं होंगे.

कथादेश और सहयात्रा प्रकाशन प्रा.लि. से सम्बन्धित सभी विवाद केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन ही होंगे.

मुद्रक, प्रकाशक, सम्पादक हरिनारायण द्वारा सहयात्रा प्रकाशन प्रा.लि., सी-52/ जेड-3 दिलशाद गार्डन, दिल्ली-95 के लिए स्वास्तिक आफसेट, एम-120, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित.

◆ अनुगूँज ◆

यात्रा-वृतान्त की व्यथा अनन्त

शम्भुनाथ के यात्रा वृतान्त 'पाणिनि के देश में' से लेखक की विद्वता का लोहा मान लेने के अलावा हम निष्क्रिय/पैसिव पाठकों के पास और कोई सम्मानजनक विकल्प ही नहीं रह जाता.

वृत्तान्तकार बड़ी आसानी से अपनी लेखनी के तीक्ष्ण वार से एक ही साँस में चंगेज खाँ और तैमूर लंग को 'लुटेरे' निरूपित कर गये. हमारी जानकारी आज तक यही थी कि चंगेज खाँ ने मध्ययुग में आपस में लड़ते मंगोल कबीलों को अपनी झंझावती युद्ध शैली का कायल भी किया. चंगेज खाँ द्वारा प्रयुक्त सैन्य-संगठन और सैन्य विन्यास की दाशमिक संयोजन प्रणाली 21वीं सदी के अत्याधुनिक फौजों के संगठन का आज तक आधार है. 'ऑपरेशन फ्रीडम' के निर्विकार सर्जक 'जेनरलीसिमो बुश' भी इसके अपवाद नहीं. चंगेज के वंशज कुब्लाई और



तैमूर के वंशज बाबर ने क्रमशः चीन और भारत में ऐसे साम्राज्यों की नींव रखी जिनकी समृद्धि और सम्पन्नता ने पौर्वात्य का झंडा तब की समूची दुनिया में बुलन्द किया. तैमूर की सन्तान मुगलों के दौर में ही भारत को 'सोने की चिड़िया' का विशेषण मिला. इन दो महान विभूतियों को लुटेरे कहकर विद्वान लेखक ने अपनी औपनिवेशिक मनोवृत्ति ही उजागर की है. चंगेज और तैमूर लुटेरे और बुश मुक्तिदाता प्रजातन्त्र/जनतन्त्र प्रदाता!

शम्भुनाथ जी जानते होंगे कि 'तालिबान' विद्यार्थी का पर्यायवाची है, ऐसा नहीं लगता. तालिबान शासन के दौर की तमाम ज्यादतियों से वे खासे नाराज हैं, पर धार्मिक कट्टरता के अतिरेक का पर्याय बन अफगानिस्तान को अन्धे युग में ले जाने वाले इस संगठन के जनक कौन हैं, इस प्रश्न पर वे मौन हैं. या कहीं ऐसा तो नहीं कि असुविधाजनक जानकर इस सवाल से कन्नी काट जाते हैं. उनको मिले हथियारों के स्रोत के बारे में एक सादा सा सवाल भी विद्वान यात्री शम्भूनाथ के मन में नहीं उठता है. अगर ऐसे असुविधाजनक सवाल वे उठाते तो बेशक स्पांसर नाराज हो जाते. पर अपनी प्रगतिशीलता और उदारतावाद का सिक्का जमाने के लिए यत्र-तत्र पहाड़ी अंचल में गरीब शरणार्थियों के मिट्टी के मकान और सन् दो हजार एक में अमेरिकी बमबारी पर मगरमच्छ के आँसू जरूर बहा लेते हैं.

अफगानिस्तान पर अमेरिकी कब्जे को निःसंकोच पश्चिम द्वारा उगली गयी बात की जुगाली करते हुए सभ्यताओं का संघर्ष मान लेने का रास्ता अपनाकर वे पाठकों को क्या परोसना चाहते हैं? दुनियाभर में, हर युद्ध में, आततायी फौजों ने दूर-दराज के इलाकों में अकसर एकमात्र पक्की इमारत के तौर पर उपलब्ध स्कूल भवनों का बैरकों की तरह इस्तेमाल किया है. कर रहे हैं (भारत की नाभि बस्तर में भी) आक्रांताओं पर हमलों के दौरान उनके ये कैम्प या बैरक भी ध्वस्त होते हैं. सन्दर्भ की इस अहम कड़ी को छोड़ देने पर नक्सली भी स्कूलों के विध्वंसक मान लिये जा सकते हैं. लेखक की इस ईमानदारी का कायल हुए बगैर न रह सका कि करजई शासन को उन्होंने अफीम खेती/व्यवसाय में रिकार्ड वृद्धि का काल माना है. सारी दुनिया जानती है कि करजई किनकी कठपुतली हैं. तो अफीम उत्पादन में इस इजाफे से उनके असली आकाओं को कैसे मुक्त किया जा सकता है. अफीम की बात चली तो इतिहास में चले गये.

शम्भु जी! चीन का विकास अफीम की खेती बन्द करने से हुआ या भारतीय एजेंटों (टाटा घराना सहित) की मदद से अँग्रेजों द्वारा चीन में की जा रही अफीम बिक्री पर पाबन्दी के कारण अँग्रेजों ने उस पर युद्ध थोपा, गुलामी लादी? क्या कथादेश के पाठकों को फिर से इतिहास पढ़ना होगा? चीन की तरक्की सर्वहारा कृषक क्रान्ति और समाजवाद के चलते हुई, वहाँ के वर्तमान पूँजीपरस्त शासक भी इस तथ्य से इनकार नहीं करते.

इतिहास की और भी नयी खोजों से विद्वान लेखक हमारे क्षुद्र दिमागों पर बमबारी करते हैं. शायद यह उनकी लेखकीय 'आपरेशन फ्रीडम' की ही शैली है. उन्हें पढ़कर हमारा ज्ञानोदय होता है कि अमेरिका दुनिया का सबसे पुराना लोकतन्त्र है कुषाण-कनिष्क के मध्य एशियाई होने की जानकारी तो थी, अफगान होने की नहीं.

वनस्पति शास्त्र का भी पुनरध्ययन तब जरूरी हो जाता है जब 'बड़ा' होते-होते तरबूजा खरबूजे के आकार का हो जाता है? उनकी सेवा में उपस्थित बेशकीमती गाड़ी के इस तरह बिगड़ जाने पर हम केवल सहानुभूति ही व्यक्त कर सकते हैं, खासकर जब वह छह मीटर लम्बी सुरंग से होकर गुजरी हो.

'आजादी' और 'जनतन्त्र एवं विकास' के बीच पैदा विरोधाभास से व्यथित विद्वान किस चीज को भुनाने पंजशीर घाटी के नदी किनारे पिकनिक मना आये? उनके इस सदप्रयास से हिन्दी की सेवा हो या न हो, आक्रान्ताओं का पक्ष बेशक मजबूत होगा (जिस अमेरिकी दया और उपभोक्ता संस्कृति का उल्लेख लेख करते हैं, प्रकारान्तर से उनकी जड़ें ही मजबूत होंगी.)

जहाँ तक याद है, आज तक यही पढ़ता जानता आया कि पाणिनि पेशावर के पास किसी गाँव से सम्बन्धित थे. अब लगता है इसमें भी रिविजन करना पड़ेगा. उन्हें काबुल का मानना पड़ेगा.

अन्त में, जिस तरह किसी भी प्रान्त की जनभाषा न होकर भी संस्कृत मध्य युग में राजभाषा/साहित्य की भाषा बनी इठलाती रही, आज हिन्दी का भी कुछ-कुछ वैसा ही हाल है.

● गणेश सत्यार्थी, पटना

प्रस्तुतीकरण में नयापन बरतें

'कथादेश' का अक्तूबर' 07 अंक 'एक और चेहरा' लम्बी उबाऊ कहानी है और अर्थहीन. कथादेश जैसी पत्रिका में स्थान मिलने का कारण?

कादर अब्दुला की 'चीलें' बहुत ही अच्छी कहानी है. कहानी का मूल मन्त्र है—तानाशाह के खिलाफ न कुरान काम आ सकता है न गीता, न प्रवचन. तानाशाह को हटाने के लिए सामूहिक शक्ति और विद्रोह की आवश्यकता है. काश! हिन्दी में ऐसी उत्तम कहानियाँ लिखी जातीं. 'विरोध' तो कहानी है ही नहीं—केवल संस्मरण है. अकील कैस की 'खबीस' उच्चतम स्तर की बहुत 'बोल्ड' कहानी है. उर्दू के अन्य लेखक यदि ऐसी यथार्थवादी बेबाक कहानियाँ लिख पाते तो बड़ा कल्याण होता. कविताएँ तो अब पढ़ता नहीं—क्षोभ होता है और वैश्वीकरण पर निबन्ध और विमर्श भी पढ़ना छोड़ दिया है. हर पत्रिका के हर अंक में वही घिसी पिटी बातें दुहराई जाती हैं. न जाने क्यों सम्पादकों को ऊब नहीं आती.

केवल एक ही बात कहूँगा कि मिश्र जी को ग्लोबलाइजेशन के आर्थिक पहलुओं भारत के उद्योगपतियों, तकनीकी कर्मियों के योगदान और उपलब्धि का कुछ भी ज्ञान नहीं है—अधकचरी जानकारी पर दावे के साथ कृपया-न लिखें. और साथ ही अँग्रेजी का रोना अब छोड़ें—कुछ भी हासिल नहीं होने वाला. वैश्वीकरण के कई सारे आयाम हैं, नुकसान और फायदे हैं और इसे केवल भावुक दृष्टि से ही नहीं विश्लेषित किया जा सकता. नहीं है और न कोई ध्यान देने वाला. हिन्दी में अच्छा साहित्य लिखें—बस. उदाहरण स्वरूप—इसी अंक में पाकिस्तान के मंशा याद की मार्मिक कहानी 'तमाशा' देखें. ऐसी गहरी सोच और लाजवाब शिल्प की कहानी भला हिन्दी में कहीं भी नजर आती है? शुक्र है कथादेश की ऐसी उच्चस्तरीय कहानियाँ पढ़ने को मिलीं.

● **डॉ. प्रमोद कुमार सिंह, पटना**

रचना अच्छी लगी

'चक्र' कहानी मानवीय सरोकार और मासूम नैतिकता से लबरेज है. सन्तोष दीक्षित को बधाई. पाणिनि के देश में हिन्दी के लिए माहौल बनाते शम्भुनाथ का यात्रा वृतान्त अफगानी वस्तुस्थिति से दो-चार करवाता है.

दलित प्रश्न में सपही गाँव के हरवाहों से नेहरू तक की दलित प्रक्रिया बजरंग बिहारी की शब्दों की पड़ताल के माध्यम से दलित विमर्श की पुरानी बन्द खिड़की खोलने जैसा है. लेखक इस कॉलम से हमें दलित समाज के अनछुए सवालों से रूबरू करवाते हैं. मैं कथादेश पढ़ने की शुरुआत दलित प्रश्न से करता हूँ.

● **रमेश चंद मीणा, बूँदी**

स्त्री-प्रश्न पर सार्थक बहस

'कथादेश' का सितम्बर अंक समय पर प्राप्त होने हेतु आपको धन्यवाद. सुधा अरोड़ा के स्तम्भ 'औरत की दुनिया' के माध्यम से आपने बहुत सार्थक बहस छेड़ी है. आशा है यह बहस 'आधी दुनिया' की बन्द गुफाओं के उन द्वारों को खोलेगी जो कारण-अकारण अब तक बन्द थे.

इस अंक में सन्तोष दीक्षित की कहानी 'चक्र' ने विशेष प्रभावित किया. शम्भुनाथ के यात्रा वृतान्त तथा अनिल चमड़िया के मीडिया- आलेख ने भी प्रभावित किया.

अस्तु एक रोचक अंक हेतु बधाई.

● **महेश प्रजापति, राजस्थान**

अपने घाव पर उड़ती मक्खियों की-सी भिन-भिन नहीं
जो सहा और जाना उसके भीतर से
आती मेरी आवाज
कुछ ऐसे होते मेरे शब्द
में जब उनके अर्थ की कौंध में
एक क्षण-सा गुजर जाता अकस्मात

—नवीन सागर

एक ऐसे समय में जहाँ शब्द सत्ता स्वयं संदिग्ध हो गयी हो, कवि- कथाकार-चित्रकार नवीन सागर ने अपने जीवन में शब्दों के लिए जो भाषा तप किया वह दुर्लभ है. उनका शब्द सैद्धान्तिकी कोष या भावुक सद् इच्छा लिये आभासी मुद्रा का शब्द नहीं है. वह जीवन की परीक्षा से गुजरा जीवन्त शब्द है, जिसकी धड़कन हमें सहज सुनायी देती है.

यह हमारे समय की नियति है कि जो उसकी शर्त नहीं मानेगा, अकेला रह जायेगा. जिसे बहुत अराजनीतिक स्वर में कहूँ तो बचेगा या बच पायेगा.

नवीन सागर के यहाँ रचने के लिए बचना कवि श्रीकान्त वर्मा के यहाँ रचने के लिए न बचने के ठीक उलट है. शायद ज्यादा क्रूर समय में, ज्यादा त्रासद साहस के साथ, बिना किसी अतिरिक्त उपस्थिति की चाह के.

बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि हिन्दी के इस सम्भव मास्टर का रचा कुछ इस तरह प्रकाशित होकर सामने आये कि विपुल हिन्दी भाषाई संसार के पाठकों का सीधा साझा हो सके. नवीन सागर आज अगर होते तो इस नवम्बर को हम उनका 59वाँ जन्मदिन मनाते. उनकी अनुपस्थिति में उन पर एकाग्र *कथादेश* का यह अंक प्रस्तुत करते हुए हम उन्हें याद कर रहे हैं.

नवीन सागर की कहानियों में किस्सागोई, फन्तासी और यथार्थ के रूपान्तरण की गति का वह आधुनिक रचाव, जिसे तीस वर्ष पहले गाँवों में घुस रहे सेना के ट्रकों को देख लेने (कहानी— किसी भी शक्ल) की भविष्य दृष्टि ने गढ़ा है; से आत्मीय रिश्ता बने.

मूँछें, मोर, पत्थर, घोड़े का नाम घोड़ा, लौटा तो कहीं नहीं, तीसमारखाँ, अँधेरा प्रहसन, घर जैसी कहानियों की जो रचनात्मक रेंज नवीन सागर के यहाँ है, उससे गुजरते हुए बार-बार लगता है कि हिन्दी कहानी के दृश्य में इस कहानीकार के लिए थोड़ी सी जगह होनी ही चाहिए.

इस अंक में नवीन सागर की कहानियों पर प्रसिद्ध समालोचक कमला प्रसाद, कहानीकार मुकेश वर्मा और बहुप्रतिभा की धनी शम्पा शाह के आलेख शामिल किये गये हैं. घोर संकोच के बाद भी अपनी राय रखने का मोह सम्वरण नहीं कर पा रहा हूँ कि शम्पा शाह का आलेख हिन्दी कहानी की व्यवहारिक आलोचना को विस्तार ही नहीं, विश्लेषण दृष्टि से भी सम्पन्न करेगा.

इस अंक में कवि नवीन सागर की कुछ कविताएँ भी हम प्रकाशित कर रहे हैं. यहाँ हमने नवीन सागर की उन कविताओं का चयन किया है, जिनसे उनकी कविता के विस्तृत संसार को जानने समझने में थोड़ी मदद मिल सके और सुधी पाठक भी स्वयं यह प्रश्न कर सकें कि इस पाये का कवि कहाँ और क्यों अलक्षित रह गया?

यह मेरे लिए सन्तोष का विषय है कि मेरे अनुरोध पर कवि-समालोचक प्रभात त्रिपाठी, रमेशचन्द्र शाह और विष्णु खरे ने महत्वपूर्ण लेख लिखे हैं. उनसे अनुरोध करते समय मैंने बार-बार कहा था कि अब आपको नयी कविता के पुनर्वास के लिए आगे आना चाहिए. कहीं न कहीं वह भी विस्थापितों की तरह भटक रही है. उसे अपनी जमीन ही नहीं, अपने स्वर भी चाहिए.

नवीन सागर के चित्रकार को देखना अपने आपमें दिलचस्प अनुभव है. इस अंक में हम उनकी कुछ पेंटिंग व रेखांकन और उनके चित्रों पर प्रसिद्ध कला समीक्षक-कवि प्रयाग शुक्ल का लेख प्रकाशित कर रहे हैं.

नवीन सागर की याद हम सभी के दिलों में इस तरह धड़कती है कि वह हमारी स्मृति का हिस्सा नहीं लगता. अपनी पूरी स्वाभाविकता के साथ वह कुछ इस तरह उपस्थित हैं, जिसे अभी मुड़कर देखा जा सकता है. इस अंक का एक हिस्सा नवीन सागर के जीवन और रचे पर केन्द्रित है, जिसमें मंगलेश डबराल, उदय प्रकाश, विष्णु नागर, ज्योत्स्ना मिलन, राजकुमार केसवानी, लीलाधर मंडलोई, रमेशदत्त दुबे, रघु ठाकुर, संजय चतुर्वेदी, अनिरुद्ध उमट और समता सागर के संस्मरण शामिल किये गये हैं. साथ ही नवीन सागर पर नरेन्द्र जैन, विनोद श्रीवास्तव, अनिरुद्ध सागर और मेरी कविताएँ भी इसी खंड में प्रकाशित की जा रही हैं.

हिन्दी में प्रेम पत्रों का अकाल है. शम्पा शाह ने बड़े आग्रह से छाया सागर से कुछ प्रेम पत्र इस अंक के लिए उपलब्ध कराये. उन्हें यहाँ प्रकाशित करते हुए एक ऐसे मनुष्य का भराव महसूस हो रहा है, जिसके पहले और अन्तिम पाठ में प्रेम और केवल प्रेम है. भले ही जीवन की जटिलताएँ चाहे जैसी भी हों.

इसी अंक में आत्मीय जनों को लिखे पत्रों को प्रकाशित करते हुए यह अनुभव हो रहा है कि हम मनुष्य को कितना भी जानने के बाद, कितना कम जान पाते हैं. उनके एक पत्र पर अशोक अग्रवाल की टिप्पणी भी यहाँ प्रकाशित की जा रही है.

अंक निकालने से पहले यह लग रहा था कि कैसे और क्या-क्या सामग्री होगी लेकिन अंक पूरा होने के बाद लग रहा है कि अभी कितना कुछ शेष है.

बेहद औपचारिक होकर कह रहा हूँ कि नवीन सागर के आत्मीय जनों के बीच धन्यवाद ज्ञापन के लिए कोई जगह नहीं है. इसलिए कैसे कह सकता हूँ आभार...आभार! हाँ, सिर्फ कृतज्ञता ज्ञापित कर सकते हैं, समय की इस तासीर में कथादेश का, कथादेश के सम्पादक भाई हरिनारायण का, जिनकी वजह से बरसों की साझा इच्छा मूर्त हुई और हम कृतघ्नता के उस अपराधबोध से कुछ निर्भार भी हुए, जो जाने-अनजाने हिन्दी के दृश्य में होती है, हो जाती है, जिसे नहीं होना चाहिए.

—अतिथि सम्पादक

◆ संस्मरण ◆

होने का धोखा : नवीन सागर

●

ज्योत्स्ना मिलन

नींद का आह्वान उसने किया अवश्य था—
नींद,
सपनों की महासृष्टि
लहर सी आये
डुबा ले—

यानी सपनों की महासृष्टि से कम कुछ जिसे कुबूल न हो, एक स्वप्न-विहीन नींद तो कम से कम उसकी कामना नहीं हो सकती थी. नवीन सागर की नींद यों भी इतनी संक्षिप्त थी कि रात हमेशा उसकी नींद से लम्बी ही होती और जितने सपने वह देखना चाहता उनके लिए उसकी बित्ते भर नींद सदा कम पड़ जाती. इसलिए अपने दिनों को, अपनी जागृति को भी वह सपनों की महासृष्टि की तरह बरतता. मेरे, तुम्हारे, इसके, उसके यानी जिस किसी का दोस्त वह बन जाये उन सबके सपने भी उसके सपनों में जुड़ते जाते.

ऐसे किसी दोस्त की तलाश किसे नहीं होती! लिहाजा यह कि जिस किसी के सम्पर्क में वह आता वह उसकी दोस्त या उसका दोस्त अकसर बन जाता. दोस्त का दोस्त और उसका भी दोस्त वह हो सकता था. यात्राएँ वह कम करता मगर जब भी करता अपने सहयात्रियों के साथ हमेशा के लिए छूट जाता. ऐसा व्यक्ति भी भोपाल शहर में आता तो नवीन सागर की तलाश जरूर करता.

घर उसका छोटा हो या बड़ा इससे शायद ही कोई फर्क पड़ता. अपना या सरकारी घर चूँकि नहीं था उसके पास, घर बदलते रहना उसकी नियति थी, आज इस मुहल्ले में कुछ साल बाद दूसरे किसी मुहल्ले में, फिर किसी तीसरे में. उससे मिलना जब हुआ तब वह लगभग हमारे मुहल्ले में था. बीच के वर्षों में कई दूर के मोहल्लों में रह आया और आखिर में फिर उसी मुहल्ले में लौट आया. हर बार घर उसे



प्रख्यात साहित्यकार रमेशचन्द्र शाह के साथ नवीन सागर

कई आकार-प्रकार के छोटे-बड़े, ऊपर-नीचे के मिले लेकिन इससे कभी कोई फर्क नहीं पड़ा. उसे हमेशा लगता था कि घर में बहुत सारे लोग हों 'कोई इते लोट रऔ, कोई उते लोट रऔ' वाला दृश्य घर में अकसर उपस्थित हुआ रहे कि दृश्य में कोई दाढ़ी बनाता हुआ, कोई नहाता हुआ, कोई खाता हुआ, कोई सोता हुआ, कोई हँसता हुआ, कोई टी.वी. देखता हुआ या कोई कुछ भी यानी कुछ भी करता हुआ हो सकता था. अपने घर का यह दृश्य उसका प्रिय दृश्य हुआ करता था.

उसे जैसे ही पता चलता कि सागर से चिरगाँव से या चंडीगढ़ से या दिल्ली से या रायपुर से अमुक-अमुक मित्र आये हैं उसके शहर में और अमुक-अमुक होटल में ठहरे हैं तो हाथ के सारे काम किनारे कर, इस बात का बुरा मनाता हुआ—कि शहर में उसके घर के होते हुए उसका या उसके कोई मित्र होटल में कैसे ठहर सकते हैं—उस होटल में पहुँच जायेगा जहाँ उसके मित्र को अपने घर ले आने में कामयाब हो जाने पर उसे अद्भुत खुशी होती जैसे संसार की बड़ी भारी नेमत उसके हाथ लग गयी हो. उसके पूरे परिवार का भरपूर प्रयत्न होता कि आनेवाला मित्र उसके घर में अपने घर में रह रहे होने की तरह रहे. फिर भी मित्र अगर संकोच से घर में रहता तो वह उदास हो जाता और इसके लिए अपने को ही जिम्मेदार मानता. किसी मित्र की बहन या दीदी उसी शहर में रह रही होती और वह अगर यह पूछ लेता कि 'काये नवीन, हम जिज्जी के हो आयें.' तो इसका मतलब उसके लिए यह होता कि उन्हें उसके घर में अच्छा नहीं लग रहा है.

अगर कभी ऐसा हो जाये कि उसके किसी मित्र के बुलावे पर उसके घर जाने की नौबत आ जाये तो उसका रास्ता तो बड़े उत्साह के साथ कट जाता और मित्र के घर के दरवाजे पर अपने अन्य मित्रों के साथ मय सामान के पहुँच भी जाता. सारे सामान को दरवाजे के सामने रिक्शे से उतारकर रखने के बाद उसे देखकर, उस सबको लिये-लिये घर में दाखिल होना उसे एक असम्भव कार्य लगता.

राजस्थान यात्रा में हम सब साथ थे. बीकानेर, जेसलमेर, जोधपुर होते हुए जयपुर पहुँचे थे और यों भी पूरे राजस्थान में कहीं भी यात्रा पर जायें, हमारे लिए बिना जयपुर गये लौटना लगभग असम्भव होता. प्रो. दयाकृष्ण, मुकुन्द लाठ और यशदेव शल्य जिस शहर में बसते हों उस शहर को बरकाकर आप राजस्थान जाकर लौट कैसे सकते हैं! तिस पर जयपुर शहर में शल्यजी का घर हो तो आप किसी और घर में ठहरना तो दूर, ठहरने की सोच भी कैसे सकते हैं? एकदम न सही फिर भी लगभग नवीन सागर वाला हिसाब था, कम से कम हमारे सन्दर्भ में.

लिहाजा मैं, रमेश, नवीन, टीकू और कक्कू शल्यजी के दरवाजे पहुँचे. कितना भी कम हो आठ-दस दिन से राजस्थान में घूम रहे पाँच लोगों का सामान कुछ न कुछ तो होना ही था. उसे एक साथ इकट्ठा इस तरह दरवाजे के सामने पड़ा देखकर हम भी संकुचित थे फिर भी घंटी बजाकर सामान

से कुछ दूर इस तरह खड़े थे जैसे उससे हमारा कोई लेना-देना न हो.

शल्यजी के घर का वह दरवाजा मेरी याददाश्त में लगभग सारा दिन खुला रहता था. उस खुले दरवाजे से बाहर आकर उन्होंने जोरदार स्वागत किया—'अरे वाह वाह आइये' कहते हुए उन्होंने अपने दोनों हाथ ऐसे फैलाये कि हम सब के सब एक साथ उनमें समा जायें. और इसी के साथ उन्होंने बेटे कमलनयन को आवाज दी कि सामान कमरे में पहुँचवा दो. उन्होंने आकर नमस्कार के उपरान्त सामान दो-दो, तीन-तीन करके भीतर पहुँचा दिया.

थोड़ी देर बाद किसी वजह से शल्यजी दरवाजे तक गये तो देखा कि अभी भी कुछ सामान लावारिस सा बाहर ही पड़ा हुआ था. उन्होंने फिर कमलनयन को आवाज दी 'भई कमल ये सामान अभी तक यहीं पड़ा हुआ है!' दरवाजे पर प्रकट होकर कमलनयन चकित से सामान को गौर से निहारने लगे कि यह तो वही सामान है जिसे अभी-अभी उन्होंने कमरे के हवाले किया था! ये फिर बाहर किस चमत्कार से पहुँचा होगा. बहरहाल वे फिर सामान को भीतर कमरे की ओर ले चले.

नवीन के अतिसंकुचित होकर अपने सामान को किसी होटल में चले जाने के इरादे से बाहर निकाल लाने की सजा, कमलनयन को दुबारा सामान भीतर ले जाने के रूप में भुगतनी पड़ी. अब मेरा मारे हँसी के बुरा हाल था. शल्यजी के घर में एक बार दाखिल हो जाने के बाद सामान को फिर बाहर निकालकर कहीं और मसलन होटल में जाकर ठहर जाना क्या सम्भव था? और वो भी अकेले नवीन का? दूसरी तरफ अपनी शर्म और संकोच से भी उसकी निजात अगर आसान नहीं थी तो इस तरह की किसी हरकत से उसका बचाव भी आसान नहीं था.

उसके कई सारे धर्म ऐसे थे जिनसे कोई इनकार नहीं कर सकता था. अपने सारे धर्मों को वह स्वयं ही तय करता या कभी-कभी कोई धर्म तो अचानक और अपने आप ही तय हो जाता. और मजे की बात यह कि हर आदमी के लिए उसका धर्म अलग होता. जैसे बाहर से आनेवाले अपने मित्रों का स्वागत-सत्कार तो उसका धर्म था ही, इसके अलावा बाहर से आकर शहर में रह रहे मित्रों के किसी भी तरह के संकट में उसका साझा न हो यह असम्भव था. विनोद कुमार शुक्ल निराला सृजनपीठ में रह रहे हों, बीमार हों, तो बेन बहादुर (केयर टेकर) के बावजूद उनके लिए परहेजी खाना पहुँचाना उसके अलावा किसी दूसरे का धर्म कैसे हो सकता था? बहुत बीमार होकर शहर में आयी तेजी ग्रोवर के लिए उबला खाना उसे छोड़ कौन सुलभ करा सकता था?

शहर में ही बसनेवाले नवल शुक्ल जैसे मित्र के घर जचकी का मौका हो तो अस्पताल उनके लिए खाना नवीन न पहुँचाएँ ऐसा कैसे हो सकता था? यहाँ तक कि शहर में अपने कामकाज से हाथ धो बैठे किसी परिचित के लिए उत्पन्न रोटी के संकट का पता चलने पर जेब से पूरी तनख्वाह निकालकर सम्बन्धित व्यक्ति के हाथ में चुपचाप सरका देना उसका सहज स्वभाव था. कई बार तो ऐसी बातों का पता भी न चलता. चल जाने पर टोक देती, 'महीने भर अब घर कैसे चलेगा नवीन?' तो उसका जवाब होता 'मुझसे ज्यादा पैसे की जरूरत इस वक्त उस आदमी को है ज्योत्स्नाजी'. इसके आगे मौन ही एकमात्र जवाब हो सकता था.

और हमारा तो क्या था जो उसके बिना हुआ हो? घर में हम चार लोग थे. चारों का दावा था कि वह उसका दोस्त था, इसलिए हर का काम, हर की समस्या, हर की तकलीफ, हर की खुशी हर का सपना उसका होता. इसलिए हर के कुछ में उसका साझा होता. टीकू की सिरामिक भट्ठी लग रही हो, वह शहर में हो, स्वस्थ हो और वहाँ उपस्थित न हो यह नहीं हो सकता था. इसी तरह कक्कू की डॉयलाग फिल्म बन रही हो, उसे बुलाया हो, वह अस्वस्थ हो तब भी उसे जाने से रोकना असम्भव होगा. मौका त्यौहार का हो, बीमारी का हो, घूमने-फिरने का हो वह शामिल न हो तब तक कुछ भी हुआ जैसा न होता. टीकू पूना जा रही हो, रात-दिन के काम का अंदेशा हो तो अमूमन सुबह-सुबह न आनेवाला वह अंजीर के पैकेट को झुलाता हुआ सबेरे हीं हड़बड़ाया सा पहुँच जा सकता था. 'क्यों रे ये क्या है'/ मेरे टोक देने पर उसका जवाब होता—'दरअसल आदमी के कुछ धर्म होते हैं और उनका पालन उसे करना ही पड़ता है. दिन-रात मेहनत करनी पड़ेगी लड़कियों को.. इससे इनका पेट गड़बड़ाया रहेगा और फिर होगा वही सरदर्द. सुबह शाम दो-दो अंजीर भिगोकर खा लिया करेंगी और एकदम ठीक रहेंगी.' मैं चकित सोचती रह जाती कि जो धर्म मुझे न सूझता वह उसे कैसे सूझ जाता था!

समय का हिसाब भी मेरी तरह एकदम ही गड़बड़ था. फर्क यही था कि उसने टाइम-मशीन की अलामात कभी पाली ही नहीं और मैं सारे समय उसे हाथ पर बाँधे रहने के बावजूद शायद ही कभी उस पर नजर डालने की जेहमत उठाती. घड़ी पर नजर चाहे डालूँ चाहे न डालूँ मेरा समय किसी सूरत में उसकी तरह बेहिसाब नहीं हो सकता था. दोस्तों के साथ बैठे हैं तो बैठे हैं सुबह से शाम से दूसरी सुबह तक.

किसी भी दोस्त के साथ, कहीं के भी लिए, कभी भी निकल पड़ने को तैयार होता. चाहे निकलना घर से हो चाहे दफ्तर से. यात्रा करने को जल्दी तैयार न होता. शहर के शहर में या शहर से कुछ मील की दूरी तक जिसे उसके स्कूटर पर आसानी से तय किया जा सके, वह जाने को कभी भी तैयार हो जा सकता था. वह समय को और अपने को सदा असीम की तरह बरतता. दिन इतने कम थे उसके पास, इसका पता भी उसे शायद ही रहा हो. परिचय का उसका दायरा इतना बड़ा था कि जिस व्यक्ति से उसे मिलाया जाता वह पहले से ही उसका परिचित निकल जाता. उसके जीवन में इतने सारे लोग थे कि उतने कम दिनों में से बहुत कम ही हर के हिस्से में आ सकते थे. किसी-किसी के साथ बीता एक दिन भी जीवन भर उसके साथ बने रहने के लिए पर्याप्त से अधिक होता और कुछ लोगों से रोज-रोज मिलना भी कम पड़ जाता. जितनी देर जिस किसी के साथ होता, इतना अधिक होता कि हर बार पूरा का पूरा यानी पाई-पाई खर्च हो जाता, फिर भी पूरा का पूरा बचा रहता दूसरे मित्रों के लिए. जिस तरह, या जिस अर्थ में वह पुरुषों का मित्र होता उसी तरह, उसी सहजता से स्त्रियों का मित्र भी होता. कितनी स्त्रियाँ थीं—नाते-रिश्ते से लगाकर

दोस्त तक जिन्होंने उसें अपने विश्वस्त एकान्त की तरह बरता और वह हर बार खरा उतरा. एक दोस्त की तरह उसने उनका साथ दिया. करिश्मा यह कि नवीन के साथ होने पर स्त्रियों की पुरुष के साथ होने की चेतना अकसर लुप्त हो जाती. यही वजह थी कि उनकी समय की चेतना भी विलुप्त हो जाती और वे किसी भी समय उसके साथ हो सकती थीं, यानी समय आधी रात का भी हो सकता था.

साहित्य के और विभिन्न क्षेत्रों के मित्रों के अलावा जिन दिनों वह समाजवादी पार्टी का सक्रिय सदस्य था उन दिनों शहर भोपाल में आनेवाले पार्टी के साथी और नेता नवीन के घर खाना न खायें, यह सम्भव हो सकता था. वे अभी उसके भोपाल निवास के शुरुआती दिन थे. छोटा सा घर था दो कमरों का. कमरे तो फिर भी गनीमत थे उनके मुकाबले रसोई तो मानो चुल्लू-भर ही थी. तिस पर बारिश के दिनों में नाली का पानी उफनकर बाहर जाने के बदले रसोई में चला आता. मित्रों का और पार्टी के साथियों का आना तो किसी भी मौसम में हो सकता था. सो वे उस बारिश में उसके यहाँ जमे थे और बहस में जुटे थे. इसलिए उस बड़े वाले कमरे में उड़ती सी नजर डालते हुए मैं सीधे रसोई में छाया के पास पहुँच गयी थी, कि आ गयी हूँ तो कम से कम उससे मिलकर निकलूँ. नयी-नयी नौकरी थी, छोटी सी नौकरी. बरतन भी छोटे-छोटे और गिने-चुने, तीन-चार लोगों के लिए खाने-पकाने लायक. और उस समय वहाँ जमा खानेवाले मेहमान पन्द्रह-बीस से कम न थे. पार्टी के साथियों से मिलने तो कोई भी कभी भी चला आ सकता था, इसलिए दो-चार और लोगों के आ जुटने की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता था. अब इतने लोगों के लिए खाना बने तो कैसे बने! वह घर नवीन का था इसलिए खाना जैसे भी बने बनना तो था ही. जिन डब्बों में दाल-चावल भरके रखे रहते थे उनको झोलों में उलटकर खूँटियों पर टाँग दिया गया था. उन डब्बों की क्षमता भी अधिक नहीं थी फिर भी उन्हीं में पक रहे थे दाल-चावल. उन दिनों अभी उसके यहाँ गैस या कुकर जैसी चीजों का सपना देखने लायक गुंजाइश भी नहीं थी.

◆ संस्मरण ◆

नवीन होने का अर्थ

•

रघु ठाकुर
(प्रसिद्ध समाजवानी नेता)

नवीन से मेरे रिश्ते लगभग 31 वर्ष या इससे कुछ अधिक समय के थे. उस जमाने के सागर विश्वविद्यालय के भूगर्भ शास्त्र के छात्र के रूप में, फिर संयुक्त समाजवादी पार्टी की युवा शाखा, युवजन सभा के रूप में नवीन मेरे सम्पर्क में आये थे तथा धीरे-धीरे हम एक परिवार बन गये. नवीन ने मेरे साथ प्रदर्शनों में भाग लिया, मेरे साथ पुलिस की लाठियाँ भी खायीं, मेरे साथ सत्याग्रहों में जेल भी काटी और मुझे पुलिस की लाठियों से बचाने के लिए पुलिस पर पत्थर भी चलाये. मित्रता या परिचय के आरम्भ से अन्त तक, हमारी एक-दूसरे से शिकायतें रहीं, परन्तु रिश्ते, निष्ठा व विश्वास में कभी कोई कमी नहीं आयी. मुझे उसकी जीवनशैली नापसन्द थी. उसे मेरा अनुशासन, सख्ती व तानाशाही जैसा था. फिर भी हम लोगों ने, सामंजस्य व साथ जीने का तरीका निकाल लिया था. नवीन अपने जीवन जीने के तरीकों में सचमुच नवीन था. उसे बीते कल का कोई पश्चाताप नहीं था, उसे आने वाले कल की चिन्ता नहीं थी. वह तो केवल आज में ही जीना पसन्द करता था. यही उसकी अच्छाई थी, यही उसकी बुराई भी, परन्तु इस वैशिष्ट्य को उसने एक क्षण को भी नहीं खोया. मृत्यु के समय मैं उसके पास नहीं था, होता तो शायद वह अपनी एक-दो त्रुटियों को सुधारने का झूठ बोलकर मुझे खुश करता व अपने बहाव में बहा ले जाने का प्रयास करता. अपनी बात को संजीदगी से रखकर विश्वसनीय बनाने की महारत नवीन को हासिल थी. अगर मृत्यु भी शायद इन्सान के रूप में, उसे मिली होती तो वह अपनी बातों से उसे कुछ दिन टाल सकता था. वह राजनीति में साहित्यकार था व साहित्य में राजनीतिज्ञ. जीवन की बड़ी-बड़ी तकलीफों को, अभावों व कष्टों को उसने हँसकर झेला, परन्तु उसके चेहरे पर कभी शिकन नहीं पड़ी. अभावों से उसकी जन्मजात दोस्ती थी, जिसमें कभी दोनों ने एक-दूसरे को नहीं छोड़ा. साहित्य के क्षेत्र में अपने आपको स्थापित करने या सुविधाओं का लाभ लेने के लिए, नवीन ने कभी पाला नहीं बदला. अपने बुनियादी विचार, अपनी शैली, अपने राग सभी को मजबूती से लेकर चला. उसने कभी कोई समझौता नहीं किया. नवीन के साहित्य का मूल्यांकन या नवीन का साहित्यिक मूल्यांकन करने के लिए मैं उपयुक्त पात्र नहीं हूँ क्योंकि मुझे वर्तमान साहित्य-संसार का ताजातरीन अनुभव कम है, फिर भी नवीन के कविता संग्रहों को मैंने पढ़ा है. उन पर पढ़कर चर्चा भी की थी. सच्चाई तो यह है कि मुझे साहित्य जगत तथा पुस्तक संसार के ताजा सन्दर्भों से अवगत कराते रहने की महत्वपूर्ण कड़ी नवीन था. नयी पुस्तकों की जानकारी भी, उन्हें पढ़ने को देना तथा कभी-कभी फुरसत में उन पर चर्चा करना—यह दायित्व नवीन के ऊपर ही रहता था. मेरे छिटपुट लिखने के प्रयासों को प्रोत्साहित व संशोधित करना—यह भूमिका मुकेश जी के अलावा नवीन की भी होती थी. नवीन की तारीफ में, लिखने को मेरे पास बहुत कुछ है भी, व नहीं भी. परन्तु निजी स्मृतियों का एक अशेष भंडार है, जो अब सहेजकर रखना है.

▣

● लोहिया सदन, भोपाल

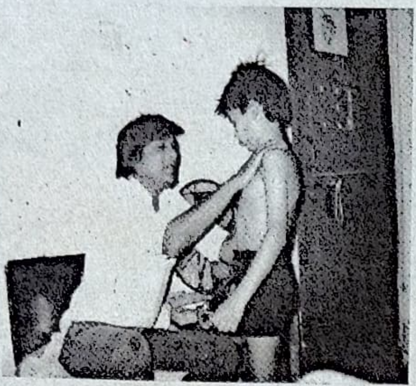
ले-देकर एक बत्तीवाला स्टोव था. उसी पर बनता था सबकुछ बारी-बारी से. खाने के बीच में कई बार चाय का भगौना भी चढ़ता रहता. दिन तो कोई से भी नहीं ठहरते, वे भी नहीं ठहरे, लेकिन उस दिन अगर मैं उसकी साक्षी न होती तो मुझे कभी पता न चलता कि कैसे चलती थी उसकी दुनिया.

नवीन के लिए सबसे असम्भव जो चीज थी वो थी हिसाब-किताब. पैसा जेब में धरते या निकालते समय उसने उन्हें गिना शायद ही कभी हो. न गिनने पर उनके बेहिसाब होने की सम्भावना बनी रह सकती थी. पर्स जैसी किसी चीज का विचार ही उसे किसी झमेले से कम न लगता. जेब में हाथ डालो तो सीधे पैसे हाथ में आने चाहिए. कभी पता चलता निकालते धरते कुछ सौ रुपये कहीं गिर गये, किसी साथी या दोस्त के साथ डॉक्टर के यहाँ गया था, डॉक्टर की बढ़ाई पर्ची को दोस्त के हाथ तक पहुँचने से पहले इसने थाम लिया और दवाइयाँ खरीद लाया. 'बाद में ले लूँगा न पैसे' कहते हुए. पैसे पकड़ने में तो उसे छूत लगती थी. और मजे की बात यह कि ऐसा नवीन सपना हमेशा धन्धा करने का देखता था. लकड़ी की टाल खोली, साबुन बनाया, कपड़ा बेचा. धन्धा उसने चिरगाँव में किया चाहे भोपाल में कोई खास फर्क नहीं पड़ा. उसके धन्धे में आधे से अधिक खरीदार तो उसकी चान पहचान के लोग होते यानी अपने लोग और अपनों से पैसा कोई कैसे ले सकता है? तिस पर चिरगाँव तो चिर गाँव था, छोटी सी जगह. गाँव में हर कोई हर किसी को जानता था यानी गाँव भर अपना था— काका, बाबा, दादा, ताऊ, दादी, चाची, अम्मा, भाभी, दीदी इनसे पैसे कैसे लें! उसका सवाल होता. धन्धा धन्धे की जगह और नाता नाते की जगह, दो चीजों को अलग रख पाना उसके बस का कब था? हर बार वह ऐसा कुछ कहता पाया जाता—

'हम भी यहीं, तुम भी यहीं, पैसा तो मिल ही जायेगा. अभी लकड़ी तो उठवा लो' या

'अरे सुनो तो, पैसा की कौन जल्दी है, पहले साबुन वापरके तो देख लो' या

'पैसा कौन भागा जा रहा है भैये, अबे कपड़ा तो धर लो.'



ऐसे में इनमें का कोई भी धन्धा न डूबता तो ही होती अचरज की बात! और इतना ही नहीं होता था. कई-कई दिनों और रातों को खर्च करके बने चित्रों को पहले तो खरीदने कौन आता! आधे से अधिक तो चित्रों की तारीफ करनेवाले मित्रों के यहाँ पहुँच जाते बाकी बचे में से कभी कोई खरीदने पहुँच जाता तो चित्र वह तुरन्त थमा देता पैसे पकड़ने के लिए कहीं हाथ को बढ़ाना न पड़ जाये, इस डर के मारे हाथ पहले ही पैंट की जेबों में जा दुबकते और वह कहता 'फिर ले लेंगे न पैसे, अभी कौन जल्दी है.' जब कभी पैसे गिर जाते या अंट-शंट खर्च हो जाते और छाया के लिए घर चलाने का संकट उपस्थित हो जाता तो कभी-कभी मैं छाया से कहती 'ये इतने पैसे अपनी जेब में क्यों लिये रहता है.' इस पर छाया का लगभग एक ही जवाब होता 'अरे दीदी, अब क्या बताएँ,' छाया झेंपी सी हँसी के साथ जोड़ती 'इनकी जेब में पैसे न हों तो कहो ये बीमार इ पड़ जायें.' नवीन के बरक्स मुझे बापूजी (वीरेन्द्रकुमार जैन) की याद आती. 'धर्मयुग' के दिनों में दफ्तर जाते समय जीजी (माँ) रूमाल के साथ एक अठन्नी बापूजी के हाथ में पकड़ाती, उसमें से भी शाम को अकसर इकन्नी-दुअन्नी लौटकर वापस घर आ जाती. मुझे हमेशा लगता कि नवीन की जेब में जितने पैसे रहते थे उतने अगर बापूजी की जेब में रहते तो कहो वे अस्वस्थ हो जाते.

दफ्तर से उसे तनख्वाह पूरी मिलने के मौके तनख्वाह न मिलने या कम मिलने के मौकों से कम ही रहे होंगे, विशेष रूप से बाद के दिनों में. अपने भविष्य को पेशगी खर्च करने का दौर बढ़ता गया. कई दिन अस्वस्थ, कई दिन हताश कई दिन अनुपस्थित. जैसे यह सम्भव था कि जब कभी दफ्तर न जाये तो न जाये वैसे ही यह भी सम्भव था कि रात दस बजे फोन करो घर पर तो पता चले कि 'अभी तो नहीं लौटे दफ्तर से' दफ्तर का भूत जिन दिनों सवार हो जाता उन दिनों रात-दिन बस दफ्तर होता जैसे उसका न कोई घर परिवार हो, न दोस्त, न नाते-रिश्ते.

दिन अकसर दफ्तर में बीतता. जब कभी दफ्तर न जाता वे दिन, शामें और कई बार रातें भी दोस्तों में बीततीं. जितना बाहर जाता, उतना भीतर जाता रात को और फिर कविता में लौटता. अधरात जब भी लिख जाती उसकी कोई कविता 'अरे छाया सुनो तो, ये कविता तो सुन लो. सुनकर फिर सो जाना.' नींद में गुडुप छाया को वह जागती की सतह पर निकाल लाता. छाया जब तक कविताएँ उससे सुन न लेती कविताएँ उसकी पूरी न होतीं. यहाँ तक तो ठीक था लेकिन किसी रात वह मान लो अज्ञेय को पढ़ रहा हो या श्रीकान्त वर्मा को पढ़ रहा हो, रघुवीर सहाय को पढ़ रहा हो, साही को पढ़ रहा हो या शमशेर को पढ़ रहा हो और उनकी कविताओं से इस क़दर सराबोर हो जैसे वे उसी की लिखीं हों तब भी वह छाया को जगा देता, 'अरे यार छाया सुनो तो कितनी बढ़िया कविताएँ हैं' और उसे पढ़कर सुनाता. छाया को कविताएँ सुनाते हुए उसे लगता जैसे सारी दुनिया को सुना रहा हो. फिर दिनों तक उन कविताओं में मगन रहता, उन्हीं के बारे में बातें करता रहता.

उसके दोस्त थे, दफ्तर था, घर परिवार था और जिसे बहुत प्यार करता था वह पत्नी छाया थी. और ऐसे कहो तो छाया के इर्द-गिर्द दूर-दूर तक फैला था उसका माया लोक. जरा सा भी बीमार पड़ जाये और छाया उससे कहीं दूर हो तो छाया का जाप तब तक चलता जब तक वह छाया के पास या छाया उसके पास न पहुँच जाती. चिरगाँव के उसके दोस्त पप्पी के यहाँ भी इस तरह एक बार बीमार पड़ गया था और उसने वहाँ छाया के नाम की रट लगायी हुई थी. घर का सबसे छोटा सदस्य जो चार साल का बच्चा था उसने कहा 'पापा, पापा, ताऊजी कब से छाया, छाया कर रहे हैं,

आप इन पर छाता लगाकर छाया क्यों नहीं कर देते.'

हक अगर किसी पर मानने को आता तो ऐसा जैसे पप्पी पर मानता था. चिरगाँव में अपना घर होते हुए उसने हमें पप्पी के यहाँ ठहराया उसी हक से. चिरगाँव के वे दिन स्वप्नलोक की तरह भीतर कहीं ठहरे हुए हैं. वह परिवार और घर जैसा था वैसा अब बचा नहीं, हालाँकि हमारे भीतर जस का तस बचा है. पप्पी की माँ, पिता, भाई, बहनें, बहुएँ बच्चे भरा-भरा घर था. घर की छत इतनी बड़ी कि ऊपर चले जाने पर दुनिया से बाहर निकल आने का गुमान होता.

चिरगाँव जाकर नवीन के मुँह से सुने किस्सोंवाले उसकी ननिहाल (मैथिलीशरण जी का घर) के घर को देखने का लालच तो जैसे एक असम्भव लालच था. जब उस घर में गये तो लगा जैसे यह घर तो हमारा देखा-जाना घर है. दद्दाजी का कमरा, दालान, रसोई, ऊपर लायब्रेरी, नीचे चौगान और चौगान में चबूतरे वाला पेड़. सबकुछ वहीं-वहीं था जहाँ नवीन ने बताया था. कैसे घर में सब कोई दद्दाजी के इर्द-गिर्द फिर भी एक निश्चित दूरी पर रहते हुए एक समान्तर दुनिया चलाते रहते और दद्दा जी की एक अलग दुनिया उसी के बीच होती. दद्दाजी कभी बैठक में दोस्तों के साथ जमे होते कभी अकेले लिखते-पढ़ते मिल जाते कभी पेड़ के चबूतरे पर कविता लिखते मिल जाते. खासियत यह कि कविता कागज पर नहीं स्लेट पर लिखते. वह जिस तरह उस घर के कोनों, अँतरों और घर के हर सदस्य के कोनों-अँतरों के बारे में बताता चाहे मैथिलीशरण हों, सियाराम हों, उर्मिला हों, उनकी पत्नी हों, अपनी नानी हों, या चाची (माँ). हमको ऐसा लगता जैसे हम उन सबको पहले से और बहुत अच्छे से जानते हैं, जैसे किसी उपन्यास के पात्रों को जानते हैं. ऐसा किस्सागो कि वह सुनाता जाता और हम मनाते कि यह किस्सा कभी खत्म न हो.

इसी तरह कभी सागर में बीते कठिन दिनों की कथा कहता जिसमें बाबुचाचा (पिता), चाची, वो स्वयं, भाई-बहन सब होते. उनके बारे में ऐसे बताता जैसे किन्हीं दूसरे लोगों के बारे में बता रहा हो, एकदम अलग खड़ा होकर. बाबुचाचा रंगमंच के व्यक्ति थे, कलाकार प्रकृति के आदमी. उनका मन उसी में रमा रहता. और रंगमंच करके परिवार पालना तब तो बिलकुल भी आसान न था. सात भाई बहन और माँ-बाप! बाबुचाचा का बहुत सा समय खा जानेवाला रंगमंच चाची को कैसे सुहाता? आखिर तो उन्हें नौ लोगों का पेट पालना था. तब ये बच्चे कैसे बीड़ी के कट्टे बनाने का काम करते और उससे पैसे के साथ-साथ बीड़ी मार देने का हुनर कैसे हासिल हुआ आदि तमाम छोटे-छोटे ब्यौरों को वह एक लेखक की संलग्नता और निःसंगता के साथ मजा लेते हुए बताता. न वो बाबुचाचा का तरफदार होता न चाची का. अपना तो बिलकुल न होता.

दोस्त तो वह ऐसे किसी भी व्यक्ति का हो सकता था जिस पर उसका मन आ जाये, किसी भी वजह से. वह छोटा-बड़ा, स्त्री-पुरुष कोई भी हो सकता था. किससे दोस्ती करने पर उसे फायदा या नुकसान हो सकता है जैसे किसी खयाल के लिए उसके यहाँ कोई जगह न होती. बल्कि कहा तो यह जा सकता है कि किसी से उसका लाभ होने की सम्भावना के नजर आते ही वह उस व्यक्ति से बचना शुरू कर देता और उससे किनारा करके ही दम लेता.

जिस किसी पर उसका मन आ जाता उसके लिए तो समय, पैसा और खुद को इतनी बेरहमी से खर्च करता कि उसके जीवन का इससे अधिक लम्बा होना असम्भव था. उसकी दोस्ती में जिस तरह बड़े-छोटे, स्त्री-पुरुष का भेद न होता वैसे पात्र-अपात्र का भेद भी न होता और वह हर के लिए अपने को, पैसे को और समय को उसी तरह, उतना ही खर्च करता.

जिसके प्रेम में वह पड़ जाता—जो कि वह आये दिन पड़ा रहता—उसी-उसी व्यक्ति से वह रात-दिन छलछलाया रहता और कहता भी—'ज्योत्स्नाजी, आप मानें न मानें, बिना प्रेम के तो अपन ने दुनिया में एक दिन भी नहीं बिताया'. वह जिस तरह मायाराणी के प्रेम में पड़ सकता था उसी तरह विनोदजी के, नदी के और कविता के प्रेम में पड़ सकता था. वह भी मुक्त और जिसे वह प्रेम करे वह भी मुक्त. फिर भी होते एक-दूसरे के गिर्द छलके-छलके से.

उस दिन शाम वह सामने के दरवाजे से खुशी के एक तूफान की तरह दाखिल हुआ था. कमरा खाली होगा के भाव से जो कि वह कमरा अकसर होता भी था. उस वक्त मैं अपनी कुर्सी-मेज पर जमा थी जो कभी-कभी ही जमती थी और वह भी शाम के समय, उपन्यास के सारे ड्राफ्ट मेज पर फैलाये.

मय अपने तूफान के वह बैठ गया कुर्सी पर. देखता रहा उस दृश्य को जो कभी-कभी ही उपस्थित होता था. इतने सालों में कम से कम उसने तो इस दृश्य को गिनी-चुनी बार ही देखा होगा. वह उसे देखता रहा. बोला—यार ज्योत्स्नाजी, यहाँ इस तरह बैठी हुई आप कितनी स्वतन्त्र लग रही हैं. ऐसी आप मुझे अन्यत्र कभी नहीं लगीं...

आखिर तो वह तूफान था, खुशी का तूफान! कितनी देर थमा रह सकता था. वह उठा और भीतर को बढ़ लिया. बड़ी मुश्किल से सूत्र जुटे थे, उस समय उन्हें छोड़ना, बगरा देना होता. और दिनों के उलट मैं जमी रही अपनी मेज-कुर्सी पर.

शुरू में संकुचित हुआ. संकुचित होने की प्रक्रिया में और अधिक खुल गया. फिर एक बार छोटे से तूफान की शक्ल में मेरी पीठ पीछे के दरवाजे से प्रकट हो गया. 'आप बहुत दिनों बाद काम कर रही हैं ज्योत्स्नाजी, मगर आइये, थोड़ी देर के लिए. 'बस आज का दिन' कह-कहकर वह दिन बटोरता गया था 'आज' के कई दिन! थोड़ी देर का विस्तार चार-पाँच घंटों से कम शायद ही कभी होता. उस दिन मगर मेरे लिए भी यह कम बड़ा अचरज नहीं था कि मैं सच में थोड़ी देर बाद अपनी मेज पर लौट आयी थी अपने गिलास को उनके गिलासों के बीच अपनी हाजरी लगाने को छोड़कर.

गिलास मेरी ऐवजी कितनी देर कर सकता था! आखिर उसने गिलास को मेरी मेज पर पहुँचा दिया. इस तरह हर बार मुझे अपने से दूर छूट जाने से बचा लेता था नवीन, जो स्वयं कई बार अपने से बहुत दूर चला गया लगता था. ▣

● **3/2 प्रोफेसर्स कॉलोनी, विद्या विहार, भोपाल**

◆ संस्मरण ◆

गुडबॉय नवीन!

राजकुमार केसवानी

इस घड़ी से पहले किसी घड़ी लगा नहीं था कि नवीन सागर के बारे में बात करने बैठूँगा तो कुछ मुश्किल होगी. इतना ज्यादा गुमान रहा है उसे मुकम्मल तौर पर जानने का कि खुद नवीन भी कहता था... 'तू तो साले मेरी नस-नस से वाकिफ है ना...' मैं उस वक्त घमंड से सीना फुलाकर चुनौती भरे अन्दाज में जवाब देता था, '...हाँ, जानता हूँ. कोई शक है तो बता...' इस घड़ी जब वो मेरी सामने नहीं है तो लगता है सारा गुमान टूटकर बिखर गया है. वो नहीं है तो सीना फुलाकर बात भी नहीं कर सकता. यह सब तो उसी के सामने किये का ही मजा था. अब करूँ तो बस जोकर सा लगूँ. वह भी ऐसा जोकर जिसके सर्कस का तम्बू उखड़ चुका है और फिर भी मूर्खों सा खड़ा अकेले ही तमाशा किये जा रहा है.

सोचता हूँ जोकर लगूँ तो लगूँ, नवीन की बात करने का मौका तो नहीं छोड़ूँगा. नवीन से पहली मुलाकात शायद 1978 में ही हुई, जब वह भोपाल में हिन्दी ग्रन्थ अकादमी में सम्पादक के पद पर नियुक्त हुआ. इस नियुक्ति से मैं काफी नाखुश था. कारण यह कि यह पद त्रिलोचन शास्त्री जी के सेवा निवृत होने पर खाली हुआ था और अकादमी में पहले से कार्यरत मेरे मित्र रामप्रकाश त्रिपाठी का उस पर दावा था. मैं नवीन से बिना मिले ही उससे अदावत लगा बैठा था. मगर इस अदावत की उम्र इतनी कम थी कि अब सोचता हूँ तो हँसी आती है.

एक दिन जब मैं रामप्रकाश और उनके वरिष्ठ साथी शिवकुमार अवस्थी से मिलने दफ्तर जा पहुँचा तो नवीन का भी उसी समय प्रवेश हुआ. हमारी मुलाकात करायी गयी. उसने फट से कुर्सी खींचकर बैठक जमायी और मुझसे मेरे बारे में एक साथ इतने सारे सवाल कर डाले कि मुझे



(बाएँ से) देवीलाल पाटीदार, नवीन सागर और राजकुमार केसवानी

अपनी नाराजगी जाहिर करने का मौका ही नहीं मिला. हद तो यह कि उसके कुछ सवालों पर मैं हँस भी दिया. थोड़ी सी देर में ही मैं सबकुछ भूलकर उससे काफी दोस्ताना अन्दाज में गुफ्तगू करने लगा. वो बेपाँव की अदावत कब जमींदोज हो गयी पता ही न चला.

हालाँकि कॉलेज की दीवारों से काफी पहले बाहर निकल आया था मगर चरित्र पर वहाँ का असर और उस पर भोपाली ठसका बराबर कायम था. उस जमाने में मैं एक ब्रीफकेस लेकर चलता था और उसमें एकाध राईटिंग पैड और दीगर कागजों के अलावा सिगरेट का पैकिट, एक हुक्केनुमा सिगरेट होल्डर और लाइटर लेकर चलता था. बातचीत के दौरान ही मैंने बड़े रुवाब के साथ ब्रीफकेस खोला. एक-एक कर यह तीनों चीजें निकालीं. होल्डर में बहुत स्टाइल मारते हुए सिगरेट फँसायी और लाइटर से सुलगाकर, पहले मुँह में धुआँ भरा और धीरे-धीरे धुएँ के छल्ले बनाकर छोड़ना शुरू कर दिया.

नवीन पहले तो यह सब चुपचाप देखता रहा पर ज्योंही मैंने छल्ले बनाने शुरू किये, उसने मेरी तारीफ में इतने कसीदे काड़े कि मैं उसका मुरीद हो गया, उसकी बातचीत का अन्दाज मुझे भा गया. इस बातचीत के दौरान मुझे अपनी नाराजगी और भी मूर्खतापूर्ण इसलिए लगी क्योंकि रामप्रकाश और नवीन बहुत दोस्ताना अन्दाज में बातें कर रहे थे. वहाँ कहीं किसी तरह की कोई प्रतिद्विन्द्वता का कोई भाव नजर नहीं आ रहा था. रवानगी से पहले नवीन मुझे अपने कमरे में ले गया और अगली बार जल्दी मिलने का वादा भी करवा लिया.

मैं यहाँ साफ कर दूँ कि ऊपर बयान किया गया हर लफ्ज सच होने के बावजूद अधूरा है. वजह यह कि जब नवीन और मेरे बीच से हिजाब के सारे पर्दे हट गये तब उसने एक दिन मुझे बताया कि दरअसल मैं उस दिन उसे बला का 'इडियट' लगा था और वो मुझे बकरा बनाकर मेरी मूर्खताओं को इंज्वाय कर रहा था. मेरे ब्रीफकेस ने, जिसे मैंने थोड़े दिन बाद ही

फेंक दिया था, उसे एक कहानी तक लिखने को प्रेरित कर डाला था. वह बहुत सारी चीजों के साथ ही यह नहीं कर पाया वरना कोई ताज्जुब नहीं हिन्दी साहित्य में एक मौलिक किस्म का 'इडियट' पढ़ने को मिल जाता.

मैं तो नवीन की 'चार्मिंग पर्सनालिटी' से पूरी तरह अभिभूत हो ही चुका था. वह भी मुझसे बेपनाह मोहब्बत करने लगा था. घर, दफ्तर, बाजार में दुनिया के कारोबार में हमारी मोहब्बत परवान चढ़ती रही. वह शायद इसलिए कि हम मिले बहुत देर से. उम्र के 28 साल गुजर चुके थे. इस बीच शायद इतनी ढेर सारी बातें जमा हो चुकी थीं जो दोनों ही किसी और से तब तक न कह पाये थे. और अब जो मिले तो कहने की जल्दी थी. सो हम दो के बीच चलतीं—बातें,बातें और बस बातें.

इन ढेर सारी बातों का नतीजा यह हुआ कि मन में नवीन के प्रति प्रेम से भी ज्यादा आदर और प्रशंसा का भाव आ गया था. यह और बात है कि हमारी बातचीत में यह कहीं भी परिलक्षित नहीं होता था. आदर इसलिए कि मैंने कुछ महीनों में ही जान लिया कि नवीन के जीवन में साहित्य सर्वोपरि है. उठते-बैठते, चलते-फिरते, शायद सोते-जागते भी नवीन के मन में सिर्फ एक चीज होती—साहित्य. मैं उसे 24 घंटे का लेखक कहता था और अब भी यही मानता हूँ.

24 घंटे के इस लेखक की खूबी यह थी कि वह अपने लेखन से भी ज्यादा दूसरों के लेखन में दिलचस्पी लेता था. वह लोगों को लिखने के लिए लगातार प्रेरित करता रहता. उनके लिखे को बड़े धैर्य से सुनता. उनकी भरपूर प्रशंसा कर उत्साहित करता. मैं ऐसे काफी सारे लोगों से वाकिफ हूँ जिनकी आज की स्थिति में नवीन का योगदान है.

मेरे लिखने से ज्यादा मेरे न लिखने को लेकर वह नाराज रहता था. मुझे वह लगातार गोदता रहता था कि मैं 'वाचिक परम्परा का कथाकार' बनने से बाज आऊँ और गम्भीरता से बैठकर लिखूँ. जब कभी कुछ लिख लेता तो वह खुशी में नाचता सा घर भर को इकठ्ठा कर लेता और प्रशंसा के भाव से भरा बाकी लोगों को पढ़-पढ़कर सुनाता.

जहाँ एक तरफ वो नये कवियों-लेखकों के लिए एक सक्रिय प्रेरक का काम करता तो दूसरी तरफ स्थापित लेखकों के सामने आदर में खुद को बिछा भी देता था. अज्ञेय, निर्मल वर्मा, विनोद कुमार शुक्ल और रमेशचन्द्र शाह ऐसे ही कुछ नाम हैं जिनके प्रति नवीन जीवन भर आदर और कृतज्ञता के भाव से भरा रहा. सच तो यह है कि यह आदर इस शब्द के मायने और सीमाओं से कहीं-कहीं ऊपर होता. पूरी तरह आश्वस्त तो नहीं हूँ पर शायद समर्पण इस स्थिति को बेहतर बयान करता हो.

इस समपर्ण की बात को कहते समय दर-हकीकत मुझे एक बहुत पुरानी घटना याद आ रही है. नवीन सागर उस समय भोपाल की प्रोफेसर्स कॉलोनी के सिविल लाइन्स इलाके में रमाकान्त जी के मकान में रह रहा था. उस साल बरसात के मौसम में कुछ दिन लगातार काफी तेज बारिश हुई. इतनी कि भोपाल ताल पूरी तरह लबरेज हो उठा. भोपाल में ऐसा होने का अर्थ होता है उत्सव की घोषणा होना. क्योंकि तालाब भर जाने का मतलब होता है मुख्य शहर से थोड़ी सी दूरी पर बने भदभदा बाँध के दरवाजे खुलना, जिनसे अतिरिक्त पानी का निकास किया जाता है. यह एक ऐसा मनोरम दृश्य होता है जिसे देखने सारा शहर ही भदभदा की तरफ दौड़ पड़ता है. अमीर-गरीब, अफसर-नेता, मालिक-नौकर सब के सब आपको एक ही दिशा में जाते दिखायी देते हैं.

इस जगह सिचुएशन का लाभ उठाकर अपनी एक कविता 'भदभदे के गेट' की यह पँक्तियाँ पेश कर रहा हूँ :

जब कभी खुल जाते हैं
भदभदे के गेट
सारा शहर दौड़ पड़ता है
उस तरफ
और तब
हो जाता है मुश्किल
तय करना
कि भदभदे के गेट खुले हैं
या फिर शहर के

सो मुख्तसिर में, उस दिन भी शहर के गेट खुल गये थे, सो मैं, नवीन और मुकेश वर्मा मेरे स्कूटर पर तीन सवारी बनकर भदभदे की ओर निकल पड़े. हालाँकि नवीन उस दिन साइटिका पेन से काफी पीड़ा में था, मगर वह इस उत्सव से बाहर छूटना नहीं चाहता था. सो बहुत हिम्मत और जिद कर बाहर निकला था.

जब हम लोग भदभदा से लगभग एक मील की दूरी पर पहुँचे तो पाया कि स्कूटर पर आगे बढ़ने का कोई चांस नहीं है. सो स्कूटर पार्क कर पास ही बनी एक पुलिया की मुंडेर पर हम लोग बैठ गये. नवीन की हालत ऐसी न थी कि वह पैदल चल सके सो रुकना ही था. इसी पुलिया पर अचानक रमेश चन्द्र शाह भी मिल गये. शाह साहब ने बताया कि उन्होंने नवीन को देखकर परिवार को आगे भेज दिया है और वे नवीन के साथ जाने के इरादे से रुक गये हैं.

इस समय तक हम लोगों ने नवीन की हालत को ध्यान में रखते हुए तय किया था कि आगे नहीं जायेंगे. सो पुलिया पर ही भुट्टे लेकर टिक गये थे. लेकिन ज्यों ही शाह साहब ने यह बात कही नवीन आगे जाने को तत्पर हो गया. मुझे इस बात पर गुस्सा आ गया. इस हालत में पैदल कैसे जायेगा? शाह साहब को नवीन की हालत का अन्दाजा न था सो मैंने फौरन शाह साहब को सूचित किया कि नवीन की हालत अच्छी नहीं है सो उसका आगे जाना ठीक नहीं होगा. शाह साहब ने शायद सहमति व्यक्त की मगर नवीन नाराज हो गया. वह उस पीड़ा में भी शाह साहब के साथ जाना चाहता था. बहरहाल, मेरी जिद के चलते वह न जा सका. शाह साहब को आगे अकेले ही जाना पड़ा.

नवीन के क्रोध का लावा फूट पड़ा. उसने मेरे साथ वापस जाने से भी इनकार कर दिया. मैं भी अपने स्टैंड पर कायम था कि वह मेरे साथ आया है तो उसे मेरे साथ ही वापस लौटना होगा. आखिर हम तीनों स्कूटर पर बैठे और घर को लौट चले. रस्ते भर हम दोनों का झगड़ा चलता रहा. पीछे की सीट पर बैठा-बैठा वह भुन-भुन करता रहा. जवाहर चौक जो कि उसके घर से कुछ दूरी पर था, पर पहुँचते ही, उसने फौरन स्कूटर रोकने की माँग की. मैं भी काफी क्रोध में था, सो स्कूटर रोक दिया. नवीन और मुकेश वर्मा उतर गये. नवीन ने नाराजगी भरे अन्दाज में बहुत जोर से गुड

बाय कहा और पैदल चल पड़ा. मैं अपने स्कूटर पर आगे बढ़ गया.

कुछ दिन अबोला रहा. फिर नवीन ने मुझे एक लम्बी चिट्ठी लिख डाली. इस चिट्ठी में उसने दो बातों की शिकायत की थी. पहली तो यह कि इस उम्र में भी मेरी 'भावनाएँ' वयस्क ही नहीं होतीं' और दूसरे यह कि शाह साहब के साथ जाने से रोकने वाली बात को वह शाह साहब का अपमान मानता है और वह 'किसी लेखक का अपमान सहन नहीं कर सकता'. मैं इस वक्तव्य को नवीन के लेखन के प्रति आदर भाव के प्रतीक के रूप में देखता हूँ.

यह मेरे और नवीन के बीच के दर्जनों बचकाने झगड़ों में से एक था, जो बच्चों के झगड़े की तरह ही सुलझ भी गया. इस सच को वह भी जानता था कि मेरी चिन्ता सिर्फ उसकी सेहत को लेकर थी न कि शाह साहब के अपमान की. सौभाग्य से शाह साहब ने भी इस घटना को इसी सन्दर्भ में ही देखा क्योंकि मेरे उनके सम्बन्धों में कोई अन्तर नहीं पड़ा.

यहाँ एक बात जरूर कहना चाहता हूँ. यह नवीन के चरित्र का एक पक्ष है. उसका एक दूसरा पक्ष भी है. उसे अपने सम्मान के उत्तर में सम्मान न मिले तो वह कुछ देर में भड़क जाता था. उसका अपमान या उपेक्षा करने का अर्थ होता उसके हाथों अपनी 'दुचली', बनवाना. यह एक बुन्देलखंडी शब्द है जिसे मैंने नवीन से ही सुना और इसका अर्थ तो आप ध्वनि से ही जाने सकते हैं. किसी चीज को कूट-कूट कर या पीट-पीटकर चन्ना जोर गरम टाइप बना देना.

मैंने नवीन को बहुत लोगों की 'दुचली' बनाते देखा है. उसमें ऐसी अद्भुत तर्क शक्ति थी कि जिसका सामना कोई विरला ही कर सकता था. सो ढेर सारे दुचले गये लोगों की गत देख चुका हूँ. एक अवसर पर दुर्भाग्य से एक ऐसा लेखक भी इस बात का शिकार बना जो अन्यथा नवीन का अत्यंत प्रिय लेखक था. मुझे उनकी एक कहानी भी वो सुना चुका था, जो उसे बहुत पसन्द थी. एक दिन जब वे भोपाल आये तो हम दोनों उनसे मिलने गये. वहाँ काफी लोग पहले से मौजूद थे इस कारण नवीन को लेखक महोदय का वांछित अटैन्शन नहीं मिल पा रहा था. साथ ही उन्होंने नवीन की एकाध बात को भी बहुत ही चलताऊ ढंग से हवा में उड़ाने की कोशिश की. नवीन इस व्यवहार से इतना आहत हुआ कि उसने उन लेखक जी की कहानियों की ऐसी महीन पड़ताल कर कमियाँ गिनाना शुरू कर डालीं कि माहौल में लेखक महोदय के पसीने की गन्ध भर गयी. नवीन का इन्तकाम पूरा हो चुका था. सो हम बाहर निकल आये.

बाहर निकलकर मेरा हँस-हँसकर बुरा हाल था पर नवीन अपने ही व्यवहार से दुखी था. उसे यह करते हुए अच्छा नहीं लगा था, मगर उसे किसी लेखक का अपने प्रशंसक के प्रति उपेक्षा भाव और उसकी बात की अवहेलना भी कतई स्वीकार नहीं थी. और यूँ भी मैं यह साफ-साफ कहना चाहूँगा कि नवीन देवता नहीं था. सो उसमें हमारी ही तरह सारी मानवीय कमजोरियाँ भी मौजूद थीं. मगर उन पर उसकी अच्छाइयों की इतनी अधिकता है कि उसकी कमजोरियाँ की तरफ आँख मूँदने को जी चाहता है.

सच तो यह है कि उसकी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ कई मर्तबा हाथ में हाथ डाले चलते दिखती थी. जैसे अपने सीमित आर्थिक साधनों के बावजूद दूसरों को खिलाने-पिलाने की कोशिश में अपने और परिवार के लिए समस्याएँ पैदा कर लेना और फिर उन हालात से बाहर निकलने की कोशिश में खुद को बेहाल कर लेना. दुर्भाग्य से इन दूसरे लोगों में अकसर ही ऐसे लोग होते जिन्हें मैंने उसके दोस्तों की श्रेणी में कभी नहीं रखा और कम से कम इस जगह मैं ही सही सिद्ध हुआ.

अब अगर परिवार का जिक्र आया है तो उनके बारे में भी बात कर ही लूँ. यूँ भी उनके बिना नवीन की कहानी अधूरी है. छाया भाभी, चाची (नवीन की माताजी जिसे खुद नवीन भी चाची ही कहता था) बड़े भाई रवि ब्रजपुरिया (जो ग्वालियर में रह रहे थे, मगर हर वक्त नवीन के साथ थे) छोटा भाई मुन्नू, तीन बच्चे गुड़िया, पाँडू और राजा. अगर किसी को यह देखना हो कि ज़ीवन के असीमित दुखों और सीमित साधनों के साथ जीवन को किस तरह रसरंग बनाया जा सकता है तो इस परिवार को देखता. मैं यह बात पूरी जिम्मेदारी और अनुभव के साथ कह रहा हूँ क्योंकि मैं खुद भी उसी परिवार का हिस्सा था. कुछ-कुछ हूँ और पूरी तरह बने रहना चाहता हूँ.

चाची को नवीन की चिन्ता बहुत रहती थी. उन्हें इस बात का दुख था कि नवीन अपनी तमाम प्रतिभा के बावजूद सांसारिक रूप से 'सफल' नहीं हो पाया है. यह एक माँ की चिन्ता थी जिसे नवीन अकसर चाची को हँसाकर हवा में उड़ाने की कोशिश करता था. छाया भाभी को तो मैं अदभुत समर्पण वाली महिला मानता हूँ जिसने घर की अनेक चिन्ताओं से नवीन को मुक्त रखा और बहुत सारी कमियों को कमी की तरह महसूस नहीं होने दिया.

पाँडू, राजा और गुड़िया के साथ नवीन ने दोस्ताना सम्बन्ध ही रखे. जिनमें खेल-कूद, सलाह-मशविरा और छेड़-छाड़ वगैरह सब शामिल था. खासकर राजा के साथ कुछ ज्यादा ही छेड़-छाड़ का मामला था. उसने राजा, जिसका असल नाम आदित्य है, मेरे खयाल से दर्जनों एंड-बेंड नाम रख छोड़े थे. इनमें भी एक 'टोट जी' उसे बहुत प्रिय था. पाँडू के साथ हमउम्र की तरह का रिश्ता था. मगर गुड़िया इनमें सबसे ज्यादा सम्वेदनशील थी. इसी कारण नवीन उसकी ओर बहुत ही प्रेम और आदर के भाव के साथ उसे देखता था. उसे सबसे ज्यादा चिन्ता भी उसी की रहती थी. गुड़िया की छोटी-छोटी कविताओं से उसके अन्दर की हलचल साफ दिखायी देती थी. नवीन के उस समय के व्यवहार पर इसका बड़ा प्रभाव था.

गुड़िया को मेरे कुछ क्रोधी स्वभाव के कारण हमेशा यह डर सताता रहता था कि उसके पापा के साथ मेरे रिश्ते टूट न जायें. उसने नवीन से भी अपनी यह चिन्ता शेयर की थी. वह चाहती थी कि यह रिश्ता कभी न टूटे. मैंने उसके चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ कई बार देखीं और पढ़ी हैं. खासकर तब, जब हम सब, नवीन, मैं, मुन्नू, पाँडू, राजा और गुड़िया, मिलकर नवीन के घर के बाहर वाले हिस्से में क्रिकेट खेलते, खेल में मेरा और नवीन का आउट होने पर हमेशा झगड़ा होता. नवीन मुझे हमेशा आउट घोषित कर देता और मैं मानने से इनकार कर देता. विवाद होता. चुनौतियों का

आदान-प्रदान होता. और इसके बाद जब नवीन बॉल करता तो मैं क्रोध से भरा अपनी पूरी ताकत से रबर की उस बॉल को इतनी बेरहमी से पीटता कि सड़क पार तालाब के आस-पास जा गिरती. बच्चे कहते, 'चाचा क्या शॉट मारा है'. नवीन उनसे कहता 'बेटा, वो बॉल नहीं, मुझे मार रहा है' मैं एक सैडिस्टिक प्लेजर के साथ मुस्करा देता. इस सबके बाद गुड़िया का चेहरा कुछ उदास हो जाता. मैं जान जाता और फिर वैसा न करने की मन ही मन कसमें खाता. मुझे भी गुड़िया का उदास चेहरा देखना कतई स्वीकार नहीं था. मुझे भी उससे उतना ही लगाव था जितना उसे.

और क्या कहूँ? उसके लिखने को लेकर बात करूँ? मैं पहले भी कह चुका हूँ मेरी नज़र में वह 24 घंटे लेखक था. लिखता तो वह देर रात में था मगर जब वो लिख नहीं रहा होता था तब भी उसका विचार तन्त्र लिखने की प्रक्रिया में ही लीन होता. हो सकता है कि वह आपसे कोई ऐसी बात कर रहा हो जिस बात को आप उसके लेखन से जोड़कर कभी न देख सकें पर वह उसके प्रोसेस ऑफ आबजर्वेशन या स्टडी आफ ह्युमन नेचर एंड सॉइकलाजी का हिस्सा जरूर होता था. यह सारा काम उसके दैनिक जीवन व्यवहार में, अध्ययन में, बहस में, अकेले में, चलता ही रहता था.

उसने जितना लिखा, चाहे वह कहानी हो या फिर कविता, उसकी प्रशंसा भले हुई हो लेकिन कभी-कभी वो उस सबसे उतना सन्तुष्ट नहीं होता. वह और भी बेहतर लिखना चाहता था. उसने अपने लिए अत्यन्त ऊँचे मानक गढ़ रखे थे, जो किसी जगह मास्टर्स से जाकर मिलते थे. प्रशंसा से वह खुश तो जरूर होता मगर फिर कहता, 'यार अभी तो इसमें वो बात आ ही नहीं पायी, वरना और भी मजा आता...' मेरी अपनी मान्यता भी यही है कि दुनिया ने नवीन की उस प्रतिभा के दर्शन किये ही नहीं जिसे लेकर वह जी रहा था.

उसे पढ़ने में और लिखने में समान रूप से आनन्द मिलता था. उस आनन्द में वो इतना डूब जाता कि किसी हिप्नोटाइज्ड व्यक्ति की तरह घर से निकल पड़ता. ऐसी ही स्थिति में कभी-कभी मेरे पास भी पहुँच जाता. वह शब्द के जादू में जकड़ा इस कदर खोया होता कि उसे शायद ही कभी वक्त का भान हुआ हो. उस समय मैं माँ-बाप के साथ ही पुराने भोपाल में रहता था. पिताजी रात 11 के बाद नीचे का दरवाजा बन्द कर देते थे. नवीन देर से आता और मेरे बेडरूम के नीचे से आवाज़ लगाता. दरवाजा खोलकर मैं उसे ऊपर ले आता और हम दोनों जाकर छत पर पहुँचकर जम जाते. फिर वो धीरे से बहुत ही अनुनय वाली मुद्रा में कहता; 'यार, थोड़ा सा सुनेगा. बहुत ही कमाल की चीज है'. ऐसा कहकर वो फौरन अपने हाथ में पकड़ी पुस्तक को खोल लेता जिसमें पहले से फ्लैग लगा होता.

पहली बार जब ऐसा हुआ था, उसके हाथ में मुक्तिबोध ग्रन्थावली का एक खंड था. एक कविता ने उसे इतना उद्वेलित कर दिया था कि वह उस पर बात करना चाहता था. पहले वह कविता पढ़ता रहा. फिर उसकी व्याख्या शुरू कर दी. मेरी राय जानी और फिर से कविता के एक-एक वाक्य, एक-एक शब्द के प्रयोग और उनके उजागर अर्थों और निहितार्थों के महीन कोनों में घुस पड़ा. उसकी दीवानगी का आलम मेरे लिए एक नया अनुभव था. वह उस रात सामने रखे शराब के गिलास तक को भूल गया. मैं मन्त्रमुग्ध सा उसे देखता और सुनता रहा. इसके बाद यह मेरी आदत में शामिल हो गया. मेरे लिए भी यह आनन्द के क्षण होते.

उसका सारा जोर, सारी व्याख्या, सारे मूल्यांकन, के केन्द्र में सामाजिक सरोकार होते. किसी भी रचना को परखने के लिए सामाजिक सरोकार उसके लिए एक कसौटी का काम करते थे. इन सारी बातों में बार-बार नवीन के प्रिय कथाकार चेखव और दोस्तोयव्स्की घूम-फिरकर आ ही जाते. इन दो नामों के साथ एक और मित्र का नाम लेना जरूरी है, कपिल तिवारी का नाम. कपिल, नवीन को 'लोबे वाले भाई साहब' कहकर पुकारते थे. (क्यों का जवाब फिर किसी और वक्त). वे उन दिनों पुराने शहर के तलैया इलाके में अकेले ही रह रहे थे. नवीन और मैं गाहे-बगाहे रात में उनके पास पहुँच जाते. घर से निकलकर देर रात तक इधर-उधर बतियाते टहलते रहते. फिर आखिर में कपिल तिवारी के आधा दर्जन पान बँधवाकर कमला पार्क के मुंडेर पर बैठकर, तालाब की छप-छप आवाजों की अनदेखी करते, बातें करते रहते.

कपिल तिवारी की याद्दाश्त और अध्ययन दोनों ही गजब के हैं. रूसी उपन्यासों के पात्रों के मुश्किल नाम उन्हें ऐसे याद रहते जैसे घर के बच्चों के नाम. और उस पर कमाल यह कि किसी उपन्यास के किसी अध्याय की बात निकली तो धड़ाधड़ बिना गलती उस अध्याय की पूरी की पूरी लाईनें, पूरे सम्वादों के साथ दोहरा देते. यह मुलाकातें बहुत जमाने चलीं. और इस दौरान कपिल तिवारी का बहुत सा ज्ञान और अन्न भी ग्रहण किया.

बस अब, खुद को रोकता हूँ वरना न जाने कहाँ रुकूँगा. बस कुछ जरूरी मगर आखिरी बातें कह दूँ. शायद बुन्देलखंड की परम्परा का असर हो, नवीन अद्भुत किस्सागो था. खड़े-खड़े किसी भी बात को पुरअसर बनाने के लिए एक रूपक गढ़ लेने का उसमें कमाल का हुनर था. इस वाक् शक्ति का शिकार उसके डॉक्टर और वो खुद भी बना. मैं गवाह हूँ इस बात का उसने अपनी बातचीत के दम पर एक डॉक्टर से ही अपने लिए लिखी हुई दवा अपनी मर्जी के हिसाब से बदलवा ली. अपनी दवा को बदलते हुए भी डाक्टर की आँखों में नवीन के लिए प्रशंसा का भाव था.

उसे ड्रामे का बहुत शौक था. वह सिर्फ अपनी मौज के लिए ही ड्रामा बहुत करता था. एक बार उदय प्रकाश मेरे साथ घर पर रुके थे. रात में नवीन भी आ गया. हम तीनों ने खूब बातें कीं, संगीत सुना और शराब भी पी. देर रात में जब नवीन ने जाने को अपना स्कूटर स्टार्ट किया तो पूरे ड्रामाई अन्दाज में मेरी ओर देखकर बोला, '...साले...ठीक है...चलता हूँ...हैं... गुड बाय' और ऐसा कहकर उसने स्कूटर इस तरह लहराते हुए चलाना शुरू किया मानो उसने बहुत शराब पी रखी हो और स्कूटर उसके नियन्त्रण से बाहर हो गया है और वो अभी या तो गिर पड़ेगा या फिर सामने के बिजली के खम्बे से टकरा जायेगा. उदय घबरा गया. वह चिल्लाया, 'अरे देखो यार उसे वो...' मैंने कहा, 'कुछ नहीं. वो ड्रामा कम्पनी है. साला नौटंकी कर रहा है' मेरे वाक्य के खत्म होते न होते वह बिजली के खम्बे से टकराने वाले अन्दाज में पहुँचा

और गाड़ी में ब्रेक लगाकर, हमारी तरफ गर्दन मोड़ी. जोर से हँसा. फिर देवानन्द वाले स्टाइल में कहा, 'गुड बाय'. और सीधे चला गया. यहाँ यह कह देना बेजा न होगा कि रमेश उपाध्याय की कहानी 'गुडबाय देवानन्द' नवीन की पसन्दीदा कहानियों में से एक थी.

इस घटना के बाद काफी दिनों तक हमारी मुलाकात न हुई. यूँ भी हमारी मुलाकातें काफी कम हो चुकी थीं. मैं पुराने शहर से बिछड़कर नये शहर में आ पड़ा था. जिन्दगी की जरूरतों की पूर्ति के लिए एनडीटीवी (उस समय स्टार न्यूज के बैनर में) में काम कर रहा था. दुनिया जहान को रिपोर्ट करते-करते अपनी दुनिया खो बैठा था. नवीन इस बात से बहुत दुखी था. एक दिन नवीन का फोन आया. उसने ढेर सारी शिकायतें कीं और कहा, '...देख लेना बेटा, मैं मर जाऊँगा तो भी मेरे पास टाइम नहीं होगा. साले, कन्धा तक नहीं दे पायेगा तू...' मुझे झटका सा लगा. और फिर सिर्फ अपने बचाव में ही बोलता रहा. और फिर एक दिन. इस फोन के शायद थोड़े समय बाद ही ऐसा हुआ कि मैं 5 दिन के टूर के बाद घर लौटा था. मेरी पत्नी और बेटा भी इन्दौर गये हुए थे. घर पर सिर्फ बहादुर था. उसके जिम्मे सारे फोन कॉल नोट करना भी था. सो जब फोन कॉल्स की लिस्ट देखी तो उसमें ढेर सारे नामों के बीच लिखा था नवीन सागर. मैंने सोचा नवीन ने फोन किया होगा, सो थोड़ी देर बाद उसे फोन लगाता हूँ क्योंकि उस समय सुबह के 5 बज रहे थे. एक डेढ़ घंटे बाद जब अखबार आया तो उसमें नवीन की मृत्यु की सूचना थी. बाद में बहादुर ने बताया कि फोन पर भी दरअसल यही सूचना आयी थी.

मैं बहुत देर तक सन्नाटे में बैठा रहा. उस सन्नाटे में क्या-क्या हुआ. याद नहीं. कुछ सम्भला तो नवीन के घर पहुँचा. उस माहौल में जिस घड़ी नवीन के शरीर के पास पहुँचा, जी चाहा जोर से चिल्लाऊँ, 'साला, ड्रामा कम्पनी. चल हो गया.' मगर मेरी आवाज उस घड़ी आँसू बन चुके थे. ▣

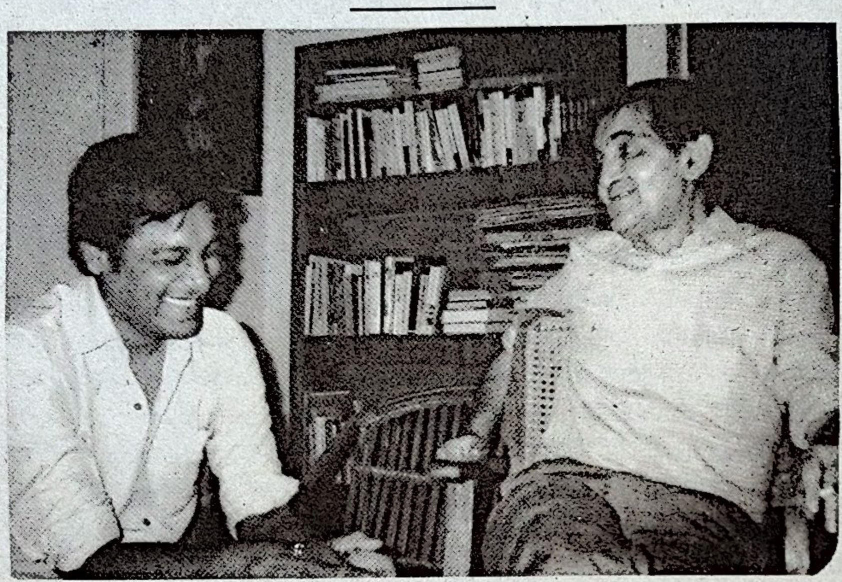
● सम्पादकीय विभाग, दैनिक भास्कर, भोपाल

◆ संस्मरण ◆

थमा हुआ सूर्यास्त

●

रमेशदत्त दुबे



कथाकार निर्मल वर्मा के साथ नवीन सागर

नवीन की मृत्यु का समाचार पाकर मैं दूसरे दिन सुबह चार बजे भोपाल पहुँच गया—ट्रेन से. प्लेटफार्म पर पाँव अचकचा गये. कहाँ जायें, किस तरफ, कौन सी दिशा में. पन्द्रह दिन पहले रायपुर में यह विनोद कुमार शुक्ल ने ही तो कहा था 'अभी आप भोपाल नहीं गये, जल्दी जाइये—इस समय नवीन बहुत अच्छे मूड में है.' नवीन का खिलना, पूरे उपवन का खिलना होता था. उसके साहित्य संस्कृति के सरोकार कुल जीवन—जीवनी के सरोकार थे जो उसे छोड़कर पूरे उपवन को हरा-भरा करते रहे हैं. वे नवीन के गहरे अवसाद के दिन थे. जैसे यक्ष्मा राजरोग माना जाता है. अवसाद सम्वेदनशीलता का ही रोग जान पड़ता है. जब मैं प्रोफेसर कॉलोनी स्थित नवीन के मकान पर पहुँचा तो पूरा शाह परिवार आकुल-व्याकुल हो रहा था. शम्पा का तो बुरा हाल था. नवीन के अन्तिम दर्शन के लिए, मैं ऊपर जाने की हिम्मत नहीं जुटा पाया. रमेशचन्द्र शाह ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहा—बड़ी देर से आये, मैं तो रात भर तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहा.'

श्मशानघाट में रामप्रकाश जी श्रद्धांजलि देने वालों के नाम लिख रहे थे. मैंने धीरे से उनसे कहा—'मेरा नाम न लिखियेगा, मैं बोल नहीं पाऊँगा.' रामप्रकाश पर नवीन ने एक कविता लिखी है जिसके बारे में, बकौल नवीन— 'मैंने व्यक्ति को लेकर सिर्फ एक कविता लिखी है.' शाम को ग्रन्थ अकादमी में श्रद्धांजलि सभा होने वाली थी. मैं जानता था अब मुझे जरूर बोलना पड़ेगा. दोपहर भर सोचता रहा लेकिन एक शब्द भी नहीं सूझा, सिर्फ इतना बोल पाया—'नवीन के न रहने से, मेरा तो घर ठिकाना ही चला गया.' यह बाहु उठाकर रघुकुल जैसी प्रतिज्ञा नहीं थी लेकिन आज तक भोपाल जा नहीं पाया—नवीन की बरसी पर आयोजित कार्यक्रम में अन्य कला-साहित्य के कार्यक्रमों में भी. नवीन पर एक शब्द भी नहीं लिखा गया—जैसे नवीन ने अपनी यादों से मुझे पूरी तरह बेदखल कर दिया हो.

विगत बीस बरसों में मैं जब भी भोपाल गया हूँ और अकसर गया हूँ, नवीन के घर के अलावा कहीं और ठहरा ही नहीं. भोपाल में मेरी बहिन है, यदा-कदा भारत भवन के कार्यक्रमों में भी जाना हुआ है लेकिन पहली बार में ही नवीन ने बड़े

आग्रह के साथ कहा था–'आप भोपाल में चाहे जहाँ जायें लेकिन ठहरें मेरे ही घर पर'. कहीं और जाने के लिए नवीन ही मुझे स्कूटर पर ढोते फिरते थे. ऐसी जगहों और व्यक्तियों के पास पहुँचाते, जहाँ वे स्वयं नहीं जाते थे. रातें ही नहीं, पूरे के पूरे कई दिन मेरे साथ ही गुजारते थे.

विनोद कुमार शुक्ल, प्रयागजी जैसे किसी प्रिय का भोपाल आना उसके लिए जश्न होता था. पूरे दिन उनके साथ ही गुजारते. उसे रिसीव करने, विदा देने स्टेशन जाते, उसे घर पर भोजन के लिए आमन्त्रित करते. अकस्मात छाया से कहते– 'अमुक जी किसी कार्यक्रम में भोपाल आये हैं, कल उन्हें बुलाता हूँ–छाया, तुम पूरण पूरियाँ बनाना.' फिर पूरण पूरियों की सामग्री लेने बाजार निकल पड़ते. न जाने कितने काव्य पाठ प्रयाग जी, विनोद कुमार, अजीत चौधरी, विनय दुबे, मुकेश वर्मा आदि कवियों के उनके घर की छत पर आयोजित हुए हैं. हमारा तो रस रंजन होता था लेकिन सारा भार छाया के सिर पड़ता, नवीन भोजनादि की भी भरपूर व्यवस्था करते. विनोद जी के उपन्यास– 'दीवार में एक खिड़की रहती है' को गिरधर राठी, प्रयाग, रामकुमार के साथ सुनने का सौभाग्य तो नवीन ने ही सुलभ कराया था. कला-कलाकारों ही नहीं, उनके परिवार के प्रति भी उसका गहरा प्रेम होता था. मैं अपने भानजे के विवाह के अवसर पर भोपाल में था. नवीन वहाँ आये और मेरे चार वर्षीय पुत्र को स्कूटर पर बैठाकर 'वन बिहार' दिखाकर चार घंटे में लौटे. प्रयाग जी बताते हैं कि एक बार भोपाल प्लेटफार्म पर उन्हें कुछ ठंडक महसूस हुई, नवीन चुपचाप गायब हो गये और पाँच मिनट में ही लौटकर एक शाल प्रयाग जी को–उनकी बहुत नानुच के बाद उढ़ा ही दिया. विनोद जी तो अपने परिवार की कोई भी बात नवीन को बताने से घबराते थे, उन्हीं के शब्दों में–'मेरी व्यक्तिगत छोटी सी चिन्ता, नवीन के लिए पहाड़ बन जाती है.' भोपाल के कला-जगत का शायद ही ऐसा कोई आयोजन हो जिसमें नवीन की उपस्थिति न रही हो. सारी कलाओं में उनकी रुचि थी–संगीत, रंगकर्म, सिनेमा, पेन्टिंग, सिरेमिक. नवीन, बाद में पेन्टिंग भी करने लगे थे. उनके चित्रों की प्रदर्शनी भी लगी है, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुए हैं. चित्र बनाने के लिए वे पूरा दिन किसी नदी के किनारे या वन में गुजार देते थे. नवीन के सभी अभिन्न थे. नवीन का समय, दूसरों का समय था. वह जहाँ भी जाता, वहीं का होकर रह जाता, कभी हड़बड़ी में नहीं रहता था, सारे सामाजिक सरोकार निबाहता–रस लेता था.

नवीन के नख-शिख प्रेममय थे. उनके कद्दावर शरीर, उलझे बालों, बड़ी-बड़ी आँखों, ताम्बिया चेहरे से प्रेम की आभा ही नहीं झरती रहती थी, वे अपने निजी सरोकारों में भी गहरे प्रेमी थे. एक शेर है–'यह इश्क नहीं आसाँ, इतना ही समझ लीजे, इक आग का दरिया है और डूब के जाना है.' नवीन इस आग के दरिया में बार-बार डूबे-उतराये हैं. छाया को प्रेम का प्रमाण देने के लिए उन्होंने विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में अपनी कलाई पर एसिड उड़ेल लिया था. मुफलिसी के दिनों में भी उनकी प्रेमाग्नि निरन्तर धधकती रही थी. जब छाया से उनका विवाह हुआ, तब क्या था उनके पास? न नौकरी , न घर-परिवार और प्रिया भी 200 कि. मी. दूर! माँ-बाप, भाइयों के कठोर पहरे में थी. रघु ठाकुर के साथ हम कुछ मित्र छाया को रातों-रात एक कार से सागर लाये थे और एक मित्र के घर वैदिक रीति से उनका विवाह सम्पन्न करवाया था. रघु ठाकुर नवीन के संरक्षक थे. छाया नवीन महीनों उनके निवास में निर्भय रहे हैं. सम्बन्धों के निर्वहन में रघु विरले राजनेता हैं.

भोपाल में रघु ठाकुर की वजह से जैसी-तैसी राजनीति तो बनी रही लेकिन जल्दी ही नवीन साहित्य कलाओं की तरफ लौट पड़े. उसी के लिए वे बने थे, वही उन्हें सहारा दे सकता था. स्नातक कक्षा में परसाई जी की उपस्थिति में हुई कहानी कार्यशाला में जिस नवीन की कहानी को प्रथम स्थान मिला था और जो धर्मयुग में प्रकाशित भी हुई थी, उसने लगभग 20 वर्षों तक एक भी शब्द नहीं लिखा-पढ़ा. भोपाल आने पर ही उनका लेखन सम्भव हो सका. एक दिन वे मुझसे बोले–'आज अपने प्रिय कथाकार निर्मल वर्मा से मिल आते हैं.' निर्मल जी उन दिनों भोपाल में निराला सृजन पीठ पर थे. नवीन ने उन्हें बताया कि वे उनके प्रिय कथाकार हैं. निर्मल जी मुस्कराये और अगली प्रतिक्रिया के लिए चुप हो गये. नवीन को कुछ नहीं सूझा और 5 मिनट बाद ही हम बाहर आ गये. अत्यन्त व्यथा के साथ नवीन बुदबुदाये, जैसे स्वगत भाषण कर रहे हो–'मैं कहाँ पहुँच गया हूँ, देख लेना जल्दी ही लौटूँगा.' वे लौटे और और खूब लौटे. उनका एक कहानी संग्रह आया–'उसका स्कूल', बाल कविताओं का संग्रह भी. कविता की लय बाद में जुड़ पायी. अब तो उनके तीन-चार कविता संग्रह हैं और ऐसे कि उनकी कविता को अशोक वाजपेयी भी सराह पाते हैं. नवीन अज्ञेय जी के वत्सल निधि आयोजन में भी गये थे. नवीन की कविताओं–विमर्श के लिए अज्ञेय जी ने प्रीतिकर रुख जाहिर किया था. भोपाल में शाह जी के निवास पर उन्होंने नवीन से ढेर सारी कवितायें आग्रहपूर्वक सुनी थीं. संस्कृति तीर्थ भारत भवन में नवीन भोपाल में रहते कभी आमन्त्रित नहीं किये गये लेकिन हर कार्यक्रम में उनकी अनिवार्य उपस्थिति रही–उनकी बेबाक और सटीक टिप्पणियों के कारण भी. चित्रकला, संगीत, रंगकर्म, सिरेमिक आदि की अच्छी समझ पैदा की. नवीन मुझे गुरु स्थानीय मानते थे और बेहद तकलीफ के साथ कहते–'आपने कलाओं के पड़ोस के बारे में मुझे नहीं बताया-पढ़ाया.' मैं चुप रह जाता, मैं ही कहाँ यह सब जानता था. नवीन की गहरी समझ और प्रयोगशीलता उनकी रचना में उतरने के लिए हमेशा छटपटाती रही है. वे हमेशा अपना मुहावरा खोजते रहे. मुझे 'इंडिया टुडे' के एक वार्षिक अंक में छपी उनकी कहानी बेजोड़ लगती है. यह मुझे अजीत चौधरी ने ही तो बताया था–नवीन के पास आइडिया बहुत थे, लोरी लिखने की सलाह उन्होंने ही मुझे दी थी. भोपाल के न जाने कितने कवि लेखक, रंगकर्मी, पेन्टर उनके पास आते रहते थे–ऐसे ही किसी आइडिया की तलाश में. नवीन के एक चित्र को देखकर यह अजीत चौधरी की ही तो कविता है– 'मुसाफिरों के घर पहुँचने तक अकेला राह में ठहरा हुआ सूर्यास्त है.' ▣

● **शनीचरी पुलिस चौकी के सामने, सागर (म.प्र.)**

◆ संस्मरण ◆

स्मृति में नवीन

मंगलेश डबराल

मिर्जा गालिब ने एक खत में अपनी कैफियत कुछ इस तरह दी थी कि 'मैं एक ऐसा शख्स हूँ तो खुद भीख माँगता है मगर दूसरों को भीख माँगते नहीं देख सकता.' इतने वर्षों बाद नवीन सागर के बारे में सोचते हुए अनायास लगता है कि उनका जीवन भी गालिब के इस वाक्य जैसा था : खुद को लेकर बेपरवाह लेकिन दूसरों की तकलीफ से गहरे जुड़े हुए, अपनी बदतरी से बेफिक्र लेकिन दूसरों की बेहतरी के बारे में हमेशा फिक्रमन्द अपने जीवन में कुछ अवसाद ग्रस्त लेकिन विराट और साधारण मानव जीवन के प्रति उम्मीद और चमक से भरे हुए. खुद फटेहाल और भिखारी होते हुए भी किसी दूसरे को फटेहाल और भिखारी के रूप में न देखना चाहने और फिर भी उसे देखते रहने की हमारी सामूहिक विडम्बना की पहचान नवीन की कविता में जगह-जगह मिलती है. उनके पहले कविता संग्रह 'नींद से लम्बी रात' की ज्यादातर कविताएँ इसी करुण सम्वेदना से उपजी थीं. सन 2000 में अपनी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए संग्रह 'जब खुद नहीं था' की एक कविता में वे कहते हैं : *पहचान का वहाँ कोई था नहीं/ अनजानों की भीड़ में इतने चेहरे/मेरे पास से निकले/उनकी जिन्दगियाँ/बस्तियों में बहुत दूर-दूर दीखीं. पर लौटना हुआ/ हर बस्ती की सड़क पर मैं/ लौट रहा था... कितने दिनों के बाद लौटा/ इतने घरों में एक साथ.'* एक और कविता में नवीन यही कामना करते हैं कि *'मुझे इतनी दूर छोड़ आना/कि बराबर संसार में आता रहूँ.'* इन पंक्तियों में एक मूलभूत उदासी है, अपने ज़ीवन का स्थगन है, उसके छूट जाने का कुछ नियतिवादी स्वर है लेकिन उस संसार में फिर से आने की उत्कट इच्छा भी है जिसमें अजनबी लोग हैं जिनकी जिन्दगियाँ बस्तियों में दूर-दूर तक फैली हुई हैं और कवि उनके लौटने में अपना लौटना इतनी शिद्दत और उम्मीद के साथ देखता है.

नवीन सागर ऐसे ही मनुष्य थे : मित्रों-परिचितों और अपने समय की हलचलों से गहरा सरोकार रखने वाले, बेचैन और जिन्दादिल, सम्बन्धों के संसार में हर समय एक नया दरवाजा खोलने की इच्छा से भरे हुए. सन् 1976-77 में करीब डेढ़ वर्ष के भोपाल-प्रवास के दिनों नवीन से अकसर मुलाकात होती थी और वे मेरी नौकरी की जगह मध्यप्रदेश कला परिषद के सामने ही मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादेमी में सम्पादक के पद पर थे. तब उनका पहला कविता संग्रह 'नींद से लम्बी रात' (1996 में प्रकाशित) नहीं था लेकिन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी कई कविताएँ, मसलन, 'मैंने समझदारी की', 'मैं तो नागरिक', 'अच्छी सरकार', 'मैं संतूर नहीं बजाता' और 'इस घर में' अपने कथ्य के नयेपन, कला की तुलना में जीवन के प्रति ज्यादा पक्षधरता और निम्नमध्यवर्गीय विडम्बनाओं की अभिव्यक्ति के कारण चर्चित थीं. खासकर 'अच्छी सरकार' और 'मैं संतूर नहीं बजाता' शीर्षक कविताएँ काफी लोकप्रिय इसलिए भी थीं कि वे तत्कालीन भोपाल के अत्यधिक कला-संस्कृतिमय संसार में हस्तक्षेप करती हुई लगती थीं. 'मैं संतूर नहीं बजाता' में नवीन कला और जीवन के बीच एक बड़ी फाँक, एक बड़ी बाधा की ओर मार्मिक संकेत करते हैं; *होते-होते हालत आज हुई/कि मैं इतनी बड़ी दुनिया में/संतूर नहीं बजाता... यह नहीं कि मैं बजाना चाहता हूँ/जानना चाहता भर हूँ आखिर वह/क्या था/ मेरे और संतूर के बीच/कि मैं दूर-दूर तक/संतूर नहीं बजाता.* इस सांकेतिकता को अगर नवीन की एक और कविता 'अच्छी सरकार' से जोड़कर देखें तो कला और मनुष्य के सम्बन्धों का प्रश्न एक राजनैतिक, सत्ता-केन्द्रिक प्रश्न बन जाता है. *'यह बहुत अच्छी सरकार है/ उसके एक हाथ में सितार दूसरे में हथियार है/सितार बजाने और हथियार चलाने की/तर्जुर्बेकार है.'* इस प्रभावशाली कविता की आगे की पंक्तियों में कवि एक हत्या की गवाही देने जाने की सोचता है और उसका यह इरादा जैसे ही दरवाजा खोलकर बाहर निकलता है, सरकार की गोली से मार दिया जाता है और फिर अन्त में अपने मध्यवर्गीय चोले में जा चुका कवि जैसे हमारे वक्त की ही एक विडम्बना बलताता है : *'मैंने दरवाजे से झाँककर कहा/मुझे पता नहीं यह किसका इरादा रहा/इस तरह मैं एक अच्छा नागरिक बना/फिर मैंने झूम-झूम कर सितार सुना.'* दरअसल ये दोनों कविताएँ जीवन, कला और सत्ता के रिश्तों की एक अद्भुत प्रतिबद्ध व्याख्या करती थीं. यह याद करना कठिन है कि नवीन ने ये कविताएँ मेरे भोपाल-प्रवास के दौर में ही लिखी थीं या बाद में (क्योंकि मैं जब कभी भोपाल जाता था, एक शाम नवीन के घर मित्र लोग जरूर जुटते थे), लेकिन यह याद है कि नवीन की ऐसी कविताओं की आँच भोपाल के साहित्यिक पर्यावरण में बनी रहती थी. नवीन सागर निम्नमध्यवर्गीय विडम्बनाओं के तीखे आलोचक के रूप में तेजी से उभर रहे थे जिसका साक्ष्य उनका पहला संग्रह 'नींद से लम्बी रात' है जिसकी ज्यादातर कविताएँ इतनी ठोस, सच्ची और सार्थक हैं कि एक दशक से भी ज्यादा समय बीतने के बावजूद वे पुरानी नहीं लगतीं. 'मैंने समझदारी की' शीर्षक कविता में नवीन कहते हैं, *'चाकू को चाकू/ और/हत्या को हत्या/कहने से मैं बचा/...मैंने दोनों को पहचाना/अनजान बना रहा/काम से काम रखते हुए/समय पर घर आते हुए/एक दिन मेरे पीछे चाकू/और आगे-आगे हत्या...'* दरअसल आतंक और भय के ऐसे चित्र और उनके

सामने निम्नमध्यवर्ग की खुद को बचाये रखने की सावधानियों और कायरताओं की चीरफाड़ नवीन की कविताओं की एक मौलिक पहचान है.

सच्ची कविताएँ प्रायः अपने पीछे छिपे रचनाकार की छवि भी दिखला जाती हैं. 'नींद से लम्बी रात' में संकलित कविता 'जगह-जगह दरवाजे हमारे' ऐसी ही है जो नवीन सागर के व्यक्तित्व से गहरे जुड़ी हुई लगती है. यह संग्रह की पहली कविता है. आगे की कविताओं के दरवाजे की तरह. इसे पढ़ते हुए हम जान सकते हैं कि नवीन किस तरह के व्यक्ति थे : *'दीवारें सिर्फ छप्पर साधने के लिए थीं/ जगह-जगह दरवाजे हमारे/खुले हुए थे/ खिड़कियाँ थीं/बारजे के आँगन थे और छतें/सड़कों पर हम अकसर मिल जाते थे...सुनने और कहने के लिए श्री शब्द थे. उनमें अजन्मे शब्दों की बड़ी गूँज थी.'* अपने दरवाजे हमेशा खुले रखना और दूसरों के दरवाजे खुलने की आकांक्षा करना नवीन सागर का स्वभाव था और शायद यही वजह है कि भोपाल में उनके मित्रों की संख्या सबसे अधिक रही, सबसे ज्यादा बैठक उनके घर जमती थीं. जिनमें कवियों के अलावा भोपाल के या बाहर से आये चित्रकार, मूर्तिशिल्पी, रंगकर्मी शामिल होते थे. खुद नवीन सागर की रुचि का दायरा बहुत बड़ा था और कविता के अलावा चित्रकला, मिट्टी के काम, लोककला, नाटक संगीत और बच्चों के शिक्षण से भी वे गहरे जुड़े थे. 'आसमान भी दंग' नाम से उनकी बाल कविताओं का एक बहुत अच्छा संग्रह काफी पहले छपा था लेकिन बाल साहित्य की उपेक्षा के वातावरण से उस पर कोई खास चर्चा नहीं हुई. उन्होंने चित्रकला में काफी काम किया और कई बार यह भी सोचा गया कि उनकी पेंटिग और रेखांकनों की एक बड़ी सी प्रदर्शनी लगायी जाये. पता नहीं, शायद ऐसा हुआ भी हो. नवीन सागर के भीतर लगता था जैसे कवि, कुम्हार, बढ़ई, शिल्पी, खिलौनासाज, गायक, अभिनेता, कहानीकार आदि कई व्यक्तित्व समाहित हैं और उन्होंने मिलकर एक व्यक्तित्व का शिल्प गढ़ा है.

और इस व्यक्तित्व पर उदासी की एक परत प्रायः नजर आती थी. जैसे एक बड़ी सी उजली चमकीली मुस्कराहट पर शाम का धुँधलका उढ़ा दिया गया हो. इस धुन्ध में से ही शायद नवीन दुनिया के मेले को देखते थे. इसी के कारण शायद उनके कवि रूप में एक रूमान भी जुड़ गया था. भोपाल में उन दिनों नरेन्द्र जैन और नवीन सागर ही ऐसे कवि थे जो असंदिग्ध रूप से आधुनिक, प्रतिबद्ध और वामपन्थी होते हुए भी कुछ क्लासिकी, रूमानी छवि को, उसके विलक्षण बिम्ब को बनाये रखते थे, जाहिर है यह छवि उन्हें और भी बेपरवाही और बेखुदी से अलंकृत करती रहती थी, लेकिन यह कोई गीतकारनुमा आत्ममुग्ध छवि कतई नहीं थी, बल्कि इसके उलट, उसका रंग सूफियाना था. खुद को लेकर इससे ज्यादा बेपरवाही क्या हो सकती है कि अपने जीवन काल में नवीन सागर का एक ही कविता संग्रह प्रकाशित हो पाया. और मृत्यु के बाद सन 2001 और 2006 में दो संग्रह छप गये : 'जब खुद नहीं था' और 'हर घर से गायब'. जैसा कि इन शीर्षकों से ही पता चल जाता है, नवीन के बाद की कविताओं में अनुपस्थिति का एहसास घना होता गया है. 'जब खुद नहीं था' की कई कविताओं से हम 'नींद से लम्बी रात' से अलग एक अन्तर्मुखी संसार को देखते हैं, वह जैसे पहले संग्रह के 'बहिरंग' का अंतरंग है, 'अँधेरे में अँधेरे की चिलक' जैसा, एक बेहद सक्रिय जीवन का आन्तिरक दृश्यालेख : *'बहुत, दूर/न जाने कब कहाँ/जहाँ मैं नहीं हूँ/खुद को याद आ रहा हूँ.'*

नवीन सागर ऐसे मनुष्य थे जिनसे तुरन्त और अनायास ही लगाव हो जाता था. जिनके हृदय तक पहुँचने के लिए बाधाओं को पार नहीं करना पड़ता था और न आवरण हटाने होते थे. क्योंकि ऐसे लोगों का अन्तर्तम अकसर उनके चेहरे या उनकी आँखों या उनकी मुस्कान में झलक उठता है. नवीन की बाद भी कुछ कविताओं में बन्द दरवाजों और उन पर दी जाने वाली दस्तकों का जिक्र आता है. अपने दरवाजे हमेशा खुले रखने वाले रचनाकार के लिए यह एक त्रासद स्थिति हो सकती है. बाद के वर्षों में सुनने में आया कि नवीन की हताशा और बीमारी बढ़ रही है और वामपन्थी मित्रों की जो दुनिया भोपाल में थी वह भी बिखरने लगी है. 'जब खुद नहीं था' की भूमिका में एक जगह नवीन ने मार्क्सवादियों के प्रति अपना क्षोभ भी व्यक्त किया जिसकी वजहें मैं समझ नहीं पाया और इतने सशक्त कवि और आत्मीय व्यक्ति के प्रति दुख से भरा रहा. तब तक मैं भोपाल से चला आया था. इतने बरसों बाद आज यही समझ में आता है कि यह परिवर्तन तब हुआ जब इस देश में मित्रताओं की बहुमूल्यता के घटने का दौर आ गया.

▣

● 251 निर्माण अपार्टमेंअ, मयूर विहार फेस-1, दिल्ली



(बाएँ से) नवल शुक्ल, विष्णु नागर, लीलाधर मंडलोई, नवीन सागर, राजकुमार केसवानी, राजेश जोशी, हरि भटनागर और देवीलाल पाटीदार

◆ संस्मरण ◆

कुछ कुछ कहा बहुत कुछ अनकहा

अशोक अग्रवाल

नवीन से पहली मुलाकात का स्मरण आज भी है. वर्ष 1972 में जून की तपती दोपहरी में पसीने से लथपथ मुझसे मिलने हापुड़ आये तो सुखद आश्चर्य हुआ. 'धर्मयुग' में उनकी एक कहानी प्रकाशित हो चुकी थी. मध्यवर्गीय परिवार के जटिल सम्बन्धों की सम्वेदनात्मक व्याख्या करती वह कहानी अपने आडम्बरहीन शिल्प, अनगढ़ भाषा और सहज अभिव्यक्ति के चलते मुझे पसन्द आयी थी. शुरुआत में नवीन चुप्पे, संकोची और असहज रहे लेकिन जैसे ही मैंने उनकी इस कहानी की चर्चा की तो वह सहज होने लगे. देर रात जब मैंने उन्हें गाजियाबाद जाने वाली बस में बैठाया तो लगा ही नहीं कि हम आज पहली बार मिले हैं. उसी दिन मुझे पता चला प्रख्यात राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त उनके नाना थे.

नवीन उन दिनों बेरोजगार थे. छाया से उन्होंने उनके परिवार के विध्वसंकारी प्रतिरोध के बावजूद प्रेम विवाह किया था. नवीन के बड़े भाई रवि बृजपुरिया गाजियाबाद में बैंक मैनेजर थे और नवीन-छाया उन्हीं के साथ रह रहे थे. हमारी मुलाकातों का सिलसिला प्रारम्भ हो गया था. हम दोनों को एक दूसरे के साथ की आदत सी हो गयी थी. रवि भाई साहब की नवीन के प्रति सहृदयता, उदारता, चिन्ता और प्रेमभाव इतना दुर्लभ और आत्मीय था कि कभी-कभी नवीन से ईर्ष्या भी होती.

कुछ साल गाजियाबाद-मोदीनगर रहकर नवीन भोपाल चले गये. म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी में उन्हें सम्पादक की नौकरी मिल गयी थी. 1980 के आसपास प्रकाशन कार्य से मेरा भोपाल आना जाना प्रारम्भ हुआ. पहली दो पात्राओं के चाहने के बावजूद मेरा उनसे मिलना सम्भव नहीं हो सका जिसका उन्हें गहरा मलाल था. भोपाल में मेरा निवास राजेश जोशी का जवाहर चौक वाला घर हुआ करता था. मैं नवीन से मिलने ग्रन्थ अकादमी गया तो नवीन ने सारे गिले-शिकवे भुला मुझे गले लगा लिया. कुछ ही क्षणों में हम फिर से पुराने दिनों में लौट आये. राजेश के घर नवीन सिर्फ मुझसे मिलने के लिए आते. राजेश के प्रति उनके मन में कोई ग्रन्थि थी जो उन्हें वहाँ सहज नहीं रहने देती थी, यहाँ तक कि लघुशंका के लिए घर के टायलेट का इस्तेमाल करने के बजाय वह चुपचाप बाहर खिसक जाते.

अगली भोपाल यात्रा में मैं मय सामान सीधे नवीन के घर जा पहुँचा. उनकी प्रसन्नता का ओर छोर नहीं था. फिर, नवीन का घर उनके जीवन के आखिरी समय तक मेरे लिए भोपाल में अपना घर बन गया. पत्नी छाया, दोनों बेटे अनिरुद्ध- राजा और बेटी समता के प्रति उनके मन में जो प्रेम और लगाव था वही अपने मित्रों के लिए भी था. उनकी मित्रमंडली का दायरा व्यापक था, सिर्फ रचनाकार मित्र नहीं चिरगाँव, झाँसी और सागर के बाल सखा और सहपाठी भी मय अपने मित्रों और समूचे परिवार के साथ उनसे अंतरंगता से जुड़े थे. इस मित्र मंडली की सारी उलझनें और समस्याएँ उनकी अपनी बन जातीं. स्वयं गर्मियों की तपिश सहते हुए अपने कमरे का पंखा उतरवाकर मित्र के कमरे में पहुँचा देना, स्वयं कर्ज में लदकर मित्रों की आर्थिक मदद करना, पीठ के असह्य दर्द के बावजूद सहकर्मियों और ग्रन्थ अकादमी के अधिकारियों की उपेक्षा करते हुए कार्यालय से अनुपस्थित हो मित्रों को अपने स्कूटर पर लादे उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिए शहर भर में भटकना. दरअसल नवीन का समूचा व्यक्तित्व ही अनियन्त्रित भावनाओं और तीव्र संवेगों से परिचालित होता था. इस स्वभाव के चलते इसका खामियाजा उनके परिवार को और सबसे अधिक स्वयं उन्हें उठाना पड़ता.

स्वभाव से नवीन उत्सवधर्मी थे. दूसरे रचनाकारों की रचनाओं के प्रति प्रशंसाभाव, उत्साह और आग्रहशीलता और अपने लिखे को लेकर हमेशा संकोच, हिचकिचाहट और शंकाग्रस्त रहना. कोई मित्र लेखक भोपाल आया और उसके सम्मान में उनके घर कोई आयोजन न हो, उनकी मित्रमंडली न जुटे, यह सम्भव ही नहीं था. नवीन का पूरा परिवार उत्साह से इसमें जुट जाता. छाया सुबह से रसोईघर में व्यस्त हो जाती. आर्थिक संकट के बावजूद नवीन सारी व्यवस्था स्वयं करते और उत्साहित होते. चन्द्रकान्त देवताले, विनोद कुमार शुक्ल, बल्लभ सिद्धार्थ, तेजी ग्रोवर, शशांक, नरेन्द्र जैन के रचनापाठ के ऐसे घरेलू आयोजनों का मैं साक्षी रहा हूँ.

युवा रचनाकारों की रचनाओं को धैर्य से सुनना, उन्हें तराशना और उन्हें प्रोत्साहित करना नवीन का प्रिय शगल था. उनके व्यक्तिगत सुख दुखों और संघर्षों में सम्वेदना से जुड़ना. नवल शुक्ल, संतोष चौबे, बलराम गुमाश्ता, नीलेश रघुवंशी, अनवारे इस्लाम, राजकुमार केसवानी, रामकुमार तिवारी, राजेन्द्र धोड़पकर. ..जैसे अनगिन रचनाकारों का समूह नवीन से अन्तरंगता से जुड़ा था. यह सम्भव ही नहीं था कि मैं भोपाल में ठहरा होऊँ और वह स्कूटर पर मुझे बैठाये उल्लास के साथ उनसे मिलवाने न ले जा रहे हों. नवीन की अनुपस्थिति उनकी इस मित्र मंडली को कितना रिक्त कर गयी है इसका अहसास उनके सिवाय किसे हो सकता है?

नवीन का मस्तिष्क हर समय सृजनात्मक संवेगों से चालित रहता. उँगलियाँ कुछ न कुछ रचने के लिए थिरकती रहतीं. दफ्तर की मेज पर खाली कागज फैलाये मनोयोग से पैंसिल या बालपेन की सहायता से अपने कल्पनालोक के नगर, पहाड़, समुद्र, गलियाँ, चेहरे, फूल.. .रचते रहते. सामने बैठे मित्र से उनका वार्तालाप जारी रहता. चित्र पूरा होने पर धीरे से उसे मेज की दराज में खिसका देते. उनकी दराज ऐसे अनगिन चित्रों से भरी रहती.

नवीन अद्भुत किस्सागो थे. उनके साथ रहना उन विलक्षण चरित्रों के बीच भी रहना होता. ननिहाल के लम्बे-लम्बे सूने गलियारे, वह सनकी मामा जो जीवन भर बड़े-बड़े रजिस्टरों में अपने सुन्दर लेख में सिर्फ पिता की प्रकाशित कृतियों को उतारते रहते, ननिहाल का वह घरेलू नौकर जिसने पिछले 40 वर्ष से घर से बाहर कदम भी नहीं रखा था, अन्धा

कुत्ता लालू जो अपनी रोटियाँ झाड़ियों में छिपाकर भूल जाया करता था और फिर पूरी रात नवीन और वह एक साथ उन्हें खोजा करते थे, वह बूढ़ा पतंगसाज जिसे पतंगे बनाने में महारथ हासिल थी और करने के बाद भी उसकी आत्मा दीवारों पर टंगी किसी पतंग में निवास करने लगी थी...मदारी, आवारा जेबकतरे, खूंखार गुंडे, बिगड़ैल रईस, बड़े-बड़े बंगलों में मँडराते भिन्न-भिन्न प्रजातियों के भूत-प्रेत, नौटंकियों और रामलीला के कलाकार. ..हजारों विलक्षण चरित्र...जिन्हें नवीन को इत्मीनान और फुर्सत से खाली कागजों पर जीवित करना था...जो नवीन के साथ हमेशा के लिए गहरी नींद में सो गये. नवीन के चरित्रों की वह गठरी आज भी मेरे पास रखी है. वह नवीन की धरोहर है जिसकी गाँठें खोलने की कुव्वत सिर्फ नवीन के पास थी.

उस रात की स्मृति आज भी बनी है. बेहद उजली और जगमगाते तारों से भरी. साँची के स्तूपों को देखने-घूमने के बाद हम विदिशा की ओर लौट रहे थे. निर्जन सड़क पर नवीन के लहराते हुए स्कूटर के पीछे बैठा मैं निःशब्द नवीन को सुन रहा था...नवीन के अन्तर्लोक में निःसृत होती अछूती कविताएँ. ..उसके स्वप्न, इच्छाएँ और वासनाएँ...संगीत लहरियों की तरह बहते हुए शब्द...मैं अछूते वन्य पुष्प बीज को पुष्पित होते देख रहा था. ..निर्जन बंजर प्रान्त सहसा महकते फूलों की घाटी में तब्दील हो रहा हो जैसे 'हमारी साँसें. ..हमारी बातें...हमारे शब्द...कभी नष्ट नहीं होंगे...हमारे बाद भी...हमेशा अन्तरिक्ष में विद्यमान रहेंगे...इन्हें इस कोलाहल में कोई सुन पाये या नहीं...' नवीन ने कहा था.

इस आलेख के साथ नवीन सागर का एक पत्र प्रकाशित है. यह पत्र नवीन ने 'शुभकामना पत्र' की आकृति में भेजा था. मुखपृष्ठ पर पीले, हरे और सुनहरे रंगों से उकेरे सूरजमुखी के फूल...पत्र के सन्दर्भ में एक तथ्य की ओर इंगित करना चाहूँगा. नवीन का स्थायी आग्रह था कि मैं जब भी भोपाल आऊँगा तो मेरी लिखी नयी कहानी भी साथ होनी चाहिए. कहानी के प्रति नवीन की उत्कंठा उत्प्रेरक का कार्य करती. भोपाल से लौटे मुझे 2-3 दिन ही हुए थे कि नवीन का तल्ख भाषा में लिखा पोस्टकार्ड मिला. इस पोस्टकार्ड ने मुझे क्षुब्ध और मर्माहत किया, विशेषकर इसलिए भी कि जिस व्यक्ति के साथ मैं अभी इतना अच्छा समय गुजारकर आया हूँ उसने कभी पत्र में लिखी बातों की ओर संकेत भी नहीं दिया. मैंने उस पोस्टकार्ड का कोई उत्तर नहीं दिया. कुछ दिनों बाद मेरा फिर से भोपाल जाना हुआ. हमेशा की तरह इस बार भी मैं उसी के घर ठहरा. सबकुछ पूर्ववत था जैसे वह पोस्टकार्ड कभी हमारे बीच आया ही न हो, फिर भी कोई संकोच कोई दूरी हमारी सहजता को बाधित सी कर रही थी. यह पहली बार हुआ था कि नवीन ने लौटने के समय तक मेरी नयी कहानी के बारे में कोई बात नहीं की. पीठ दर्द की बेसाख्ता तकलीफ और बुखार के बावजूद मेरे लाख मना करने पर भी हमेशा की तरह मुझे मय सामान स्कूटर पर लादे स्टेशन के लिए निकला.

ट्रेन छूटने में कोई आधा घंटा रहा होगा. हम पुल के नीचे अखबार बिछाये बैठे थे. नवीन के मुँह से बेसाख्ता निकला—'अरे...तुम नयी कहानी साथ लाने वाले थे.' मेरे इनकार करने पर उसने फिर आग्रह किया—'ट्रेन खुलने में अभी समय है. रोशनी भी पर्याप्त है. ' मैंने उसके सन्तप्त चेहरे की ओर देखा और चुपचाप बैग से कहानी बाहर निकाली. गहरे कोलाहल- हलचल के बीच मैंने कहानी का पाठ किया. अपने पत्र में नवीन ने उसी ओर इशारा किया है.

ट्रेन ने अपने रवाना होने की सूचना दी. पहली दफा एक दूसरे से विदा लेते हुए हमारी आँखें नम हुई थीं.

नवीन सागर का पत्र

प्रिय अशोक,

तुम्हारा पत्र पढ़कर मैं घबरा गया. ऐसा कुछ नहीं हुआ है. हो सकता था. पर मैं अब सम्भल चुका हूँ. बीस दिन से बिस्तर पर आराम से लेटा हूँ. इस दौरान क्या बताऊँ कि कितनी बार तुम्हें पत्र लिखने का मन हुआ पर मेरा अपराध बोध जाता नहीं. मैंने तुम्हारे साथ ऐसा अमानवीय व्यवहार किया है, ऐसा आघात तुम्हें पहुँचाया है कि तुम भले मुझे माफ कर दो, पर मैं क्या करूँ मुझे तुम्हारे उदास बिम्ब ही दिखते हैं. स्टेशन पर हो रही चर्चा वाली कहानी के उस विराट पुल के नीचे मैं जैसे तुम्हें छुरा घोंपकर आ गया हूँ और तुम वहीं उस पुल के नीचे बहते खून से बेखबर स्तम्भित खड़े हो. मैं शायद आखिरी आदमी होता जो तुम्हारा अपमान करता पर मैं पहला निकला. मैं अपने स्वार्थ अपने हालात से इस कदर कैसे घिर गया था कि मैंने तुम्हारी उन आँखों तक के बारे में नहीं सोचा जो मुझे जब देखती हैं तो मुझे लगता है कि मेरा होना कहीं न कहीं सुन्दर है उसका कोई अर्थ है. तुमने मुझे माँ की तरह प्यार दिया लेकिन मैंने सिर्फ पैसे के लिए सब भुला दिया. यह मुझसे हुआ कैसे! नहीं इसकी कोई माफी हो ही नहीं सकती. मैं हिमा के तो सामने जाने का साहस ही नहीं कर सकता. तुम्हारा विश्वास तोड़ना फिर भी एक भूल भर मान सकता हूँ पर उनका विश्वास तोड़कर मैंने घोर पाप किया है. तुम उन्हें उस दिन कितने अकेले और अकेले लगे होगे. वे मेरी हृदयहीनता से दहल गयी होंगी जैसे माँ अपने बच्चे को छत से नीचे गिरते देख रही हो ऐसे तुम लगे होगे और मैं छत पर तुम्हें गिराने के बाद नीचे झाँकता उन्हें दिखा होऊँगा. न मैं विनोद जी का सामना कर सकता हूँ. वे क्या सोचते होंगे! मैं जो नहीं था जो नहीं हूँ वह बन गया किस मुँह से वहाँ आऊँ और क्या चिट्ठी लिखूँ.

मसरूर से मैं मिल नहीं पाया. वे मंगलवार को आयेंगे आज शनिवार है. यानी शुक्रवार की रात है. हो सकता है उनके आने से पहले यह पत्र तुम तक पहुँच जाये. इस बीच अशोक माहेश्वरी को मैसिव हार्ट अटैक हुआ है 14 फरवरी को. वे अस्पताल में हैं. अभी देखने भी नहीं जा सका. दस तारीख को वे मेरे कमरे में तीन-चार घंटे सोये रहे थे तब मुझे बीमार तो लगे थे पर यह सब अप्रत्याशित ही है. वे अपने हार्ट की समस्या छिपाये रहे जबकि एक साल पहले डॉक्टर ने उनके बायें वाल्व में खराबी बतायी थी. रीता और बच्चे बेहाल हैं. मैं दो-एक दिन में जाऊँगा. तुम चिन्ता मत करना. मुझसे जो बन पड़ेगा. तुम्हारी तरह ही अशोक के लिए करूँगा. अपना खयाल रखना और कुछ लिखा हो तो भेजना. मुझे तुमसे मिलने की बेहद इच्छा है देखो कब मेरी हिम्मत पड़ती है.

विनोद जी और हिमा जी को मेरा सादर प्रणाम कहना. दोनों बेटों को प्यार. भाभी को सलाम. यहाँ बाकी सब ठीक है. छाया नमस्ते कह रही है. पत्र लिखना. फोन में पैसे बर्बाद मत करना.

तुम्हारा अभिन्न
नवीन सागर

▣

● रेवती कुंज, स्टेशन रोड, हापुड़

◆ संस्मरण ◆

नवीन सागर

उदय प्रकाश

'यह है मेरी नैतिकता, या अध्यात्म, या फिर यह मैं ही हूँ. हर किसी के पास से गुजरता हुआ कोई मुसाफिर, यहाँ तक कि अपनी अन्तरात्मा के भी करीब से गुजरता हुआ. लेकिन मैं किसी से भी सम्बद्ध नहीं हूँ. किसी से जुड़ा-बँधा नहीं. मेरी कोई आकांक्षा नहीं है, न कोई एषणा. मैं कुछ भी नहीं हूँ—बस फकत निर्वैयक्तिक सम्वेदनाओं का एक धुँधला, गड्डमड्ड सा केन्द्र. संसार की बहुरूपताओं और विविधताओं को प्रतिबिम्बित करने वाला एक पुराना कोई तिड़का हुआ आईना.

मुझे बिल्कुल नहीं पता कि इस हाल में मैं प्रसन्न हूँ या नहीं, न ही मुझे इसकी कोई परवाह है.'

नवीन सागर की याद के साथ ऊपर का यह उद्धरण अपने आप स्मृति में कौंधता है. सबकुछ के बिल्कुल करीब से गुजरते किसी होने का होना. उनकी किसी आकांक्षा या तृष्णा के होने का पता कम से कम उनसे मिलते हुए इधर मुझे नहीं चला. लेकिन लगता है कि एक बात ऐसी है, जो इस उद्धरण से बिल्कुल उलट उनके व्यक्तित्व में थी. वह थी उनका हर किसी घटना, अनुभव और सम्बन्ध के साथ इतनी गहराई से संपृक्त हो जाना कि उससे मुक्ति की छटपटाहट में उनके वर्षों खर्च हो जाते थे. बल्कि कहें कि नवीन उनसे जुड़े रहते हुए छूटने की विकट विरोधाभासी कोशिश में निमग्न रहते थे. समूची शिद्दत के साथ छूटते हुए जुड़े रहना., और फिर अचानक अपने अलग झटक दिये जाने की वेदना, या अलगाव की यन्त्रणा उनके होने को आक्रान्त किये रखती थी. उनकी बहुतेरी कविताएँ और कहानियों की थीम अपने अचानक अलग कर दिये जाने के अनुभवबोध और उसके तनाव से जुड़ी हुई हैं.

हाँ, यह जरूर लगता है कि भोपाल में रहते हुए, वे उस शहर के बिल्कुल करीब से, बिना उससे जुड़े-बँधे गुजर जाना चाहते थे. वे भोपाल से, जो कि मध्यप्रदेश की राजनीतिक राजधानी है—सांस्कृतिक और राजनीतिक सत्ताकेन्द्र, उसके करीब से, बिना उससे जुड़े गुजरना चाहते थे. शायद रघुवीर सहाय की वे पंक्तियाँ कभी कभी उन्हें याद आती रही हों, जिनमें कहा गया था कि जहाँ बहुत अधिक संस्कृति होगी और बहुत अधिक कला, वहाँ मनुष्य नहीं होंगे. उसी शहर में सपरिवार रहते हुए, कविताएँ और कहानियाँ लिखते हुए और अपने अन्तिम दिनों में असंख्य चित्र बनाते हुए, वे उससे असंपृक्त हो जाना चाहते थे. दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ. जिस शहर में आपका वास हो, आप लाख उसे छोड़ना चाहें, वह शहर आपको नहीं छोड़ता. ऐसे कई आघात नवीन को उस शहर से मिले जिनके बारे में उन्होंने कभी-कभार अपने मित्रों से चर्चा की थी. मुझसे भी.

कहते हैं कि किसी शहर के अगर सबसे परेशान आदमी से मिलो तो वह अपने आप में एक सवाल जैसा होता है. अपना उत्तर खोजता हुआ एक बेचैन प्रश्न. और अगर उसी शहर के सबसे खुशहाल और प्रसन्न आदमी को तुम खोज लो, तो उस अभागे सवाल का उत्तर तुम्हें अपने आप मिल जायेगा. उसी शहर में.

तो, राजधानी भोपाल के बेचैन प्रश्नों के उत्तर उसी शहर में मौजूद हैं और उन्हें खोजने के लिए अधिक भटकने की जरूरत नहीं हैं. आज नवीन के न होने के बाद भी उन ताकतवर प्रसन्नों का निर्मम और निर्लज्ज चमकना दूर-दूर तक दिखता है.

नवीन सागर को मैंने सबसे पहले 1972-73 में सागर विश्वविद्यालय के टैगोर छात्रवास की पहली मंजिल के एक रूम में, मेज पर झुके हुए प्रूफरीडिंग करते हुए देखा था. वह कमरा प्राचीन इतिहास में शोधकार्य करने वाले और हमेशा गाढ़े-मोटे लेंस का चश्मा लगाये मेधावी हँसमुख बातूनी ब्रजेश कठिल का कमरा था. अब डॉ. ब्रजेश कठिल कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में प्राध्यापक हैं. तब के बाद उनसे बस फिर दो ही मुलाकातें हुईं और दोनों बार नवीन हम लोगों की बातचीत के विषय थे. हम चिन्तित रहते थे, उनके स्वास्थ्य के बारे में. खासतौर पर तब से, जब से उनके हृदय को पहला आघात लगा था.

टैगोर हॉस्टल के उस कमरे में मैं अकसर जाने वाले सीनियर दोस्तों के साथ जाता रहता था. इन लोगों में एक थे गोविन्द द्विवेदी, विश्वविद्यालय में समकालीन कविता और साहित्य पर सोचने और बात करने वाले युवा कवि. शमशेर की कविताओं पर उनकी कई विलक्षण बातें मुझे अभी तक याद हैं. उन्हीं दिनों हमारे हाथ दिल्ली में शमशेर की षष्ठिपूर्ति के अवसर पर प्रकाशित की गयी किताब लगी थी जिसमें रघुवीर सहाय ने शमशेर और उनकी कविताओं पर एक अपराम्परिक किस्म का आलेख लिखा था.

हिन्दी विभाग में हिन्दी साहित्य पढ़ते हुए तब तक इस नये तरीके से किसी कवि और कविता को पढ़ने की पद्धति हमें पता नहीं थी. यह रचना की एक नयी पाठ-पद्धति और आलोचना के एक नये सृजनात्मक विवेक से हमारे पहले साक्षात्कार के दिन थे. नवीन के साथ पहला परिचय, जो बाद में एक गहरे लगाव में बदला,

शमशेर की कविताओं को लेकर हमारी सहमति उत्तेजक बातचीत के दौरान ही हुआ. यह सोचना भी अजीब है कि हम सब शमशेर की कविता 'टूटी हुई बिखरी हुई' साथ-साथ गुनगुनाते थे, उसके प्रशंसक थे, उसमें खो जाते थे फिर भी हम एक दूसरे से तेज आवाज में उत्तेजक बहसें और झगड़े करते थे. इन बहसों में सबसे चुप नवीन होते थे और सबसे मुखर गोविन्द. गोविन्द द्विवेदी उन दिनों डॉ. प्रेमशंकर के अधीन शोधकार्य कर रहे थे और 'टूटी हुई बिखरी हुई' के साथ-साथ तम्बाकू के सागर वाले गुटका और गणेश छाप मंगलूरी बीड़ी के स्वाद का चस्का उन्होंने ही मुझे लगाया था, जो आज इतने वर्षों बाद भी उनकी स्मृति के साथ बदस्तूर मुझमें कायम है.

गोविन्द द्विवेदी और नवीन सागर, दोनों में कविता की अपनी निजी गहरी मौलिक समझ थी. नागार्जुन की 'कालिदास सच सच बतलाना, अज रोया या तुम रोये थे' और मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' भी उन दिनों हमारी बहस और प्रशंसा का केन्द्र बने थे. ब्रजेश कठिल के उस कमरे में हमारे साथ कई बार केवल जैन और ओ.पी. सिंह भी होते थे. केवल जैन अर्थशास्त्र के शोधछात्र थे और अँग्रेजी में भी कभी कभार लिखते थे. उनसे बहुत वर्षों से भेंट नहीं हुई. इन सारे लोगों में मैं और ओ.पी. सिंह को छोड़कर बाकी सभी समाजवादी युवजन सभा में थे. लोहिया, गाँधी और नरेन्द्र देव एक तरफ और मार्क्स, रणदिवे, डांगे और नम्बूदिरीपाद दूसरी तरफ. मैं और ओ.पी. सिंह स्टूडेंट्स फेडरेशन में थे. रमेश दीक्षित, जो अब लखनऊ में राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी में हैं, उन दिनों समाजवादी युवजन सभा के तेज तर्रार और ओजस्वी वक्ता हुआ करते थे. वे भी कभी-कभार सागर आया करते थे. हम सब लोगों के बीच जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्विता भी चलती थी. वे लोग मधु लिमये और मधु दंडवते को बुलाते तो हम लोग हरिशंकर परसाई और होमी दाजी-शकिर अली को ले आते.

विश्वविद्यालय में उन दिनों कुछ और भी थे, जो हमारी तरह हीं अपने समय के सवालों से अलग-अलग तरह से जूझ रहे थे और कहीं न कहीं हम सब एक दूसरे से टकराते रहते थे. इनमें अशोक गांगुली,



आलोक प्रताप सिंह, सुधीर मिश्र, जो बाद में महत्वपूर्ण फिल्म निर्देशक बने, अनिल वाजपेयी, जो सुप्रसिद्ध कवि-संस्कृतिकर्मी अशोक वाजपेयी के छोटे भाई थे और बहुत सारे अन्य लोग. सन् 1974 में जो ऐतिहासिक रेलवे हड़ताल हुई, जिसकी अगुआई जॉर्ज फर्नांडीस ने की थी और गुजरात बिहार का छात्र आन्दोलन, जिसका नेतृत्व आगे चलकर जयप्रकाश नारायण ने सम्भाला और जिसकी परिणति बाद में दुर्भाग्यपूर्ण ऐतिहासिक आपातकाल की घोषणा में हुई, यह समय ठीक उसके पूर्व का समय था. उथल-पुथल, प्रश्नों और उनके उत्तरों के विकल्पों की खोज और उनकी परस्पर टकराहटों से भरा एक बहुत उद्वेलित लोकतान्त्रिक समय.

नवीन सागर बहुत सुन्दर थे. किसी युवा यूनानी देवता की तरह. टैगोर हॉस्टल की दूसरी मन्जिल के उस कमरे में, जो ब्रजेश कठिल का कमरा था, उसमें मेज पर चुपचाप झुके हुए जिस पत्रिका का प्रूफ वे पढ़ते रहते थे, वह पत्रिका थी—'जन'. ओमप्रकाश दीपक के सम्पादन में निकलने वाली समाजवादी पार्टी की केन्द्रीय पत्रिका. 'कल्पना' भी वहाँ मिल जाती थी और साप्ताहिक 'दिनमान' में अगर किसी छात्र या अध्यापक का पत्र उन दिनों छप जाता, तो वह कई दिनों तक विश्वविद्यालय में किसी महान बौद्धिक का चेहरा लगाये, गहन-गम्भीर मुद्रा में घूमता रहता था. किशन पटनायक को हमने उन्हीं दिनों पढ़ा था. केरल में हुई वामपन्थी दलों से जुड़े बौद्धिकों के सेमिनार के बाद प्रकाशित 'इंडिया स्टेट एंड सोसायटी' उन्हीं दिनों हमारे हाथ लगी थी और हमारे बीच 'वर्ग' और 'वर्ण' को लेकर तीखी बहसें चलती थीं. जातिवाद विचारधारा को ही नहीं, समूचे लोकतान्त्रिक ढाँचे को निगल जायेगा, इसका पूर्वानुमान उस समय हममें से किसी को नहीं था. हम सब आदर्शों और असम्भाव्य यूटोपियाओं के पवित्र मोह में खोये युवा थे.

लेकिन एक सबसे रोचक बात यह थी कि उन दिनों हम तीन लोग अपने-अपने जीवन के पहले प्रेम में एक साथ अलग-अलग डूबे हुए थे. हम तीन, यानी नवीन सागर, गोविन्द द्विवेदी और मैं. नवीन जितने सुन्दर थे, उनके प्रेम के प्रति हमारी जिज्ञासा भी उतनी ही गहरी थी. उन्हीं दिनों नवीन की एक कहानी 'धर्मयुग' में छपी और वे हमारे विश्वविद्यालय के स्टार हो गये थे.

फिर नवीन चले गये. वे हमारे हॉस्टल में दिखना बन्द हो गये. पता चला, वे उस लड़की से, जिसे वे बेतहाशा प्यार करते थे, विवाह कर चुके हैं और संकटों के बीच जीवनयापन के संघर्ष में उलझ गये हैं. उनकी सूचनाएँ देर से पता लगाने और पूछने पर मिलती थीं. गोविन्द द्विवेदी ने भी विवाह किया और मैं उस विवाह में बहुत निकट से जुड़ा रहा.

लेकिन मेरा प्यार असफल रहा. मैं टूट-बिखर गया.

लगता है प्रेम सफल हो या असफल, वह जीवन की दिशा, उसकी गतिकी और उसकी त्रिज्या को हमेशा बदल देता है.

1975 में आपातकाल लगा, बहुत से समाजवादी और गैर कांग्रेसी राजनीतिक दलों के लोग मीसा में रातोंरात धर लिये गये. मेरे और मेरे रूममेट जगदीश तिवारी के नाम भी वारन्ट था, विडम्बना यह कि हम दोनों उस राजनीतिक पार्टी से जुड़े हुए थे, जिसके दिल्ली के शिखर नेतृत्व ने आपातकाल को अपना समर्थन दिया था. मैं दिल्ली आ गया और जे.एन.यू. में बिना किसी सोर्स-सिफारिश दाखिला पा लिया. जगदीश छतरपुर में भा.क.पा. के सेक्रेटरी बन गये. टैगोर हॉस्टल के रूम नम्बर 10 में छूटा हुआ मेरा सामान, जिसमें एक रेडियो, बहुत-सी किताबें और घर से लाया

गया मोटे लोहे का एक पुराना सन्दूक था, अब तक मेरे पास नहीं आया. उस सन्दूक में बहुत सारे प्रेमपत्र थे, जिन्हें मेरे अजीज कॉमरेड जगदीश तिवारी अपनी धर्मपत्नी यानी हमारी भाभी को बाद में सुनाते रहे. कई वर्ष बाद, सन् 1982-83 में, जब मैं दिल्ली में 'दिनमान' में था, एक दोपहर जगदीश मिलने आये. वे किसी रैली में भाग लेने आये थे. हम दोनों अपने पुराने दिनों को याद करते हुए हँसते रहे. वहाँ भी हमने नवीन को याद किया.

नवीन सागर के साथ एक बात यह थी कि उन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता था. इसके बावजूद कि उनके होने का कोई शोर कभी नहीं था. उनकी उपस्थिति की कोई आवाज़ नहीं होती थी. यह 1981-82 की बात है, जब मैं भोपाल के संस्कृति विभाग की नौकरी में आया. वर्षों के बाद सागर के छूटे-बिछड़े दोस्त फिर मिलने लगे. नवीन फिर मिल गये. अपनी योग्यता और अनुभव के मुकाबले वे वहाँ किसी सरकारी या अर्द्ध-सरकारी संस्था में किसी छोटे पद पर काम कर रहे थे. ध्रुव शुक्ल, मदन सोनी, संजीव क्षितिज, राजेन्द्र धोड़पकर, उदयन वाजपेयी, राजेश जोशी, विनय दुबे, कमला प्रसाद पांडेय, भगवत रावत, सोमदत्त बहुत सी साहित्यिक प्रतिभाओं से भरापूरा शहर. भारत भवन बन रहा था. प्रख्यात और महान् रंगकर्मी कारन्त जी और चित्रकार जे. स्वामीनाथन भी उन्हीं दिनों सागर आ गये थे. कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा, परसाई जी, शमशेर जी मेरे इमीडियेट बॉस प्रख्यात कवि आलोचक अशोक वाजपेयी ने भारतीय कला और साहित्य की समूची आकाश गंगा (गेलेक्सी) को भोपाल में उतार दिया था. स्वयं मेरे ऊपर उन्होंने इतनी जिम्मेदारियाँ सौंप दी थीं कि अपने लिए फुर्सत और अवकाश के निजी पल निकाल पाना बहुत कठिन होता जा रहा था. मेरे पढ़ने और लिखने के क्षण विरल हो चुके थे. कला परिषद, रवीन्द्र भवन के अतिरिक्त प्रतिष्ठित पत्रिका 'पूर्वग्रह' के काम की जिम्मेदारी भी थी. (इस सारे समय का ब्यौरा फिर कभी)

तो हुआ यह कि स्वामीनाथन भारत भवन के अन्तर्गत 'रूपंकर' नामक लोक एवं आदिवासी कला संग्रहालय की अपनी एक नितान्त मौलिक और महत्वपूर्ण अवधारणा को साकार करने के काम में लग गये. आधुनिकता के सन्दर्भ में अब तक प्रचलित सर्वमान्य मान्यताओं से अलग, वे आदिवासियों और अ-नागरिक (नॉन अर्बन) समाजों-समुदायों के भीतर परिवर्तन की प्रक्रियाओं को दर्शाना चाहते थे. ग्रामीणों और आदिवासी समाजों की बाहरी परिधि पर औपनिवेशीकरण, नगरीकरण और बाजार के आक्रमण या अतिक्रमण से अलग, वे उन समाजों के स्वप्नों और कल्पनाओं के रूपंकर प्रकटीकरणों को एक जगह एकत्र करने की कोशिश में थे. मेरी उनसे कई बार बहसें हुईं, लेकिन उनकी मेधा और उनके जीनियस के सामने मेरे जैसे बन्दे तिनका और धूल थे. बहरहाल, उन्होंने अपने साथ भी मुझे जोड़ लिया और योजना को अमली जामा पहनाने का काम शुरू हो गया. सबसे पहले हमें एक ऐसे गम्भीर और समर्थ व्यक्ति की तलाश थी, जो मध्यप्रदेश की जनसंख्या के नृतात्विक बुनावट-बनावट के बारे में आधारभूत जानकारी रखता हो फिर इसके साथ ही वह कलाओं और लोक कलारूपों के प्रति सम्वेदनशील हो. जाहिर है, हिन्दी के लेखक-अध्यापक किस्म के लोगों से ऐसी अपेक्षा पालना आज की तरह उस समय भी मुश्किल था. आचार्य शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी या डॉ. नामवर सिंह इत्यादि इसमें अधिक मदद नहीं कर सकते थे.

बस, नवीन सागर ही फिर याद आये. आज यह शायद ही कोई जानता हो, कि भारत भवन के अनोखे और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर चुके 'रूपंकर' संग्रहालय के लिए आदिवासी और लोक कलाकृतियों और कलाकारों की खोज के लिए पहले सर्वेक्षण और 'मैपिंग' का दुरूह और चुनौतीपूर्ण काम नवीन सागर ने ही किया, जिसके आधार पर मध्यप्रदेश को छह अलग-अलग खंडों में बाँटा गया और सम्बन्धित जिलों के ग्रामीण और दुर्गम आदिवासी इलाकों में युवा कलाकारों की टीमें भेजी गयीं, जिन्होंने मेहनत के साथ वह सामग्री जुटायी, जिसे 'रूपंकर' में रखा गया और जिसे आज भी देखा जा सकता है.

मैंने निजी कारणों से सितम्बर 1982 में भोपाल छोड़ दिया और 'दिनमान' में एक बहुत ही छोटे सम्पादकीय पद पर काम करने लगा. नवीन से तब भी सम्पर्क बना रहा बल्कि उम्र के साथ साथ हमारी रागात्मकता गहरी ही होती गयी. मेरी कहानियों और कविताओं पर अपनी प्रतिक्रियाएँ वे लगातार देते रहे. उनसे अन्तिम भेंट उनके निधन से बस कुछ ही दिनों पहले भोपाल के सुप्रसिद्ध पत्रकार और मित्र राजकुमार केसवानी के घर पर हुई थी. वह एक मार्मिक प्रसंग था, जिसमें उन्होंने गाँधी जी की पदयात्रा और आधी रात अकेले पुल पार करने का किस्सा सुनाया था और देर रात घर लौटते हुए, बिजली के खम्भे से अपना स्कूटर जानबूझकर टकराकर उन्होंने मेरी परीक्षा लेनी चाही थी.

नवीन अब कहीं नहीं हैं. वे उस शहर के बिल्कुल करीब से गुजर चुके हैं, जहाँ वे रहते थे.

मैंने स्वामीनाथन जी की किताब 'परसीविंग फिंगर्स' में नवीन का नाम खोजने की कोशिश की. वह वहाँ नहीं है. शायद ही भोपाल के सत्ता केन्द्रों की किसी सूची में उनका नाम हो. वह नाम कहीं नहीं होगा. उसी तरह जैसे हम बहुत सारे लोगों का नाम कहीं नहीं है. नवीन 'हू इज़ हू' कभी नहीं थे. लेकिन एक बड़ा सच मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि नवीन सागर उस शहर के सबसे बड़े कथाकार, कवि और मेहनतकश बौद्धिक थे, जिस शहर के निकट से वे बिना किसी संपृक्ति के गुजर गये.

लेकिन क्या नवीन सचमुच भोपाल से मुक्त होना चाहते थे? उसी तरह जैसे हम बहुतेरे दिल्ली और दूसरी राजधानियों से मुक्त होने के लिए छटपटाते हैं. विकल्पों के न होने के बावजूद. पिछले दिनों पढ़ी गयी एक कविता की पंक्तियाँ याद आती हैं—जिस शहर की सत्ताएँ आपके खिलाफ हों, उस शहर में रहना एक 'सबवर्सिव' कार्रवाई है.

नवीन सागर ने जीवट भर और जीवन भर यह 'सबवर्सिव' काम किया. वे सबसे बड़े क्रान्तिकारी रचनाकार थे. ▣

● **9/2 जज कॉलोनी, न्याय मार्ग, वैशाली, सेक्टर-9, गाजियाबाद**

◆ संस्मरण ◆

नवीन की आँखों से कौन बचा है

विष्णु नागर

शायद किसी भी समय में साहित्य और कलाओं में भी ऐसे लोग ही ज्यादा छा जाते हैं जो उन्हें एक 'कैरियर' की तरह लेते हैं. निरन्तर सक्रियता और सम्पर्क-कुशलता से वे ऐसे लोगों को किनारे कर देते हैं जो 'जेनुइन' होते हैं और अपनी छवि-निर्माण को एक फालतू काम मानते हैं. नवीन सागर इन दूसरे तरह के लोगों में थे और मुझे पूरे दुख के साथ कहना पड़ेगा कि अपनी मृत्यु के बावजूद उन्हें वह सम्मान और दर्जा हासिल नहीं हुआ जिसके वे हकदार थे. यहाँ तो छीन-झपटकर, तिकड़म लगाकर जिसने जीवन में जो दर्जा हासिल कर लिया, वही इतिहास और स्मरण में भी बना रहता है. जब भी कविता और कहानी की बात होती थी, नवीन सागर उससे गायब थे, इसलिए अब भी गायब ही रहेंगे. वे जमाने हवा हुए जब जीवन में नहीं तो मृत्यु में मुक्तिबोध पहचान लिये जाते थे. जबकि कितने कवि हैं जो 'रांग नम्बर', 'मैं तो अरे! कहकर रह गया' जैसी अनेक कविताएँ लिख सकते हैं जिनमें उनकी आत्मा का एक-एक तार बजता हो.

हिन्दी साहित्य में 'वाह-वाह' और 'थू-थू' की जो हालत है, उसके चलते मैं भी नवीन सागर को जान-समझ नहीं पाता, यदि संयोग से वे भोपाल में न होते, जहाँ कि मेरा बार-बार जाना होता है और एक शाम मैं उनके साथ उनके घर पर उनके आमन्त्रण पर मिलने नहीं गया होता. वह अद्‌भुत किस्सागो आदमी थे. उन्हें सुनकर आप थक नहीं सकते थे. वे क्षण जो कि काफी लम्बे जरूर होते थे संकोच, परेशानी के बल्कि लज्जा में डालने वाले भी होते थे. जब वे अपने किसी मित्र सह-सहयोगी के लिखे की उसके सामने ही बेहद मुक्तभाव से बल्कि अतिशयोक्तियों में जाकर—मगर अपने तईं सच्चे रहकर प्रशंसा करते थे. लेकिन जो अनुपस्थित हैं और जिसके वे अनन्य प्रशंसक हैं, उसे ऐसे अवसरों पर वे भूलते नहीं थे. उनकी अद्‌भुत किस्सागोई के जादू से मैं भी बँधा था और शायद ही कोई बचा हो. इसी ने मुझे और मेरे जैसे तमाम लोगों को उनके लिखे की तरफ आकर्षित किया हालाँकि हिन्दी कविता और कहानी के मुख्य विमर्श में गलती से भी उनका उल्लेख शायद ही मिलेगा.

मगर हिन्दी के बहुचर्चितों में भी आजकल अपनी उपेक्षा किये जाने का जैसा मनोरोग अकसर दिखता है, वह नवीन सागर में नहीं था. दूसरों से ज्यादा वे खुद अपनी उपेक्षा करने वालों में थे. जब कवि तीन दिन की विदेश यात्रा को भी अपनी उपलब्धि के तौर पर गिनाने लगे हों, तब नवीन सागर दूसरों को तलाशने-ढूँढ़ने-पाने में ही लगातार व्यस्त रहते थे. दूसरों को पढ़कर इतना सुखी रहने वाला शायद ही कोई दूसरा कवि-कथाकार मैंने देखा हो. उनके बारे में कोई बात करने की कोशिश करे तो वे उसे उड़ा देते थे और अपने बतरस के जादू में उसे इस तरह फिर से बाँध लेते थे कि सामने वाला उस विषय को आगे नहीं बढ़ा पाता था. जबकि उनकी कविताएँ और कहानियाँ ही नहीं, उनकी बाल कविताओं का संग्रह 'आसमान भी दंग' मेरे लेखे महत्त्वपूर्ण है और वह बच्चों के जितने काम का है, उतना ही वह बड़ों के काम का भी है, यह कम से कम मैं मानता हूँ. बच्चों के लिए लिखने वालों के साथ अकसर यह ख़तरा होता है कि वे खुद भी बचकानेपन के शिकार हो जाते हैं. लेकिन नवीन ने इन कविताओं में भी अपनी जमीन को नहीं छोड़ा.

नवीन के साथ बैठने पर अन्दर ही अन्दर सभी ये परेशानी महसूस करते रहे होंगे—जिसे मुकेश वर्मा ने 'वसुधा' में अपनी एक टिप्पणी से पुष्ट भी किया है कि वे आपके आरपार देख लेते थे. वे जो कह नहीं रहे होते थे या कहने से बच रहे होते थे, उसे भी आप लगातार टीस की तरह महसूस करते थे कि यह आदमी तो तुम्हें पूरा जान गया है. तुम्हारी आत्मा सहित, इससे कुछ भी छुपा नहीं है. किसी की ऐसी नजर हो तो उसके सामने लगातार बैठना आसान नहीं है बल्कि साहस का काम है. और नवीन सागर भले अपवाद हों. बल्कि हरेक के भीतर ऐसे गड्ढे, खाइयाँ, खंदकें होती हैं, जिन्हें उसके अलावा शायद कोई नहीं जानता और वह चाहता है कि उन्हें कोई न कोई जान पाये लेकिन नवीन सागर के सामने आने पर यह अहसास बराबर होता था कि इससे तो कुछ छिपा नहीं रह गया है. फिर भी आप छुपाये रहते थे और वे मन्द-मन्द मुस्कुराकर आपकी तहों को उधेड़ते रहते थे. किसी दूसरे की ऐसी तीखी नजर मैंने नहीं देखी. इन नजरों को धोखा दिया जा सकता है लेकिन नवीन की नजरों को नहीं. और जब कभी मैं भोपाल में कविता सुनाता और वहाँ नवीन सागर होते तो लगातार इस बात का अहसास रहता था कि मेरी कविताओं को ऐसी एक्सरे से गुजरना पड़ रहा है जिसमें कुछ भी नहीं छुप रहा है मगर फिर भी मैं कभी नहीं ठीक-ठीक जान पाऊँगा कि क्या-क्या उन्होंने देख लिया है. अकसर डर लगा रहता था कि वैसी सच्चाई इन कविताओं में है या नहीं जिसकी अपेक्षा नवीन सागर अपनी कविता से जगाते थे क्योंकि इसी एक पैमाने पर मैं भी खरा उतरना चाहता था. मैं हमेशा एक सन्देह तथा संशय में घिरा अपना कविता पाठ समाप्त करता था. इससे पहले उन्हें चोर नजरों से देख लेता था. कम से कम भोपाल में नवीन सागर इस खुर्दबीन से मुझे हमेशा देखते रहेंगे.

उनकी मृत्यु हमें उनके लिखे को भुलाने न देने का साहस और ईमानदारी दे सके, तो नवीन के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी क्योंकि मृत्यु उनकी हुई है. हम तो कह सकते हैं कि हम जिन्दा हैं. लेकिन चीखिये मत! चीखने से यह साबित नहीं होता कि हम जिन्दा हैं. ▣

● ए-34 नवभारत टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली

◆ संस्मरण ◆

मैं तो अरे/करके रह गया (एक अधूरा कोलाज)

●

लीलाधर मंडलोई

(शिमला/पहाड़ी सर्दियों की कोहरे भरी शाम/ पदचाप गूँजती हुई)

दृश्य : लाँग शॉट/ कोई कोहरे से भीतर उगता सा/ आत्म सम्वाद में डूबा.

डिजाल्व : अँधेरे में एक पुराने दरवाजे के खुलने बन्द होने का दृश्य कुछ क्षणों के लिए/और कोहरे की तारतम्यता

स्वर : दुखी शहर से भागकर
या कि कहूँ ऊबकर
भीतर के दरवाजे से एकदम बाहर
खुले का सबब जानने
लोगों से पूछता है
दरवाजे के बन्द होने की ध्वनि में
सबका खुला बन्द होता है
मैं हिलाता हूँ पत्थर को
जो धड़कन की तरह रुका था
वे मुझ नीचे खड़े की सिम्त
बाँहें फैलाता है और
हवा का और शीतल झोंका
मेरे फेफड़ों को धुंध से
घेर लेता है औचक
इस शहर में नहीं हैं
रमेशदत्त दुबे
वल्लभ सिद्धार्थ
सागर, मऊरानीपुर
या कि चिरगाँव
यहाँ एक उजड़ी दुनिया में
मैं बिखरा हूँ
मैं यहाँ जैसे एक अचानक आदमी

(कैमरा जूम इन की बजाय लाँग शॉट में डूबा/ मानो यह एक विरल बिम्ब/नरेशन के साथ ही बिल्कुल फ्रीज)

(2)

(प्रोफेसर कॉलोनी की ढलान/जाते हुए शख्स की आकृति)

दृश्य : फालोअप कैमरा/अस्पष्ट कि उजाला कम/ सम्वाद जारी.

सुपरइंपोज : एक सूखे बबूल का दृश्य दो-तीन बार

स्वर : कौन हूँ मैं घूमता बेवजह
बुन्देली ठसक लिये
इस नामुराद शहर में
अजीब गहरी रात को उठाये
कांधे पे
जीवन शुरू कर पाने की उम्मीद
में
मैं अधबना, अधखिला
सवालों में डूबा
पूछता खुद से जवाब
सारे रिश्ते यहाँ
धोखे और अवमानना से घिरे
तमाम दुनिया के बोझ से दबे
घर से बाहर इस तरह
पूछता हूँ मैं चीखता हुआ
कि अँधेरे में आखिरी बार
टूटता-चमकता मैं कौन हूँ
धुनता हुआ खुद का सर

(आकृति क्रमशः गायब/सिर्फ अँधेरा/फेड आउट)

(3)

(हरि का मकान/लोहे वाली सीढ़ियाँ/बालकनी में एक बच्ची (सोफू)/लम्बें बालों में दीखता वह/तेजी से सीढ़ियाँ फलाँगता)

दृश्य : फालोअप शॉट / व्यक्ति लपककर बच्ची को उठाता हुआ.

सस्वर : ये नयी पाउनी
आयी कां से
आयी कां से
ये नयी पाउनी
(हरि/प्रीति बाल्कनी में अब और समवेत हँसी)

दृश्य : मकान के अन्दर/ मिडशॉट.

इन्टरकट : एक बच्ची उम्र 6-7 साल/ दृश्य में कुछ क्षणों के लिए किसी रचनात्मक आब्जेक्ट से खेलती हुई/ पेंटिंग विशेष रूप से.

स्वर : इस घर में, बाल्कनी में
मेरा बचपन है
मैं यहाँ लौटने के लिए
आता हूँ कि मेरी कला में
लौटने की इबारतें हैं
मैं सोफू के साथ
होता हूँ नवीन और
गुड़िया के बचपन में
लौट-लौट आता हूँ
इस मकान में आने की
क्रिया मेरी अनुगूँज है
मेरी इच्छा
कोई भी इच्छा न होने के बाद
मेरी गुड़िया के बचपन में
अपने बचे होने की इच्छा

(एक गहरा मौन/हरि/प्रीति मौन/सोफू हाथ में ब्रश लिये/कैमरा फ्रीज)

(4)

(दोपहर का वक्त/ग्रन्थ अकादमी/किताबों का गोदाम/कुछ कर्मचारी/बीच में उनके एक वही/कुछ गिनता, कुछ करता हुआ)

दृश्य : लाँग शॉट : किताबों के अनेक बन्डलों की उपस्थिति. **डिजाल्व** : दो-एक अस्पष्ट दोस्तों के चेहरे	**स्वर** : मैं यहाँ हूँ गोया यहाँ होने के लिए मैं हूँ यहाँ रामप्रकाश है राजेश के दोस्त मैं राजेश का होना चाहता हूँ इस शहर में कोई ना कोई है दोस्ती का दुश्मन मैं किसके साथ होने से उसका नहीं हूँ मैं छुपकर कहने की कला नहीं जानता, मैं मूर्ख मैं नहीं जानता नाटक मैं अभिनेता नहीं मैं अँधेरे में हूँ और यह मेरा नाटक नहीं
दृश्य : इन्टरकट : दरवाजे पर हलचल/एक व्यक्ति मुस्कुराता अन्दर. **डिजाल्व** : विनोद कुमार शुक्ल की 'रायपुर-बिलास सम्भाग' कविता का पृष्ठ शीर्षक सहित	**स्वर** : मैं याद कर रहा था कि जैसे करता है कोई याद ...को तुम भोपाल में हो कि मालवा में भाषा की चमक में ठेठ पुराना भोपाल पुराने किरदार पुराने सब्जेक्ट एकदम सजीव का भ्रम कि जैसा मेरा बुन्देलखंड कि जैसा तुम्हारा मालवा लेकिन बचा रहा बस विनोद कुमार शुक्ल का रायपुर-बिलासपुर सम्भाग छत्तीसगढ़ बची रही कविता ऽ ऽ ऽ

(5)

(शाम की चाय का वक्त/रवीन्द्र भवन रेस्त्राँ/ऊब के बाद का जीवन/जमावड़ा/हलचल)

दृश्य : एक्सट्रीम लाँग शॉट के बाद कैमरा पेन शॉट की मुद्रा में. **सुपरइम्पोज** : किसी वीरान पुराने रास्ते का दृश्य	**स्वर** : ये एक शिकारगाह और एक गप्पगाह बतर्ज कॉफी हाउस यहाँ सच से डरे हुए लोगों की आमद अपना अँधेरा, अपना कोना एक दूसरे के बिना न रह पाने की विवशता प्राचीन अँधेरा बहुत वर्तमान की परछाइयों के पीछे पर स्वर यहाँ प्रशान्त एकदम मुआफिक बिल्कुल सटीक मैं निःस्तब्ध रोज जबकि किस्सागो बड़ा मैं पूछता हूँ रास्ता और भेज दिया जाता हूँ उस बियाबान में जहाँ मैं कि दिपता हुआ नहीं

(इन्टरकट/रवीन्द्र भवन के बाहर का दृश्य/लोग लौटते हुए/कुछ लोग खुशकदम/कुछ पस्त)

दृश्य : रवीन्द्र भवन रेस्त्राँ की तरफ से कैमरा फॉलो करता हुआ. **इन्टरकट** : एक जाते हुए व्यक्ति की पीठ	**सम्वेत स्वर** : इस तरह रोज लौटना बगैर कुछ हासिल कब तक?? कब तक यह स्वीकार यह चुप्पी यह सुनना यह रोना कब तक??
दृश्य : कैमरा पोजीशन बदली हुई/सामने की ओर से क्लोज शॉट. **डिजाल्व** : कुछ परिचित से चेहरों के साथ धुँधला सा दृश्य	**स्वर** : मैं खिलना चाहता हूँ मैं सपने में नहीं छिप पायेगा जीवन भागूँगा नहीं मैं दुख को मेरे अकेले होना नहीं है मरने के बाद रोज-रोज बचे रहना है इस धरती पर जो अब भी जगर-मगर जहाँ अब भी लोग हैं नहीं रह सकता जिनके बिना मैं दुनिया के लोगों के बगैर मैं नहीं रह सकता यह और बात है कि यह पंक्ति एक दुर्घटना है—

(हमेशा की तरह लोग अवाक/भीतर नाटक के खत्म होने की घंटी की गूँजती ध्वनि)

(6)

(शाम गहराती हुई/रंग महल के नजीक की परिचित अँग्रेजी कलारी/तीन व्यक्ति/एक सरीखे शहर में)

दृश्य : लाँग शॉट से जूम इन होता	**स्वर** : यहाँ सुकून है झूठा नाटक नहीं

कैमरा/मिडशॉट पर स्थिर. इन्टरकट : किसी अँग्रेजी कलारी का दृश्य, जहाँ तीन लोगों पर कैमरा/ पीते हुए दो लोग/ प्लास्टिक के गिलास हाथ में/ साथ में नमकीन का पैकिट	अपने में लौटने का इत्मीनान पचास झूठों के बाद सच बोलने का समय न सही जहाँनुमाह में पीने का शऊर भविष्य में छलाँग लगाने की यही एक जगह, एक रास्ता भी न सहित पेरिस की तरफ जाता स्वाभिमान में अविचलित यहीं है बचा वह सब जिसके लिए 'चियर्स' कि कविता 'विदिशा' में है भोपाल में कविता का उत्सव है और हम तमाशबीन नहीं हम हैं, हम हैं, रहेंगे हम ही.

(7)

(रात : मुकेश वर्मा का घर/मुकेश मंडली/तीन और दाखिल)

दृश्य : फॉलोअप कैमरा कमरे में घूमता हुआ/ खिड़की/ दीवार/ अलमारी/ पेंटिंग कवर करता हुआ. लाँग शॉट में स्थिर **डिजाल्व** : नवीन सागर के कुछ रेखा चित्र	**स्वर** : मेरे भीतर एक रोग पल रहा है रेखाएँ दौड़ रही हैं एक दूसरे को काटती-बचाती मेरे स्केच गवाही हैं कि जीवन कितना बड़ा है कितना उजासों वाला मुहावरों से नहीं समझा जा सकता कि अब यह बेहद संश्लिष्ट अन्तर्तम की मानिन्द मानो कोई एक सपना सपने में हर बार लौटते रंग हर बार लौटता फूल सपने में फूल में बहती है प्रेम नदी जहाँ लौटना है अचानक

(क्लोजअप में कैमरा फ्रीज/व्यक्ति को देखते सब एक/ गहराता मौन/व्यक्ति के चेहरे पर झूलती बालों की लट)

(8)

(रात बारह बजे का समय/पुरानी विधानसभा के सामने लौटता हुआ वह/स्कूटर रोककर कुछ बुदबुदाता/बीड़ी पीने से उपजा प्रकाश आस-पास)

दृश्य : मिडशॉट **इन्टरकट** : एक आदमी पहाड़ी पर चढ़ता हुआ/कैमरा पाँवों को फॉलो करता हुआ/ पाँव में चप्पलें पुरानी.	**स्वर** : लौटते समय हरदफा रात भारी अँधेरा खींचकर कितना छोटा करूँ कि सो लूँ एक भरपूर नींद कि बजा लूँ बच्चों के बीच सन्तूर कि बचा रहूँ कविता की तरह अत्र कुशलम् तत्रास्तु कि जैसे बचा रहता है दीवार की दरार में एक अजन्मा फूल कि जैसे बचे रहते हैं धुँधले चेहरों के साथ बचपन के दोस्त कि जैसे बची रहती है अच्छाई हार जाने के बावजूद मैं बचा रहना चाहता हूँ

(9)

(मेडिकल कॉलेज/एक वार्ड/घबराये लोग)

दृश्य : लाँग शॉट **डिजाल्व** : एक कृशकाय आदमी बीड़ी पीता हुआ/ साइड प्रोफाइल/ धुआँ स्क्रीन पर फैलता हुआ.	**स्वर** : मैं कौन हूँ? कितना हूँ अपने चित्रों में कविताओं में कथाओं में मेरे किये-धरे से कितना मैं किस कुल का किस समुदाय का मैं किस समय में यहाँ अँधेरा है बढ़ता चौतरफ किसकी पदचाप है यह नींद से भारी मैं उन्तीस नवम्बर को पैदा हुआ मर जाऊँगा कि मारा जाऊँगा उन्तीस नवम्बर को अपनी पीठ किये चिता की तरफ देखूँगा जन्म का सपना मेरी आँखों के मुंदने के पूर्व एक दृश्य है जीवन का जिसमें बीड़ी की आखिरी तलब नहीं होगा अब कोई दृश्य एक मार्मिक चित्र होगा जिसके सामने जल रहा होगा एक दिया प्रकाश लिये उसके आलोक वृत्त में होऊँगा मैं नवीन सागर विलीन लेकिन फैलता हुआ साहित्यकाश पर जुगनू सा सही जगमगाता हुआ अपने रंग में अपने ढब में मैं नवीन सागर—

(कैमरा सामने की दीवार पर फ्रीज/जहाँ एक दरार है)

▣

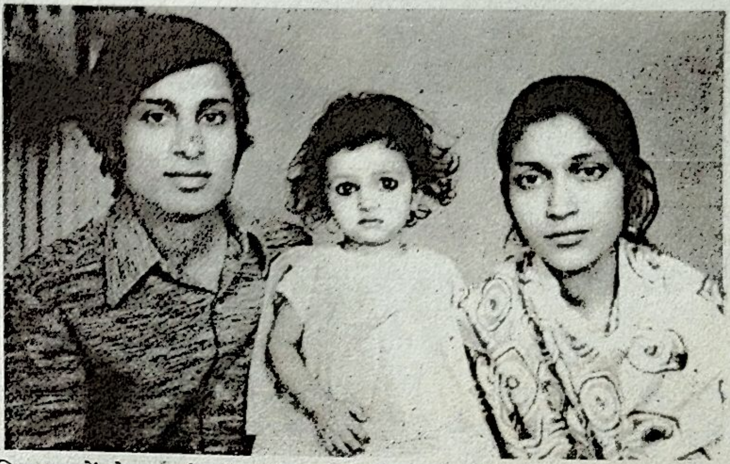
● ए-2492, नेताजी नगर, नयी दिल्ली

◆ संस्मरण ◆

नवीन की स्मृति

छाया सागर

नवीन पर लिखने के लिए सोचती हूँ तो लगता है क्या लिखूँ क्योंकि मेरे भीतर वे इतने ज्यादा हैं कि उन्हें याद करने के लिए पहले मुझे उन्हें अपने भीतर से बाहर निकालना होगा तब शायद उन्हें याद कर पाऊँ.



अभी तो मुझे उनके कष्ट ही ध्यान आते हैं कि अपने आखिरी समय के चार-पाँच साल पहले से वे कितने अधिक मानसिक और शारीरिक कष्टों से गुजरे थे. शायद उन्हें यह अहसास हो गया था कि अब वे ज्यादा दिनों तक जीवित नहीं रह पायेंगे. उन्हें अपने बच्चों की बेहद चिन्ता होती थी कि वे कुछ बन पायेंगे या नहीं. पारिवारिक चिन्ताएँ तो थीं ही पर अपने ऑफिस और उससे भी अधिक साहित्य की राजनीति से वे मानसिक रूप से बहुत त्रस्त थे. इन राजनीतियों ने उन्हें बिलकुल तोड़कर रख दिया था. बहुत दुःखी रहते थे. इतना दुःखी मैंने पहले कभी नहीं देखा था.

नवीन बहुत ही जिन्दादिल इन्सान थे. नवीन के भीतर इतना ज्यादा प्रेम था कि उनके करीब जो भी आता चाहे वह बूढ़ा हो, जवान हो या बच्चा, वे उसे इतना प्रेम करते कि सब नवीन के कायल हो जाते.

स्वार्थ तो उन्हें कहीं छू भी नहीं गया था. शहर से या बाहर से उनका कोई प्रिय मित्र आ जाता तो उसकी बहुत आव भगत करते. पास में पैसा नहीं होता तो कहीं से कर्ज लेकर खाने पीने का सामान लाते और उन्हें बहुत प्यार से खाना खिलाते और बहुत खुश होते.

नवीन दिल के बहुत रईस थे. पास में कहीं से पैसा आ जाता तो दो दिन में वह कहाँ खर्च हो जाता पता नहीं चलता. अपने ऊपर एक पैसा खर्च नहीं करते. कहो तो मुझे बाजार ले जाकर मेरे लाख मना करने पर भी मुझे कोई महँगी साड़ी खरीद देंगे या बच्चों के ऊपर खर्च कर देंगे. या कोई परेशानी में है उसे पैसों की जरूरत है तो उसे दे डालेंगे. कई बार तो ऐसा होता कि कोई ऐसा व्यक्ति या मित्र आ जाता जिसे पैसों की बहुत जरूरत है तो कहो उसे अपनी पूरी की पूरी तनख्वाह दे डालेंगे और खुद कर्जदार बन जायेंगे.

वे दूसरे की परेशानियों को अपनी परेशानी समझते और उसे दूर करने का भरसक प्रयत्न करते.

नवीन ने जीवन को योजनाबद्ध तरीके से जीने की आवश्यकता कभी महसूस नहीं की. किसी दिन सुबह उठते और कहते छाया आज मैं दिनभर कमरे में बन्द होकर लिखूँगा. कहो उसी दिन कोई मित्र आ गया तो उसे पूरा-पूरा दिन दे डालेंगे—जैसे सुबह उठकर यही तय किया हो.

मैं भी नवीन के साथ नवीन जैसी होती गयी. वो जैसा बोल देते उसी तरह से सोचने लगती. जीवन को किस तरह जीना है उसका कभी प्लान नहीं बनाया, रोज जीवन जैसा घटित होता उसे घट जाने देते. कोई समस्या आती तभी निपटते. फिर कल के बारे में भूल जाते. युवा दिनों में आर्थिक दिक्कतें उनके लिए कोई मायने नहीं रखती थीं. बल्कि उससे जूझना उन्हें अच्छा ही लगता था.

नवीन के पास लिखने के लिए बहुत कुछ था. मुझे ढेरों कहानियों की थीम बताते. दो-तीन उपन्यास और एक-दो नाटक के बारे में बताते जो उन्हें लिखने थे. जब भी उन्हें कहानी लिखनी होती तो सोते-जागते, उठते-बैठते उनके दिमाग में कहानी चलती रहती और फिर एक बैठक में उस कहानी को पूरा लिख डालते. और जो कहानी एक बैठक में नहीं लिख पाते वह अधूरी ही रह जाती. ऐसी कितनी ही कहानियाँ आधी-अधूरी लिखी रखी हैं.

नवीन लिखने से ज्यादा सुनने और सुनाने को बहुत महत्व देते थे. इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सात किस्से लिखने का मन बनाया था. इन किस्सों के छिटपुट अंश उन्होंने लिखे भी.

नवीन बहुत प्रेमी, हृदय के उदार, ईमानदार और अपने उसूलों पर जीने वाले इन्सान थे. पर जब इनके व्यक्तित्व पर एक के बाद एक चोट लगी तो टूटते चले गये. उनमें लड़ने की क्षमता धीरे-धीरे कम होती गयी और वे तनाव में जीने लगे. इसी तनाव के कारण उन्हें हृदय की बीमारी ने जकड़ लिया.

मुझे याद है पाँच अप्रैल को जब इनकी तबियत बिगड़ी और मैं इन्हें ऑटो में बिठाकर अस्पताल ले जाने लगी तब दो-तीन बार मुझसे बोले, 'छाया मैं जीना चाहता हूँ मुझे बचा लो.' इनकी आँखों में मैं जीने की चाह को सिर्फ देखती भर रही पर उन्हें बचा न सकी.

अब सोचती हूँ यदि कुछ साल इन्हें और मिल गये होते तो उनके मन में चेखव की परम्परा का लेखक बनने का सपना पूरा हो जाता. ▣

◆ संस्मरण ◆

खिड़की देखती रही

●

समता सागर

पिछली बरसातों की बात है,
घर की खिड़की पर बैठी मैं स्कूल के मैदान में बारिश देख रही थी
मेरी नजर बूँदों के उस पार, टप्पर के नीचे खड़े किसी इन्सान पर पड़ी और वहीं अटक गयी.
धीरे-धीरे पानी कम हो गया,
अब मैं साफ-साफ देख सकती थी कि पापा वहाँ खड़े मुझे देख मुस्कुरा रहे हैं.
मेरी साँसें रुक गयीं,
आत्मा मुझसे छिटककर पापा के कंधे पर जा बैठी.
आसमान पापा की शर्ट सा नीला और मैदान मेरी फ्रॉक सा हरा था.
अपनी ढीली पैंट को सम्भालते और चमकीले बालों को लहराते वे मुझे लेकर उड़ने लगे
हम रूसी उपन्यासों के दूर तक फैले मैदानों से होते हुए
निर्मल जी की कहानियों के बारिश से भीगे पहाड़ी शहरों के चक्कर लगा रहे थे.

घर की घंटी की आवाज मृत्यु का सा सन्नाटा लिये गूँज उठी.
खिड़की से दरवाजे की दूरी तय करते मेरे पैर प्रार्थना से भरे हुए थे...
पापा तुम्हीं हो ना दरवाजे के उस पार... बस तुम्हीं हो ना.
पोस्टमैन किसी शादी का कार्ड लिये खड़ा था,
उसे कभी समझ में नहीं आया होगा कि मैं उसे देखकर बैठ क्यों गयी थी.
उसने सूनी आँखों से मेरी तरफ देखा और बोला पानी पी लीजिये,
आपकी तबियत ठीक नहीं लग रही.
उसके जाने के बाद बहुत देर तक मैं वहीं बैठी रही
ख़िड़की अकेली छूटी खाली मैदान देख रही थी

पापा के बाद खिड़की और दरवाजे कई बार अकेले उनका ना होना देखते रहे.
बरसातें गर्मियों के बाद और सर्दियाँ बरसातों के बाद चुपचाप आकर जाती रहीं.
बिस्तर जिस पर लेटकर वो पढ़ते थे अलसाया सा खुद ही करवटें बदलता रहा.
सड़कें, पेड़, खाली पड़े मकान, सामानों से भरी दुकान, मन्दिर तालाब, दफ्तर की मेज,
सीढ़ियाँ, चप्पलें, आखिर में छुपाया बीड़ी का बंडल और हम, उनके बिना भी थे.
अस्पताल से फोन बूथ तक घिसटते मेरे कदम थककर सोना चाह रहे थे.
मुझे सबकुछ हिलता हुआ लग रहा था.
फूल हवा में धीरे-धीरे हिल रहे थे मुझे उनके खिलने पर अचरज हो रहा था.
फोन पर पापा का ना होना बताती मेरी आवाज लहराती हुई आसमान में उड़ी जा रही थी.

गुड़िया जो भी बोला जाता है वो इसी ब्रह्मांड में घूमता रहता है
पापा तुम बुद्धू मत बनाओ
अरे यार इस पर तो कितनी रिसर्च चल रही हैं कि जो भी ध्वनि होती है वो कभी नष्ट नहीं होती, हमारे इर्द गिर्द ही घूमती रहती है.
फिर हमें सुनाई क्यों नही देती
कोशिश करो तो क्या पता सुनाई दे जाये

बिना कोशिश किये ही फोन बूथ पर पापा का ना होना बताती अपनी आवाज
मुझे बार-बार सुनाई देती है.
कहीं जाते हुए और कहीं से आते हुए कई बार,
मैं कहीं नहीं जा रही होती,
कहीं से नहीं आ रही होती,
मैं अपना होना और पापा का ना होना हर ओर से देखती
किसी गीली दोपहर के बीत जाने का इन्तजार करती हूँ.

पापा का जाना मेरे सबसे अच्छे दोस्त का जाना भी था.
दोस्त बिना अलविदा कहे चुपचाप चला गया
ना कही बहुत सारी बातों के साथ वो गया
गया, बस चला गया
जाते हुए उसने मुड़कर देखा या नहीं
पता नहीं
लौटने से सुखी था कि जाने से दुखी
पता नहीं
गया, बस चला गया.

कितनी शामें, कितनी दोपहरें हमने गप्पें करते हुए बिता दीं याद नहीं
उनसे उनके बचपन के बारे में मैं बार-बार सुनती, अपने घर का

नक्शा वे चाव से बनाते
और मैं पूरे घर में उनके साथ चक्कर लगाती.
सँकरी सीढ़ियों से होते हुए तिद्वारी लाँघती मैं चौके में पहुँच
जाती...
पापा अपने कहे में ले जाने में इत्ते माहिर थे कि उनके साथ मैं
हर उस जगह पर गयी जहाँ वो गये थे,
और वहाँ भी जहाँ वो नहीं गये थे...

एक रात सर्द अँधेरे में स्कूटर पर
उनके पीछे बैठी मैं
कच्ची पगडंडी से गुजरते हुए
अँधेरा पार कर रही थी
अँधेरा चुप था
अँधेरे में डूबी पगडंडी भी चुप थी
गुड़िया देखो अँधेरा कितना सुन्दर होता है
पापा अँधेरे में बोले
मैंने अँधेरे में अँधेरा देखा
ठंडी हवा चल रही थी
अँधेरे में और घना अँधेरा बह रहा था
हाँ अँधेरा बहुत सुन्दर होता है
मैंने अँधेरे को आँखों में भरते हुए कहा
पापा की आँखों से निकल अँधेरा
हमारे आगे-आगे चलने लगा
जुगनू चमकते हुए गुनगुना रहे थे
पेड़ सुन रहे थे
हम घने पेड़ों वाला इलाका छोड़
खुले मैदान के बीचोंबीच चल रहे थे
चाँद बादलों के पीछे से
हमारे बिल्कुल पास आ गया था

पापा ने स्कूटर रोक दिया
स्कूटर की आवाज देर तक आती रही
अचानक पापा ने बहुत रहस्य से
मेरी तरफ देखा
फिर पहाड़ों को देखा
और हाथ जोड़ लिये
मैं डर से काँप गयी
पापा चलो
देखो पहाड़-पहाड़ नहीं लग रहे
पापा फुसफुसाये
तो...? क्या लग रहे हैं जल्दी बताओ ना
मैं गिड़गिड़ायी
हमारे पुरखे हमें घेरे बैठे हैं
पापा ने सीधे मेरी आँखों में देखा
मैं रोने लगी
तुम बहुत बुरे हो
पापा हँस पड़े
और तुम बहुत डरपोक



अरे पगली
हम भी अन्ततः पुरखे ही हो जायेंगे
पापा की आँखों का रहस्य खत्म होते देख
मेरी साँसें लौट आयीं
चलो...
चलते हैं
पापा ने बीड़ी जला ली
बीड़ी से उड़ता धुआँ
आसमान की ओर उड़ा जा रहा था
मैं उदासी से भरी पापा को देख रही थी
पापा जोर से हँसे
तुम तो अभी से पुरखी लगने लगीं
बीड़ी बुझ चुकी थी
पापा मुझे बताने लगे कि सारे डरों
और दुखों के बाद भी
दुनिया बहुत सुन्दर है
मैं पापा की बातों में डूबी
उस सहेली को भूल चुकी थी
जिसकी बहन की शादी में
हमें रातीबड़ जाना था
पर पापा को याद था
हम चल दिये
जंगल हमें जाते बहुत देर तक
देखता रहा.

पापा के साथ बिताया समय अब सपने जैसा लगता है, कई बार सोचती हूँ कि उनका ना होना एक बुरा सपना है जो किसी दिन अचानक खत्म हो जायेगा. भोपाल की ऊँची नीची सड़कों पर से गुजरते हुए कदम कई बार इस उम्मीद में धीमे हो जाते हैं, कि शायद वो बगल से गुजरते हुए दिख जायें. कोई पेड़ हवा में जोर से हिलता है तो मुझे उनका खिलखिलाना याद आ जाता है, तालाब नदी और समन्दर में कई बार अपना अक्स देखते हुए मैं उनको पानी की लहरों में बहते हुए देखती हूँ. मैं अगला जन्म इस उम्मीद में लेना चाहती हूँ कि वो फिर पिता बन मुझे मिल जायें, मैं उनकी गोदी से चिपकी चिरगाँव की गलियों में घूमूँ, पप्पी चाचा

के बीड़ी के कारखाने की गद्दी पर औंधे मुँह लेटकर तम्बाखू की गन्ध में डूब जाऊँ.

हिलते मकान, सम्भलते लोग, खाँसी से परेशान बूढ़े
स्कूल जाते बच्चे, खिड़की से बाहर झाँकती बहुएँ,
सदियों से लोहा पीटते सुनार,
पापा की गोद से हिलती डुलती गलियों को देख
लगता था मानो चिरगाँव किसी नदी के ऊपर
बह रहा हो...
बहते चिरगाँव की अनगिनत दोपहरें रातें और शामें
पापा, पप्पी चाचा और दूसरे किस्सागोइयों
के किस्सों में बीत जातीं
अब पापा नहीं हैं, पप्पी चाचा भी नहीं हैं, किस्से भी नहीं हैं
पर वो दोपहरें शामें और रातें
अब भी समय बिताने मेरे पास चली आती हैं.

मेरा लिखा पापा के ना होने का रुदन भर लग सकता है.
मेरी यादों पर उनके ना होने के दुख का कब्जा है.
मुझे कुछ याद नहीं आता, या मैं याद करने से डरती हूँ पता नहीं,
उनकी ठंडी पड़ी देह अब भी मेरे सामने है
मैं जानती हूँ जीवन किसी भी दुख से बड़ा होता है
पर पापा के ना होने के दुख से बड़ा नहीं हो सकता.

यह मेरे लिखे का अन्त था
सुबह चार बज के छप्पन मिनिट पर मैंने लिखना बन्द किया
और खिड़की से सुबह होते देखने लगी
सुबह बहुत सुन्दर थी
ओस की बूँदें पत्तों को हिला-हिला के जगा रही थीं
नींद से बन्द होती मेरी आँखें दूर खड़े पापा को
साफ-साफ देख पा रही थीं
पापा की आँखों में मेरी नींद जाकर अटक गयी
रेलगाड़ी गुजरने की आवाज कुछ पल के लिए
मुझे बिना किसी सोच के छोड़ गयी
और जब मैं कुछ सोच पाने लायक हुई
तो पापा जा चुके थे
रेलगाड़ी से गये होंगे
मैंने सोचा नहीं, बुदबुदायी

दुनिया बहुत सारे दुखों के बाद भी
बहुत सुन्दर है गुड़िया
पापा की ब्रह्मांड में घूमती आवाज
मैं देर तक सुनती रही
जीवन उतना ही नहीं होता जो हम जीते हैं
तो पापा?
जो हम नहीं जी पाते वो जीवन से भी बड़ा होता है?

मैं खिड़की से उठ रसोई में आ गयी
मैंने देखा खिड़की अभी भी
मुझे ही देख रही थी.



नवीन सागर

जन्म : 29 नवम्बर 1948 में सागर, मध्य प्रदेश में .
शिक्षा : सागर विश्वविद्यालय से एम.टेक.
संग्रह :—
1989 में एक कहानी संग्रह 'उसका स्कूल' तथा बच्चों की कविताओं का संग्रह 'आसमान भी दंग' सम्भावना प्रकाशन, हापुड़ से प्रकाशित.
1996 में पहला कविता संग्रह 'नींद से लम्बी रात' आधार प्रकाशन, पंचकुला से प्रकाशित.
14 अप्रैल 2000 को भोपाल में आकस्मिक निधन. निधन से पूर्व, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी में कार्यरत रहे.
2001 में दूसरा काव्य संग्रह 'जब खुद नहीं था' कवि प्रकाशन, बीकानेर से प्रकाशित
2006 में तीसरा काव्य संग्रह 'हर घर से गायब' सूर्य मन्दिर प्रकाशन, बीकानेर से प्रकाशित.
परिवार : पत्नी—श्रीमती छाया सागर, बेटी—समता सागर, बड़ा बेटा : अनिरुद्ध सागर, बहु—निधि चोपड़ा, पोता—नव्य सागर और छोटा बेटा—आदित्य सागर.
पारिवारिक सम्पर्क : एम-30, भदभदा रोड, मौसम कॉलोनी के पीछे, निराला नगर, भोपाल

◆ संस्मरण ◆

बोलने के कुछ देर बाद सुनाई देगी खुद की आवाज

अनिरुद्ध उमट

जहाँ से शुरू हुआ हूँ
वहाँ से पहले से है मेरी शुरुआत
जहाँ हुआ हूँ ख़त्म
वहाँ से आगे चला गया है मेरा सिलसिला

जाते हुए आदमी की पीठ देखिये. वह कहीं से आता हुआ सा लगता कहीं को जाता सा प्रतीत होगा. वह कहाँ स्थित है. इस आने और जाने की प्रतीति में? नवीन सागर की यादों में डूबे उनके मित्रों की भी यही स्थिति है. कविता की वाचाल पाठशालाओं के नगर भोपाल में अपने सागर के साथ यह कवि हरेक के लिए एक मुसीबत था और अब कहीं अधिक है. अपने निरन्तर संदिग्ध होते जाने के मारक अहसास में नवीन सागर का लेखन अपने तथाकथित महान समकालीन लेखकों से बहुत जुदा किस्म का था. उनके जैसे सम्वेदनशील रचनाकार और सहज सरल व्यक्तित्व पर लिखते समय यह संकट चौतरफा छाया रहता है कि जितना भी लिखेंगे उससे अधिक कुछ छूट जाता रहेगा. उनको याद करना एक तरह से कई कई प्रोजेक्टरों से एक साथ सिनेमा देखने की अनुभूति सा लगता है. जिस क़दर वे मित्रों की सोहवत में डूबे रहते थे जिस तरह बहसों, ठहाकों, पीड़ा, उदासी के क्षणों में वे अपने आप को बहा देते थे ठीक उसी तरह वे अपनी कविताओं में इस कदर गहरे अकेले जाते प्रतीत होते थे कि उनके पाठक उस अकेलेपन की यात्रा की टीस और नियति को केवल दूर से देख ही पाते हैं.

नवीन जी से मेरी मुलाकात बहुत अप्रत्याशित थी. करीब चौदह बरस पहले मैंने एक आयोजन अपने कुछ स्थानीय कलाप्रेमी मित्रों की मदद से बीकानेर में किया था जिसमें रमेशचन्द्र शाह, ज्योत्स्ना मिलन को व्याख्यान व कविता पाठ हेतु आमन्त्रित किया था. उसी दरम्यान युवा चित्रकार राजुला शाह की पेंटिंग्स की भी पहली प्रदर्शनी बीकानेर में ही रखी गयी थी. आयोजन की तिथियाँ व रूपरेखा निर्धारित हो चुकी थी कि करीब एकाध सप्ताह पूर्व ज्योत्स्ना जी ने एक पत्र मुझे भेजा जिसमें उन्होंने बहुत ही आत्मीयता से लिखा कि हमारे बहुत ही प्रिय मित्र या यूँ कहें परिवार के अभिन्न सदस्य नवीन सागर भी यदि हमारे साथ बीकानेर आ सकें तो कैसा रहेगा? हम चाहते हैं कि वे हमारे साथ आयें यदि तुम लोगों को दिक्कत न हो तो हम उन्हें अपने साथ लाना चाहेंगे. इस पत्र से एक बार तो मुझे अजीब सा लगा. मैं तब नवीन को जानता भी नहीं था केवल एक सन्दर्भ से परिचित था कि ज्योत्स्ना जी के तब सद्यप्रकाशित उपन्यास 'अ अस्तु का' का ब्लर्ब नवीन जी ने ही लिखा था. और यह भी मुझे तब पता चला जब कि मैंने ज्योत्स्ना जी से कहा था कि इस उपन्यास पर इससे अच्छा ब्लर्ब और क्या हो सकता है. तब उन्होंने मुझे बताया कि इसे नवीन सागर ने लिखा है. वह उपन्यास आज भी हिन्दी में बड़े-बड़े समीक्षकों, आलोचकों के लिए खुली चुनौती बना इठला इतरा रहा है और किसी मुख्यधारा के तन्दुरुस्त आलोचक ने उससे रचनात्मक भिड़ंत की हो यह मेरे स्मरण में नहीं है. बल्कि मेरे स्मरण में ऐसे बीसियों सन्दर्भ हैं जब हमारे प्रख्यातों ने औसत और निम्न औसत रचनाओं को कालजयी, महान जताने बताने में अपना पूरा कौशल लगा दिया था और यह भी मेरे स्मरण में लहरा रहा है कि वे सभी सन्दर्भ आज कल के मुख में समा गये हैं.

जब रेल प्लेटफार्म पर पहुँची तो हमारी जिज्ञासा अब शाह परिवार के स्वागत के उत्साह के साथ ही इस बात पर थी कि आखिर वह साथ में आने वाला एक तरह से अनामन्त्रित व्यक्ति कौन है? रेल के डिब्बे से शाह साहब, ज्योत्स्नाजी, राजुला और शम्पा के बाद सबसे आखिर में एक बैग अपने कन्धे पर लटकाये एक व्यक्ति नीचे उतर रहा था. वह व्यक्ति किसी भी परिचय से पूर्व परिचित लग रहा था. अपनी उपस्थिति में वह सम्मोहक व्यक्ति चारों तरफ छा रहा था. मैं उन्हें निहार रहा था और पीछे से ज्योत्स्नाजी के शब्द इस सम्मोहन को नाम दे रहे थे कि, 'ये हमारे प्रिय मित्र नवीन सागर हैं.' तब मुझे लगा था कि वे यह क्यों कह रही हैं इस व्यक्ति के बारे में कुछ भी कहना अनावश्यक है. यह व्यक्ति तो बिना कुछ कहे ही केवल नवीन सागर ही है. हिन्दी के जितने भी लेखकों से मैं तब या अब तक मिला हूँ उनमें नवीन सागर की उपस्थिति ही, उनका स्वरूप ही इतना लेखकीय उजास का रहा है कि आप उसके बाद जिससे भी मिलें यह कामना मन में जम सी जाती है कि इससे अधिक या इससे इतर कोई लेखक कैसे या क्या हो सकता है.

वे अपनी सहजता, निश्छलता से कुछ ही क्षणों में हम सबके प्रिय बन गये थे. बीकानेर में उस आयोजन में उन्होंने हमारे निवेदन पर बहुत संकोच से अपने पहले कविता संग्रह 'नींद से लम्बी रात' की पांडुलिपि से कुछ कविताएँ यह कहते हुए सुनायी थीं कि, 'शाह साहब और ज्योत्स्नाजी के बराबर बैठ कविताएँ सुनाते हुए मुझे गहरा संकोच हो रहा है.'

इस आयोजन के करीब साल भर बाद ही अपने एक चित्रकार मित्र मानवेन्द्र के साथ मेरा भोपाल जाना हुआ. तब मैंने पाया कि सब लोगों से मिलने के अतिरिक्त जो व्यक्ति हम पर सर्वाधिक छाया है वह नवीन सागर ही है.

उन दो चार दिनों में मैंने नवीन जी के व्यक्तित्व के जितने रंग देखे वह अनुभव मेरे लिए अविस्मरणीय है. उनके व्यक्तित्व में क्या था जो न समा सके? वे हमारे साथ उन दिनों यूँ रहे जैसे उन्हें इससे जरूरी और कोई काम नहीं है और इस दरम्यान उनका एक ही रूटीन रहता था और वह था प्रतिक्षण अधिक से अधिक हमारा खयाल

रखना. मैंने देखा कि वे प्रत्येक व्यक्ति से जब हमारा परिचय कराते हैं तो किस तरह का आलोक उनके चेहरे पर होता है. मुझे लगा वे भोपाल की एक-एक चीज से बेहद प्यार करते हैं. भारत भवन मैंने पहली बार उन्हीं के साथ देखा जब वे हमें वहाँ लगी चित्र प्रदर्शनी दिखा रहे थे तभी कवि ध्रुव शुक्ल का आना हुआ. मैं ध्रुव शुक्ल के लेखन से तो परिचित था किन्तु मिलना तभी हुआ. तभी उन्होंने ध्रुव शुक्ल से कहा था कि,'जब भी मैं अकेला होता हूँ और भारत भवन आता हूँ तो राजकुमार के इस चित्र को जाने कितनी देर तक देखता रहता हूँ.' चित्र प्रदर्शनी से बाहर आते समय उन्होंने देखा कि सीढ़ियों से मदन सोनी आ रहे हैं तो उन्होंने नजदीक जाकर मदन जी से कहा था ये मेरे मित्र हैं बीकानेर से आये हैं. मदन जी से मेरी वह पहली मुलाकात थी. अपने दफ्तर में उन्होंने रामप्रकाश त्रिपाठी से बहुत गर्मजोशी से मिलवाया. वहीं कवि राजेश जोशी से पहली बार मिलना हुआ. उन्हें जाने कितने कवियों की कविताएँ याद थीं. जब तब बातचीत में वे जिस तरह कविताएँ सुनाते थे उतना उदार काव्य रसिक मैंने अपने जीवन में नहीं देखा. जब वे तमाम कवियों की कविताएँ सुनाते उस वक्त उन्हें सुनने लगता जैसे इन सब लेखकों ने कविताएँ केवल नवीन सागर के लिए ही लिखी हैं और इन्हें केवल नवीन जी ही सुना सकते हैं. जितने दिन भी मैं भोपाल उनके साथ रहा मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने अपनी कोई कविता सुनायी हो. बहुत इसरार करने पर भी वे टाल देते थे और किसी अन्य कवि की कविता सुनाने लगते. कविता सुनाते वक्त उन्हें देखना भी एक अद्भुत अनुभव होता था. वे जिस लय, तल्लीनता, रागात्मकता और नाटकीयता से अपनी सम्मोहक आवाज में कविता सुनाते उसे सुनने के बाद खुद कवि से उस कविता को सुनते वक्त भी वह अनुभव याद आता और अकसर ही नवीन जी का वाचन छाया रहता.

एक दिन हम लोग स्कूटर पर भोपाल से विदिशा गये. वहाँ उनके मित्र संसार की जितनी व्यापकता देखी वह भी उनके व्यक्तित्व का एक बहुत ही दिलचस्प पहलू है. उनके साथ किसी भी उम्र का व्यक्ति यूँ रहता था जैसे नवीन जी की उम्र और अनुभव उसके व्यक्तित्व में घुल गये हैं. कोई फाँक या दुराव नहीं केवल बहाव और निश्छलता वहाँ होती थी. नवीन जी उस पूरे सफर में मुझ जैसे नितान्त अज्ञात और अपरिचित नवोदित लेखक को जिस तरह मान और अपनापन दे रहे थे वह मेरे लिए बहुत अकल्पनीय था. साँची के स्तूप की छाँव में वे जमीन पर सूखे पत्तों पर लेट गये थे और मुझसे अधपकी अधबनी कविताएँ जिस मनोयोग से सुन रहे थे उससे मैं बेहद अचम्भित था. वे एक पंक्ति के बाद कहते इसे दोबारा पढ़ो. उस ऊँचाई पर किसी को भी यह अनुभव बहुत जल्द ही उड़ा ले जा सकता था. कविताओं पर इस तरह मुग्ध होते, लगभग झूमते, उदास होते, उफनते मैंने किसी को नहीं देखा था. उस पूरे सफर में वे मेरे चित्रकार मित्र मानवेन्द्र को मेरी कविताओं के बारे में बताते रहे थे और जिस उत्साह से वे उनके बारे में टिप्पणियाँ कर रहे थे उन्हें सुन उस वक्त और आज भी मैं संकोच में दबा रहता हूँ.

वे हमारे अत्यन्त मायावी, षड्यन्त्रकारी, आत्ममुग्ध लेखकों की दुनिया के बरक्स नितान्त बाहरी व्यक्ति लगते थे. जिन्हें देख हैरानी होती थी कि वे किस तरह अपनी निजता अपनी मौलिकता में इस कदर बचे हुए हैं. वह भी एक ऐसे नगर में जो महान लेखकों से पटा पड़ा था.

भोपाल में ही एक शाम कवि राजेश जोशी का कविता पाठ शाह साहब की अध्यक्षता में मुकेश वर्मा के घर में आयोजित था. उस पूरे दिन नवीन जी उत्तेजना और उत्साह से भरे शाम का इन्तजार करते रहे थे. आज लगता है राजेश जी की तरह उनके कितने ही कवि मित्र नवीन जी का अभाव महसूस करते होंगे. एक ऐसे व्यक्ति का अभाव जो अपने को पूरी तरह आपके रचनाकर्म के प्रति समर्पित कर दे और अपने समर्पण में हर हाल में उस स्थिति तक जा पहुँचने की आकांक्षा रखे जहाँ अपने पराये के भेद से तुच्छ कोई चीज न हो.

उन्हीं नवीन सागर के पहले कविता संग्रह पर हिन्दी जगत के मूर्धन्यों की चुप्पी भी कोई अनपेक्षित न थी. मूर्धन्यों के बारे में एक चीज सबसे महत्वपूर्ण होती है कि वे अपने में तबाह हो जाने की हद तक मानवीय करुणा के आवरण में अमानवीय होने की हदों को तोड़ते प्रतीत होते हैं. 'नींद से लम्बी रात' जब प्रकाशित होकर हमारे पास नवीन जी के हस्ताक्षरों के साथ आया तो हमें एक बार भी नहीं लगा कि हमारे मूर्धन्य अपना स्वभाव या चरित्र बदल

शायद यह उनका वोट था

●

संजय चतुर्वेदी

नवीन सागर ने दुनिया देखने की एक दुर्लभ विधा पायी थी जिसे साहित्य या कला की प्रचलित रीतियों से पूरा समझना आसान नहीं था. विचार और जीवन दोनों में वे बहुत मौलिक थे. उनकी राजनीतिक दृष्टि भी इसी मौलिकता का विस्तार थी. और ऐसी थी कि वे बहस की फैशनेबिल सूरतों के लिए असुविधाजनक हो जाते थे. ऐसी मौलिकता की कीमत चुकानी पड़ती है. खासतौर पर उस वर्ग में जहाँ चालू होशियारी को मौलिकता और मौलिकता को अराजक बताया जाता हो.

खुलकर बात करने वाले साहित्यिक समाज में सम्भवतः बहुत कम होते हैं. फिर इधर एक लम्पट प्रतिबद्धता पर बड़ा जोर रहा है जहाँ सोते में भी तिर्यक बात करने वाले सदा आदरणीय और प्रतिबद्ध माने जाते हैं. सो ऐसे लोगों में नवीन के लिए जगह भी बड़ी असहज और अस्वाभाविक ही थी. मैंने उन्हें जब से देखा तब से यह पाया कि धीरे-धीरे वे चुप होते चले गये. स्वभाव से चौपाल में रमने वाले एक ज़ारबाश आदमी का बहुत सोच समझकर इस दिशा में चलना हैरान करता है. शायद यह उनका वोट था.

पता नहीं क्या साम्य है—मैं जब भी नवीन सागर का स्मरण करता हूँ, मुझे बम्बईया फिल्मों में काम करते कवि प्रदीप की याद आती है. ▣

● जी.टी.बी. हॉस्पीटल परिसर, दिल्ली

देंगे. हमारे प्रगतिशील काव्य समय में नवीन जी से अधिक कौन अव्यवहारिक हो सकता था? उनका वह संग्रह अपने समर्पण में तमाम आत्महंता-आत्मघाती सम्भावनाएँ लिये हुए हिन्दी के वाचाल परिदृश्य में 'वात्स्यायन जी को' समर्पित था.

जिस शालीन चुप्पी से उस संग्रह को सिर पर से गुजर जाने दिया वैसा केवल नवीन जी के साथ ही हो सकता था और सांत्वना इस बात की है कि किसी तरह यह चुप्पी न टूटे इसका भरसक प्रयास उस समय के इतिहास में देखा जा सकता है और यह दीर्घजीवी चुप्पी उनके दूसरे कविता संग्रह 'जब खुद नहीं था' तक किसी तरह क्षीण नहीं हुई थी. उस संग्रह के ब्लर्ब में नवीन जी ने स्वयं पर तंज करने की अपनी प्रवृत्ति में डूबे लिखा था, 'राज्यवादी उत्कृष्टतावादी और मार्क्सवादी तथा वे तमाम वादी-प्रतिवादी जो कविता की बरबादी के लिए जिम्मेदार हैं, उन्हें यह संग्रह अच्छा नहीं लगेगा, और यही इस संग्रह के अच्छा होने का सबूत होगा.' आज जब कि हमारे ही शहर बीकानेर से उनका तीसरा कविता संग्रह 'हर घर से गायब' प्रकाशित हो चुका है तब उनकी ये पँक्तियाँ अपने हास-परिहास में जिस त्रासदी की ओर संकेत करना चाहती थीं वह दृश्य और अधिक स्पष्ट हो हमारे सामने उपस्थित है.

असंख्य मित्रों से घिरे नवीन सागर असंख्य रूपों में अपने मित्रों को घेरे रहते थे. उन पर एक तरह से कविरूप में स्वयं को भुला देते थे. उनके लिए अपना अन्तिम समय जिस अकेलेपन और उदासी और उपेक्षा में बीता वह कतई अनापेक्षित नहीं है.

आज नवीन सागर कहीं नहीं होते हुए भी हर कहीं हैं और जो हर कहीं होने का वहम पाले हैं वे जानते हैं कि दरअसल वे कहीं न होने को अभिशप्त हैं. कला अपने अनेकों रहस्यों–जादू के अतिरिक्त इस नियति से समय पड़ने पर वाकिफ करा देती है कि कुछ भी स्थायी या कालजयी नहीं है और जो कतई अस्थायी और क्षणभंगुर होने की अनुभूति कराता है वह कई बार युगों की हदों को भी पार कर जाता है. कला की सम्वेदनशील दुनिया में रहते यदि हम अपने भीतर के कालुष्य को नहीं मिटा पाते हैं, अपने अहम से नहीं टकरा पाते हैं तो यह मान लेना चाहिए कि हम कहीं भी भीतर नहीं बल्कि हर कुछ के बाहर हैं, त्याज्य हैं, अपशिष्ट हैं. नवीन सागर की तरह जीना कई तरह के बाहर से कहीं अधिक अदृश्य भीतर में धँसा होना होता है. ऐसा व्यक्ति अपने होने के बाहरी रूप में अत्यन्त सामान्य बल्कि, कई बार नगण्य सा प्रतीत होता है किन्तु इस होने के लगभग नामालूम अहसास के पीछे वह दरअसल अपने घट के भीतर की हदों को चुनौती दे रहा होता है. अपनी कविता में सम्पूर्ण की खामोशी को दर्ज करने की सामर्थ्य नवीन जी में इसी अपने होने के अहसास की व्याकुल आकांक्षा के चलते ही सम्भव हो पायी.

नवीन सागर का समूचा काव्य संसार इस संसार में अपने गहरे अवस्थित होने, होते रहने की आकांक्षा का विस्तार है. उनके काव्य में अपने भीतर की टूटन, अकेलेपन की जैसी अभिव्यक्ति रूप लेती है वह उनके कई समकालीनों से कहीं अधिक स्थिर, हरी और अपने होने में नितान्त अछूती लगती है. वे अपने को चींथते हुए भी कभी भी आत्मदया-आत्मरति में लिथड़े नहीं लगते. अपने समय की काव्य भाषा में निरन्तर होते क्षरण के बरअक्स नवीन सागर एक ऐसा विकल्प रचते–आविष्कृत करते हैं जिसमें उनके हाहाकारी अनुभव के साथ साथ सन्नाटे की गूँज भी अपना होना घटित होते रचे जाते देख सकती है. पेशेवर बातूनी और वैचारिक जुगाली के व्यावसायिक समय में नवीन सागर हर कुछ के भीतर वहाँ झाँकते थे जहाँ रंगों का मटमैलापन अपनी वास्तविकता में ऊँघा पड़ा रहता था.

नवीन सागर का होना उनके न होने के अहसास के साथ अधिक उपस्थित लगता है. ऐसा व्यक्ति अपने रचनाकर्म में कुछ यूँ सम्वादरत रहता है कि शेष सबकुछ को खामोश रह जाना पड़ता है. वह प्रतिक्षण जागृत अवस्था में व स्वप्नावस्था में भी भाषा की दुनिया को विचलित किये रहता है. इस विचलन में जब तक किसी का विलयन न हो तब तक कला के कपाट प्रस्तरवत बन्द पड़े रहते हैं. वहाँ बार बार सिर टकराकर लहूलुहान होने की सामर्थ्य चाहिए जो हम जानते हैं हमारे रचना संसार के पूर्णकालिक कार्मिकों के लिए व्यर्थ के पागलपन के सिवाय और कुछ नहीं होता. लेकिन तब भी नवीन सागर जैसे रचनाकार हमें झकझोरते हैं और इस झकझोरने में उनकी उपस्थिति और अधिक पसारा पाने लगती है. ऐसी मुक्ति विरलों को ही नसीब होती है. शेष के लिए यह मुक्ति व्यर्थ का अवैज्ञानिक उपक्रम से अधिक कुछ नहीं होती.

भोपाल से वापसी के दिन शाह साहब ने मेरे नवीन जी को पत्र लिखने के आग्रह पर मुझे चुनौती देते हुए कहा कि तुम किसी भी जतन से नवीन से पत्र का जवाब हासिल कर दिखला दो तो हम तुम्हें मान जायेंगे. और मैंने सहज ही इस चुनौती को स्वीकारते हुए कहा कि पीछे का इतिहास भूल जाइये. मैं नवीन जी से पत्र लिखवाकर रहूँगा. स्टेशन पर विदा के वक्त उनसे गले लगते जब मेरा गला रुँध रहा था तब वे अपना हाथ मेरी पीठ पर थपथपाते कह रहे थे, 'मुझे तुम्हारे पत्रों का इन्तजार रहेगा.' उसके बाद मैंने एकतरफा पत्र व्यवहार करते हुए पूर्ण निष्ठा से उन्हें डिगाने की कोशिश की. अन्त तक मैं उनका कोई पत्र नहीं प्राप्त कर सका मगर इस पत्र व्यवहार की निरन्तरता और हठ के तार साधता जाने कब मैं सब भूल गया... और एक दिन मुझे दोपहर प्रकाशक दीपचन्द सांखला ने फोन पर सूचित किया, 'तुम्हारे लिए बहुत बुरी खबर है... नवीन सागर का निधन हो गया है.' मैंने तुरन्त रिसीवर रख दिया. ऐसे व्यक्ति का जाना उसके जाने से अधिक आपका जाना बन जाता है. आपका न रह जाना रह जाता है.

बरसों बाद पिछले बरस जब भोपाल जाने का संयोग हुआ तो लगा कि किस तरह व्यक्ति के चले जाने पर उस शहर का भी एक हिस्सा अपने स्थान से छिटक जाता है. विशेषकर एक ऐसा व्यक्ति जो प्रथम परिचय में नितान्त अवांछित हो और अन्त में आपके भीतर अवस्थित हो आपके होने में खिलता हो, जब आप उसे याद करें तो पायें आपने अपने को याद किया है. आज इस तरह खुद को याद दिलाने वाले मित्र कितने रह गये हैं? ▣

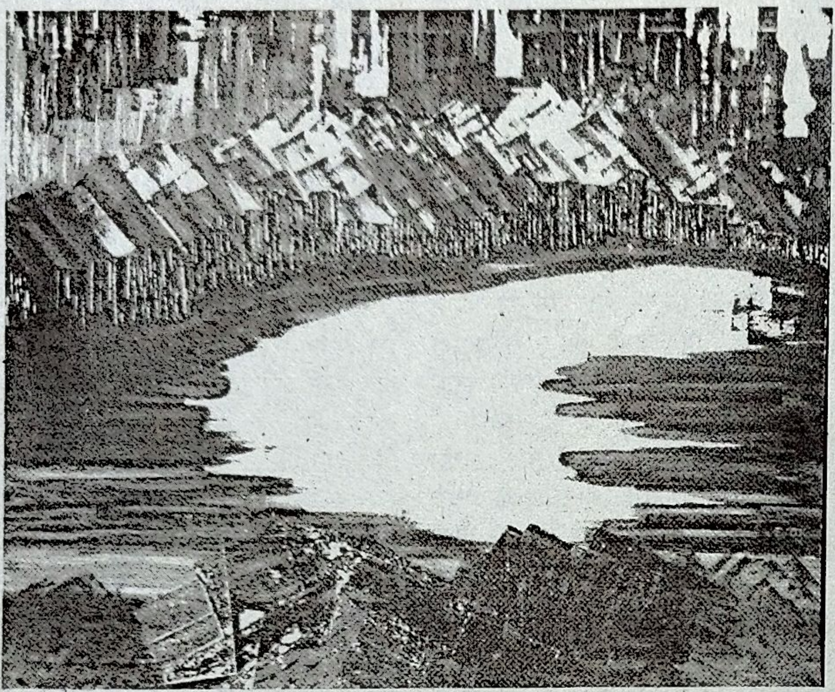
● माजिसा की बाड़ी, राजकीय मुद्रणालय के सामने, बीकानेर-334001

◆ कला समीक्षा ◆

कला की दुनिया में नवीन

प्रयाग शुक्ल

नवीन सागर ने कविताएँ लिखीं, कहानियाँ लिखीं, मित्रों को चिट्ठियाँ लिखीं और बच्चों के लिए भी बहुत सुन्दर कविताएँ लिखीं. इनके संग्रह भी प्रकाशित हैं. पर नवीन सागर ने जो चित्र बनाये, रेखांकन किये, उनकी न तो बाकायदा कभी कोई प्रदर्शनी हुई, और न ही उनका कोई कैटलॉग प्रकाशित हुआ. अचरज नहीं कि नवीन सागर के रचनात्मक जीवन का यह पक्ष अब तक अनदेखा ही रहा है, और निकट के मित्रों तथा परिजनों के अलावा उनकी इस रुचि का पता कम ही लोगों को है.



चित्र : नवीन सागर

नवीन के चित्र-रुझान का पता मुझे स्वयं कभी-कभार उनके उन पत्रों से मिला जिनके साथ उनके रेखांकन भी होते थे. इसका पता मुझको उनकी बातचीत से भी चलता रहता था जिसमें वह चित्रों और कलाकारों पर कुछ मर्मभरी टिप्पणियाँ किया करते थे. पर मुझे इसका अफसोस है कि नवीन सागर के जीवनकाल में मैं उनके बनाये हुए तमाम चित्र नहीं देख पाया जो अनन्तर अभी कुछ मास पहले श्रीमती छाया सागर के सौजन्य से देखे और देखकर कुछ चकित ही हुआ कि पेन-पेंसिल से लेकर, पैस्टल, चारकोल, जलरंग आदि कई तरह की सामग्री एक कागज पर बरतते रहे थे और चित्र-रेखांकन उन्होंने बीसियों की संख्या में बनाये थे. इनमें से कुछ परिवार के पास सुरक्षित हैं, कुछ मित्रों को भेंट दिये गये थे, कुछ नष्ट हो गये हैं. मैं उम्मीद करता हूँ कि जो चित्र बचे रह गये हैं, उनकी प्रदर्शनी भोपाल-दिल्ली में लगेगी और हम उनके चित्र-रुझान का कुछ बेहतर आकलन कर पायेंगे.

नवीन के घर जाने पर—और भोपाल जब भी जाना होता था उनके घर जाता ही था—नवीन का एकाध चित्र दीवार पर भी देखता था. कभी किसी कोने से भी या किताबों-कागजों के बीच से भी वह निकल आता था, या हमारी ओर झाँक लेता था. पर कविता और जीवन-जगत सम्बन्धी बातचीत के बीच मानो हम उनमें थोड़ी-सी दिलचस्पी लेकर, फिर अपनी बातचीत में लग जाते थे. मैंने मान लिया था कि नवीन भी शौकिया चित्रकारी करते हैं, और यह कोई अनहोनी नहीं है क्योंकि प्रायः सभी कवियों में चित्रकला के प्रति एक सहज रुझान होता है, और उन्हें डूडलिंग करने में, कभी-कभार रेखांकन करने में, विशेष आनन्द आता है. चित्रकला और कविता की दुनिया(ओं) में कोई ऐसी समानता है जरूर जो कलाकारों को कविता की ओर, और कवियों को कला की ओर खींचती है. हिन्दी जगत की भी बात करें तो 'अज्ञेय', (हम देखें इन्होंने चित्र रचना एक लम्बे अरसे तक की), प्रभाकर माचवे, सर्वेश्वर, जगदीश गुप्त, विपिन कुमार अग्रवाल और रघुवीर सहाय के नाम इस सिलसिले में सहज ही याद आते हैं जो चित्र-रेखांकन आदि बनाया करते थे. बाद की पीढ़ियों में भी विजेन्द्र जैसे नाम हैं और अपने कई कवि-मित्रों की डायरी, कॉपी, नोटबुक, स्केच बुक आदि से मैं (भले ही 'खेल खेल में' बनाये गये) रेखांकन देखता रहा हूँ और कभी-कभार तो केवल यह सुनता रहा हूँ कि वे ऐसा भी 'कुछ' करते हैं. लेकिन नवीन के बहुत से चित्र देखने के बाद मुझे लगता है कि उनका चित्र मामला, 'शौकिया चित्र रचना की कोटि' से आगे का था और उनमें निश्चय ही इतनी चित्र-प्रतिभा थीं कि अगर वे उसको और अधिक लगकर बरतते तो उनकी अपनी एक चित्र-भाषा भी बनती और हम उनके चित्रों को डिकोड करने की दिशा में एक अलग तरह से प्रवृत्त होते. लेकिन नवीन ने अपनी इस प्रतिभा को अपने अन्य माध्यमों, जिनमें कविता ही प्रमुख थी के इर्द-गिर्द ही रखा और स्वयं अपनी रचना की मुख्य धारा से उसे नहीं जोड़ा पर, कभी उसे भुलाया भी नहीं. कभी

कभार बरतने में, और उसे न भुलाने के सन्दर्भ में ही नवीन के चित्रों को देखा जाना चाहिए, और यह पहचाना जाना चाहिए कि उनकी विशिष्टता (एँ) क्या हैं? और उनके रंग-रेखा आकार हमसे कहते क्या हैं? यह भी कि क्या ऐसा कुछ हम उनमें पढ़ ले सकते हैं, जो उनकी कविताओं में पढ़ते हैं? या फिर वे अपनी एक अलग और स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं, और उनके चित्रों और कविताओं के मिलन-बिन्दु हमें देखने को कहीं मिलते हैं?

उनकी कविताओं और चित्रों में एक समान बिन्दु तो मुझे दिखता है : नगर के प्रति, मनुष्य-आवास के प्रति, उनमें कई तरह की चिन्ताएँ कविताओं में भी मिलती है, और चित्रों में भी कई बार एक नगर है या घर-मकानों-गलियों का एक आभास सा है. हाँ, नवीन की कविताओं में हमारे सामाजिक जीवन की जो गति-संगति विसंगति (याँ) प्रायः मिलती हैं वे नगर प्रसंग से ही अधिक मिलती हैं और इस सिलसिले में उनके मरणोपरान्त प्रकाशित संग्रह की कविताओं को खास तौर पर देखा जा सकता है. यहाँ तक कि उनकी कहानियों में भी, बहुतेरे प्रसंग मानो घर-मकानों की बनावट, उनकी स्थिति, उनके क्रिया-कलापों के जरिये भी प्रकट होते हैं और किसी न किसी मानवीय अनुभव में तब्दील होते हैं. कमरों, छतों, आँगनों, खिड़कियों, दरवाजों की—और उनमें रहने, बाहर निकलने या घर बाहर के बीच में कहीं ठिठके रहने की—प्रवृत्तियाँ नवीन के यहाँ होती हैं, जिनसे कई छवियाँ बनती हैं और वे अपनी आप में भी टिप्पणियाँ बन जाती हैं किसी स्थिति पर, विडम्बना पर किसी संगति विसंगति पर ही नवीन के चित्रों और रेखांकनों में प्रायः एक आवास की भी तलाश है : इच्छाजनित, कल्पनाजनित. यह तलाश मानो एक प्रतिरोध है, उन विसंगतियों को लेकर जो समाज में पलती हैं, उस समाज में जिसमें वर्गभेद भी है, सच्ची सम्वेदनाओं की कमी है और जहाँ सौन्दर्य की, रचनात्मकता की चाहत रखने वाला व्यक्ति अपने को कुछ अजनबी महसूस करता है—वह हर घर से बाहर है.

नवीन जो भी रंग-सामग्री बरतते हैं, उसमें सौन्दर्य की, कोमलता की, और रंगों की अर्थछटाओं को उभारने की इच्छा वह रखते हैं. वह उसके माध्यम से ही एक भावना-नीड़, एक बिना दीवारों का घर बनाते हैं, जिसमें प्रवेश करते भी एक सुकून मिले. हाँ, चित्रों में उन्हें सुकून की तलाश है. और इस अर्थ में उनके चित्र कविताओं-कहानियों से अलग हो जाते हैं : वहाँ (यानी कविताओं कहानियों) में तो कई चीजों से टकराना भी है, कई वास्तविकताएँ रास्ता रोककर अपनी ओर बुलाती हैं. पर चित्रों रेखांकनों में रंग-रेखाओं के माध्यम से वह उन वास्तविकताओं से बचकर न चलते हुए भी एक अलग रास्ता बनाते हैं. यह पलायन नहीं है, रचना ही है. एक प्रति-संसार की रचना और इस संसार में भी नवीन की मूल सम्वेदना काम करती है जो अच्छी भली चीजों से प्रेम करती है. प्रसन्न रहना और रखना चाहती है और चाहती है कि पास पड़ोस से लेकर समूची दुनिया ही बेहतर बने. प्रसन्न होकर रहने लायक हो. हाँ, नवीन के रंग, प्रसन्नता की ओर, सुख की ओर संकेत करते हैं. उनमें प्रायः एक खुलता हुआ चित्र आकाश है, क्षितिज है, और कहीं-कहीं रंग वैसे हैं जैसे फूलों जैसी ताजगी वाले रंग होते हैं. वे कभी बहुत चटख नहीं हैं, न ही उनसे कोई अतिरिक्त आभा रचने की इच्छा है. रंगों को और रंग सामग्री को भी, उनके सहज या मूल स्वभाव में ही बरतने की चाह है. अचरज नहीं कि नवीन के चित्र आत्मीय हैं. हमसे सहज ही बोलने बतियाने वाले. उन्हें कहीं निश्चित अर्थ-आशयों में बाँधने की कोशिश न की जाये. वैसे भी अगर किसी कलाकृति का कोई एक ही अर्थ आशय हो तो उससे खराब कलाकृति भला और कौन सी होगी!

नवीन के चित्र-रेखांकन अपनी विजुअल अपील में भी हमें मोहित करते हैं. यह कहते हुए कि आओ, इस कवि की दुनिया से निकलकर उसके चित्र संसार में भी प्रवेश करो, वहाँ भी वह नवीनता, वह ताजगी मिलेगी, जो नवीन नाम के कवि-कथाकार की कृतियों में, और उसकी चिट्ठियों तक में मिलती है और हम जो चित्र हैं, वे नवीन के पत्र भी तो हैं. ▣

● एच-416 पार्श्वनाथ प्रेस्टीज, प्लॉट नं. 2, सेक्टर 93 ए, नोएडा-201304

◆ समीक्षा आलेख ◆

उसकी कविता पर एक मुकम्मिल समीक्षा की तैयारी में

•

विष्णु खरे

सार्थक कवि वे होते हैं जिनकी आप पेशेवर, प्राध्यापकीय या गैर प्राध्यापकीय, वस्तुपरक समीक्षा कर नहीं सकते—बल्कि जो आप करते हैं उसे समीक्षा कहना भी वैसे कवियों की और स्वयं अपने लिखे की एक अवमानना लगता है. नवीन सागर भी एक ऐसा ही कवि है. कठमुल्ला विचारधारा, खालिस नासमझी, निजी राग-द्वेष या उसकी तरह की कविता से वास्तविक चिढ़ के आधार पर नवीन की कविता को बर्खास्त या नज़रअन्दाज किया जा सकता है—किया गया भी है. लेकिन नवीन जैसी कविता की शायद पहली शर्त यह है कि उसके साथ सहानुभूति नहीं, सह-अनुभूति रखी जाये, वह सह-अनुभूति, वो शायद कविता के सच्चे पाठकों के पास ज्यादा होती है, उसके बौद्धिकतम विश्लेषक के पास कम. एलिआ ने कवियों के बारे में 'व्यक्तित्व- विलोप' की बात की है जो कि सिर्फ आंशिक रूप से सही है. सार्थक कविता के आगे आलोचक को भी अपने व्यक्तित्व का विलोपन करना पड़ता है—उसे अपने व्यक्तित्व का विलोपन करना आना चाहिए, वर्ना वह किताबी और पंडित आलोचक ही हो पायेगा. समर्थ कविता मात्र समझने नहीं, महसूस करने के लिए पाठक-समीक्षा को परकायाप्रवेश ही नहीं, पररक्तमज्जानुभूतिप्रवेश का कापालिक होना पड़ेगा. उदाहरणार्थ देखें 'निराला' को लेकर रामविलास शर्मा और मलयज.

नवीन सागर की कविता को लेकर कथित हिन्दी संसार ने इतने अपराध किये हैं—जिनमें मैं भी लज्जा और पश्चाताप के साथ शामिल हूँ कि उनका खामियाजा अदा करने में बहुत वक्त लगेगा. मुक्तिबोध और नवीन एक ही तरह या एक ही पाये के कवि नहीं हैं—जबकि यह सिद्ध किया जा सकता है कि नवीन पर मुक्तिबोध का असर है, बल्कि हम कहें कि नवीन में मुक्तिबोध की मौजूदगी है लेकिन उनके जीते जी मूल्यांकन में हिन्दीवालों ने जो कल्पनाशून्य कोताही और कमीनगी दिखायी है उसमें एक साम्य है. यहाँ एक समस्या यह है कि एक प्रतिबद्ध पाठक के लिए मुक्तिबोध कोई विचारधारागत कठिनाई या परहेज या दुविधा खड़ी नहीं करते, उनके शिल्प, भाषा और फन्तासी एक जटिलतम चुनौती बनकर आते हैं. नवीन के यहाँ प्रतिबद्धता उतनी स्पष्ट या सहज उपलब्ध नहीं है, लेकिन उसका अँधेरा और अकेलापन मुक्तिबोध की ऐसी ही अलामतों से कहीं अलग है. यदि हम मुक्तिबोध को सूर्य मानें और शमशेर बहादुर सिंह, विनोद कुमार शुक्ल और नवीन सागर को उनसे अपने अपने तरीके से ऊर्जा पाने वाले ग्रह, तो हम पायेंगे कि स्वायत्त होते हुए भी शमशेर अपनी परिक्रमा में मुक्तिबोध के सबसे नजदीक आ जाते हैं, विनोद उनसे कुछ कम और नवीन विनोद से भी कम. इसीलिए इन पर जो जीवन हैं उनमें न्यूनाधिक अन्तर हैं, आप उसे सृष्टि वैविध्य कह लें, लेकिन उनमें आधारभूत साम्य भी है, शायद जल जैसा, जिसके बिना कहा जाता है कि सारे ब्रह्मांड में किसी तरह का जीवन सम्भव नहीं.

यदि आप किसी कवि को प्रासंगिक समझते हैं, इतना कि उसके मूल्यांकन की दरकार महसूस करें, तो आप सूक्तियों, सुभाषितों, सामान्यीकरणों या फतवों में बात नहीं कर सकते, आपको उसकी कविताओं को बहस में लाना होता है और दुर्भाग्यवश क्योंकि सारी कविताओं को नजीर नहीं बनाया जा सकता इसलिए आप उनसे उद्धरण देने के लिए बाध्य होते हैं, जो भले ही चुनिन्दा और अपर्याप्त हो और पूरी तरह से भरोसेमंद या तसल्लीबख्श नहीं, लेकिन जिनका कोई और सुविधाजनक विकल्प नहीं होता, हालाँकि यदि सारी आलोचना आसानपरस्त हो जाये तो उसका सबसे ज्यादा नुकसान कवि को ही उठाना पड़ता है—छायावादी कवियों तथा अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन, दोनों केदार, भवानी भाई, कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त, धूमिल आदि प्रतिष्ठित कवि आज अपने ही उद्धरणों के असहाय शिकार हो चुके हैं. उन पर उन्हीं-उन्हीं उद्धरणों के सहारे लेख, पुस्तकें और शोध-प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं, समूची रचनाएँ शायद ही कोई पढ़ रहा हो. यह रोग, जो शायद रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास से गम्भीर हुआ, हमारे प्राचीन और मध्ययुगीन कवियों को भी अपठित अकालकवलित कर गया है.

किसी कवि पर चर्चा की शुरुआत उसकी कविताओं से उद्धरणों से की जाये यह विचित्र, (चर्चाकार के लिए) हास्यास्पद तथा (कवि के अन्य प्रशंसक-पाठकों को) आपत्तिजनक लग सकता है. लेकिन मेरे साथ नवीन को लेकर फिलहाल जो दिक्कत है वह उस संगीत-कृतिकार (कम्पोजर) की कठिनाई की तरह है जिसने सारी धुनों की स्वरलिपियाँ तो बना ली हैं, लेकिन उन्हें एक संगीत रचना में अन्वित नहीं कर पा रहा है, अपने कानों में वह अपनी सिम्फनी का एक मसविदा सुन रहा है, लेकिन उसे बजाये जा सकने वाला स्वरूप देने में वह अभी असमर्थ है. इसमें निस्सन्देह मेरी क्षमताओं की सीमा को दोष है. मैंने सात वर्ष पहले नवीन के पहले संग्रह 'नींद से लम्बी रात' (आधार प्रकाशन, पंचकूला, 1996) की कविताओं पर एक 'प्रभाववादी' शैली में उद्धरणहीन कुछ लिखा था जो 'जहाँ छूट गया हूँ, वहाँ मेरा वह एक और जीवन है' शीर्षक 'स्मृति : नवीन सागर' आयोजन की स्मारिका में प्रकाशित हुआ था, लेकिन फिर उसके बाद उसके दो संग्रह 'जब खुद नहीं था' (कवि प्रकाशन,

बीकानेर, 2001) तथा 'हर घर से गायब' (सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर, 2006) और आये, जिनसे दो-चार होना सम्भव न हुआ और बहुत-कुछ कुसूर स्वयं नवीन सागर की काव्य प्रतिभा का है, जो अपनी जटिलता के कारण अपने मूल्यांकन के रास्ते में कई व्यवधान खड़े करती है.

हमें पता नहीं कि नवीन सागर की कितनी कविताएँ अभी अप्रकाशित हैं या असंकलित बिखरी हुई हैं किन्तु उसके तीन संग्रहों में 175 शीर्षक हैं. कुल कविताएँ इससे ज्यादा होंगी. मुझे जिस बात ने बहुत हैरत में डाला वह यह है कि मैंने उनमें बहुत कम रचनाएँ ऐसी देखीं जिन्हें निकालना चाहता—शायद दस से ज्यादा नहीं. क्या नवीन ऐसी कविताएँ लिखता था जो खारिज न की जा सके या स्वयं उसके द्वारा अस्वीकृत उसकी कविताएँ कहीं बची हुई हैं, या संशोधित कर प्रकाशित की गयी हैं, या उसने नष्ट कर डाली थीं? मुझे इस सन्देह का अहसास है कि शायद मैं उसकी असामयिक मृत्यु से उपजी स्थायी भावुकता के दबाव में कहीं उसके सारे सृजन को श्रेष्ठ न मान रहा होऊँ लेकिन इन 175 कविताओं को पूरी समीक्षात्मक जागरूकता के साथ दो बार पढ़ने के बावजूद मुझे ऐसा नहीं लगा कि इनमें से बीस को भी सिरे से अस्वीकार्य मानूँ. साफ है कि नवीन ने सर्जनात्मकता का एक ऐसा अनिवार्य न्यूनतम श्रेष्ठ स्तर तो हासिल कर ही लिया था, जिसे वह कभी भी अतिक्रमित कर लेता था, कि जिससे उसके एक सार्थक कवि माने जाने में कोई सन्देह न रहे.

उद्धरणीयता हमेशा कविता का गुण नहीं मानी जा सकती—कई हिन्दी कवियों का तो वह मर्ज बन गयी है—लेकिन नवीन के यहाँ वह काव्य-कथन से अपने आप जनमती है. नवीन पीको, क्रोशिए, मुक्कैश के काम में कोई यकीन नहीं करता, वह सूक्तियाँ, आप्तवचन, साखी, तात्पर्य, निष्कर्ष आदि अपनी कविताओं में जड़ता-टाँकता नहीं. लाघव या चमत्कार प्रदर्शित करने में उसकी कोई आस्था नहीं. फिर भी उसकी कविताओं से उद्धरण निकाले जा सकते हैं और खूब निकाले जा सकते हैं :

नवीन सागर के कविता संग्रह

'नींद से लम्बी रात' से

सुन्दरता!/कितना बड़ा कारण है/हम बचेंगे अगर//जन्म चाहिए/हर चीज को एक और/जन्म चाहिए (हम बचेंगे अगर) हमारी मृत्यु होती थी/जन्मों से भरे इस संसार में हम/बार-बार जन्म लेते थे (जगह-जगह दरवाजे हमारे) इस घर में घर से ज्यादा धुआँ/अँधेरे से ज्यादा अँधेरा/दीवार से बड़ी दरार//...इस घर में नींद से बहुत लम्बी रात (इस घर में) मरने से डरता हूँ एक दिन/तो बड़ी हिंसा हो जाती है दूर-दूर (मैं तो नागरिक) ऐसे में वह दिन आता है/ जब युद्ध जरूरी हो जाता है/नजरें बचाते हुए/कहते हैं युद्ध अब जरूरी है (प्यार करते हैं) घर गिरा, सुबह पहले मैंने मलबे का घर/खड़ा किया/माँ! इस तरह रोज मैंने/तुम्हारे सपने का घर खड़ा किया (अत्र कुशलम् तत्रास्तु) हर तरफ दम साधे/घरों के निहत्थे सन्नाटे भर हैं/हुआ क्या आखिर/कि चीखों के संसार में हर कोई अकेला/ऐसा जीना और ऐसा मरना!/इस तरह कि एकदम बेमतलब! (मेरी दस्तक) यह बहुत अच्छी सरकार है/इसके एक हाथ में सितार दूसरे में हथियार है/सितार बजाने और हथियार चलाने की/तजुर्बेकार है (अच्छी सरकार) जब हम कहते हैं कि पैसा ही/सबकुछ नहीं/जब हम किन्हीं गहरी चीजों में/ध्यान लगाने का उपदेश देते हैं/तो बच्चे जो हमारी लालच को/जानते हैं उनके शर्मसार चेहरे उनके/चेहरों में छिपते हैं (पैसा पैसा) दीवाली की दुकानें लगी हैं/ उन पर कट्टे थ्री नॉट थ्री और एके 47/बिक रही हैं/पैसे वाले स्टेनगन ले रहे हैं/मैंने तीन कट्टे खरीदे/दो लड़कों के लिए एक अपने लिए/शाम से ही फायरिंग होने लगी (दीवाली की दुकानें) अपनी माँ को पीठ पर लादे देहाती/ अस्पताल में/कुछ कहता भटक रहा है/माँ जबकि उसकी कब की/मर चुकी है (देहाती का चित्र) किसे मार दूँ/मारा किससे जाऊँ/आह! जीवन बचे रहने की कला है (बचते-बचते थक गया) कुत्तों का जीवन/आदमी के खेल का हिस्सा लगता है (कुत्ते) मेरी रातों के चिथड़ों से/बना है अन्धकार/मेरी दस्तकों से/बना है दरवाजा!/मेरी मृत्यु से बना है मेरा जीवन (कविता क्यों नहीं है प्रकाश) क्यों मैं एक घेरे के बाहर/सोच नहीं पाता!/क्यों मेरा दिमाग गड़बड़ चीजों का कबाड़ है! (मैं तथा मैं, तेईस) जहाँ कभी आया नहीं/मेरा जीवन इस तरह बिखरा हुआ सामान था!/कि मैं अन्तिम कुली हूँ/और उसे छोड़कर जा रहा हूँ (वहाँ कभी आया नहीं) घरों में जाता हूँ आर-पार/घरों से निकलता हूँ दिखता हूँ/दिखता हूँ हर जगह/हाँ! मैं ही तरह-तरह अकस्मात! (अकस्मात्) मैं निकाला गया/जिनमें झाड़ू दी लीपा पोता उन घरों से/धक्के देकर पार्कों रेलवे स्टेशनों से/दोस्तों के एकान्त से/जिन्हें गोद में लिये मैंने गुजार दी रातें/उन बच्चों के पाँव से/काँटे की तरह निकाला गया मैं (कभी आधा कभी पूरा)

'जब खुद नहीं था' से

तुम अपनी खाली जगह में/अपना इन्तजार कर रहे हो (यह सम्पूर्ण की खोमोशी है) मैं अगर कोई भी होता/जाने क्या कैसा!/जो हूँ इसका मुझे/क्या पता चलता!! (खुद को याद आ रहा हूँ) इस तरह जाता हूँ/हर तरफ नहीं/दरअसल मैं नहीं जानता/कि मैं जाता कहाँ हूँ! (डूबता है) ऐसे में किस-किसको/ बुलाता/जब खुद नहीं था!/ (जब खुद नहीं था) कोई भी आ सकता है बिना दस्तक/घर में कोई भी किसी के परे में/छुरे की तरह मार सकता है/एक भयानक आवाज कर और रुकी है (फिर भी) मर जाना कैसी अजब बात है...///अभी तुम हो तुममें है/तुम न रहोगे तो/पूरी तरह से चला जायेगा वह (मर जाना) दरवाजा खोलो/पूरे संसार का दरवाजा/बाहर दूर से आते/बाहर हम/कुछ नहीं दस्तक दस्तक!! (बिल्कुल जगह-जगह) जीवन एक लम्बी उबासी/ जिसमें धरती और आसमान के बीच/रुकी उबासी की तुक है (जाने से पहले का वक्त) जीवन कभी किसी की याद-सा/किसी के सपने की धुन्ध सा (मुड़कर देखने पर) सारे जन्मों में हमीं जन्म लेकर जन्मों की प्रार्थना गाते हैं/हमीं जाते हैं/हमीं रह जाते हैं (दो अप्रैल को जन्मे सबकुछ के लिए प्रार्थना) मैं उसे प्यार करता/यदि वह जानती/मैं खामोशी की लय में अकेला उसे प्यार करता हूँ (प्यार के बहुत चेहरे हैं) अपना अभिनय इतना अच्छा करता हूँ/कि हूबहू लगता हूँ/दरवाजे खुल जाते हैं/नींद के नीम अँधेरे चलचित्र में जागा हुआ/सूने

बिस्तर पर सोता हूँ (अपना अभिनय इतना अच्छा करता हूँ) जहाँ से शुरू हुआ हूँ/ वहाँ से पहले से है मेरी शुरुआत/जहाँ हुआ हूँ खत्म/वहाँ से आगे चला गया है मेरा सिलसिला (वास्तव में अवास्तविक हूँ) दोस्त कितना अच्छा होता होगा/आता होगा/बैठ जाता होगा पास में/और उसकी परछाईं/ धूप में भीतर दोस्त के/टहलती होगी मजे से (उसका कोई दोस्त नहीं है) दुनिया में मेरा जो चित्र है/उसके ऊपर की कथा/चित्र फीके रंगों पर धूल-सी पड़ी है (वह दरवाजा अकेला दूर) जिन्दगी की काल कोठरी में/रामकुमार का चित्र दीवार पर टँगा होना चाहिए/ उसी में भीतर/इतने बाहर दूर निकल जाऊँगा/ कि हर हद पर खड़ा हुआ बेहद/रह जाऊँगा अकेला (रामकुमार के लैंडस्केप में रहना है) एक दिन हमारे अलबम में/पता नहीं चलता कि माँ/कहाँ चली जाती है/ उसकी चिट्ठियाँ और उसका नाम/भाषा में नहीं मिलता/ (तस्वीर) हम कबसे हैं साथ/इस घर में कितना जीवन/ गुजारते हुए बने हम/कहाँ गया सब जो हुआ कभी/हम गये कहाँ/जो मिलते नहीं आईनों में (इस घर में कितना जीवन) आदत से/बार बार अँधेरे में कहता था/अब घर चलना चाहिए/घर के भीतर घर ढह गया/मैं रहते-रहते थक गया हूँ (अब घर चलना चाहिए) मेरे अनेक दुश्मन/ पर पता नहीं उन्हें यह बात!//जब उन्हें मारता हूँ/उन्हें पता नहीं चलता कि/मारे जा चुके हैं/मैं उनका कातिल/और वे सामने से गुजरते हैं (सकुशल अपार) मेरी बेटी जब भी घर आती है/ निर्मल वर्मा की किताबें माँगती है/ उनकी सारी किताबें उसे दे चुका हूँ/पर उसे/हर बार शक है किताब कोई मैं उनकी/छिपायें हूँ (निर्मल वर्मा की किताबें) हम वहाँ कभी नहीं थे/जहाँ लोग मारे गये (क्या करें हम) मुझे आँखों से देखो पूरा/कि रह न जाऊँ/मुझे ऐसे भूलो/कि मैं याद करता रहूँ//मेरे लिए दरवाजा खोलो/मेरी दस्तक से पहले (होना था) इस शहर में/जो मकड़ी कीड़े को/अपने जाल में लपेटती है/वही मकड़ी उसी कीड़े के भीतर से/निकलती है/शहर ऐसे कीड़ों से भरा है//यहाँ का हर कुत्ता दूसरे से लड़ता है/पूँछ हिलाने के बाद वह लड़ेगा जरूर/यहाँ के चूहे चूहेदानी में रखी चीजें/ खा जाते हैं/फँसते नहीं हैं/तिस पर यहाँ छिपकलियाँ/मकड़ी के भीतर से निकलती हैं/जाल में लिपटे कीड़ों को मकड़ी समेत खा जाती है (पीछे शहर रात भर बिखरा पड़ा रहता है) किसी को पता ही नहीं होगा मेरा इतिहास/किसी को पता ही नहीं होगा कि मैं अपनी कल्पना हूँ... /घर में देश कुर्क होगा और मेरा परिचय/नीलाम हो जायेगा (मैं चला जाऊँगा)

'जिनके मकान नहीं हैं' से

जिनके मकान नहीं हैं/ वे हर मकान के बाहर संदिग्ध हैं (संदिग्ध) तुम्हारे घर का मलबा/तुम्हारे खून में है (जिस दीवार से टिकते हो) मकान के नक्शे में/तीन दुकानें हर बार बनाते हो...//अपने रईस दोस्त की दुकान पर जाते हो/उसने भी तीन दुकानें निकाली थीं (धूल बनकर) कभी अकसर कभी/सबकुछ निरर्थक लगता है/जिये चले जाने की ऊब/भी लगती है व्यर्थ (जिये चले जाने की ऊब) मैं सोचता था दोस्त की माँ रोती है/पर/मेरी भी माँ रोती है (लोग क्या सोचते होंगे!) वह आज चुप है/घर में अकेली सूनी बैठी:..// स्त्री का चेहरा/देखा है कहीं (सितारे भी चुप हैं) नहीं! कोई नहीं है/वह करने के लिए जो/सबको करना था (घर-घर घंटियाँ) जीवन की इच्छा/जीवन का कारण बनी//देखने की इच्छा/दृश्य का कारण (कारण) और उस द्वार घर जाऊँगा/जहाँ तेईस जनवरी में मेरी माँ ने जन्म लिया है...//और अपनी माँ का छोटा भाई बनूँगा (उन्तीस नवम्बर) लोगों के बिना रह नहीं सकता/अपने बिना भी नहीं:..दुनिया में अस्सी करोड़ लोग भूखे सोते हैं.//मैं उनका पेट नहीं भर सकता/यह एक रूढ़ बात है (दुर्घटना) मेरे पास एक फूल/जो दिखता नहीं है/फूल तुम्हारे लिए (यही मेरा सुख) एक मनःस्थिति है/उस मनःस्थिति/की भाषा भी मनःस्थिति है/उसकी अन्तिम याद/ किसी और तरह याद आयेगी (कविता) हत्यारों पर आसमान से फूल झर रहे हैं/ जो मर रहे हैं उनके पास/कोई नहीं है (मैं तो अरे! करके रह गया) नाश करूँ ऐसा बाजार का! हाय! मुझे इतने सुन्दर बाजार से/नफरत है! नफरत है! (चिनगियाँ) पढ़ते हैं जितनी ही किताबें/ उतने ही जीवन एक जीवन में/ फैलते गहराते हुए चले जाते हैं (किताबें) युग के मुहावरे में नहीं रहा (धिक धिक कवि)

मुक्तिबोध और नवीन सागर को परस्पर समकक्ष ठहराना दोनों के प्रति एक मूर्खतापूर्ण अन्याय होगा लेकिन निम्नमध्यवर्गीय विपन्नता, यन्त्रणा, असुरक्षा, आतंक और अकेला कर दिये जाने को दोनों अपनी कविता में मार्मिक रूप से लाते हैं. मौलिक फर्क शायद यह है कि मुक्तिबोध अपनी गिरस्ती की त्रासदी को व्यापकता भारतीय समाज के संघर्ष से जुड़ने में भुला देते हैं जबकि नवीन सागर उसी भारतीय समाज के वर्चस्वी तबके से जूझता लेकिन पराजय-भावना लिये हुए अपने घर को भी तबाह पाता है. यदि कोई एक 'विषय' या 'बिम्ब' नवीन की कविता को ओत-प्रोत करता हुआ उस पर हावी या भारी है तो वह है घर, और जाहिर है कि वह बेदरो-दीवार का भी है. अतीत-राग (नॉस्टैल्जिया) मूलतः घर लौटता है और वह मात्र 'घर' या 'लौटना' नहीं है. नवीन के घर में दरवाजा, साँकल, दीवारें, उनके साये, मुहल्ला, मुहल्ले के दूसरे घर- दरवाजे- दीवार, गलियाँ, सड़कें, उनके प्राणी, स्त्री, बच्चे बच्चियाँ, माँ, मित्र आदि सब शामिल हैं. इन सभी के मेल से घर बनता है. लेकिन कवि के जीवन में कुछ ऐसा है कि इस सामूहिक घर में सुख और आह्लाद कभी-कभी ही मिलते या लौटते हैं. घर से निकलते भी हैं तो घर हमेशा साथ होता है, अपनी सारी उदासी के साथ, और लौटते हैं तो दस्तक पर दरवाजा खुलता भी है, लेकिन उस घर में नहीं जिसकी आस में लौटा जाता है.

जिस घर को नवीन उकेरता है उसमें गहरा अवसाद है. बल्कि वह घर में मलबा देखता है. उसमें आनन्द और स्नेह बहुत कम है. वहाँ रंग झुलसे हुए हैं, सपनों की धूल पर बच्चों की उँगलियाँ बनी हुई हैं. इस घर के बारे में वह जितना कहता है उतना ही अनकहा रह जाता है. इस गहरे अफसोस, पछतावे या वैफल्य-भाव का कोई इतिहास, कोई अर्थ होगा लेकिन कवि हमारे लिए वह दरवाजा नहीं खोलता. क्या वहाँ कोई अकथ्य रहस्य, कोई त्रास-कथा है? क्या वह यह संकेत दे रहा है कि उसकी लुप्त जिन्दगी और थकान में उसकी भी जवाबदेही है? यहाँ एक तकलीफदेह इकबाल भी छिपा हो सकता है क्योंकि इसमें कोई शक नहीं कि नवीन शायद

हिन्दी का सबसे जटिल 'कन्फैशनल' कवि है.

एकदम प्राथमिक या कथित नाभिकीय (पति, पत्नी, यानी पिता, माता और बच्चों से बने) निम्नमध्यवर्गीय परिवार की अनिर्वचनीय कहानी और उसके गहरे दुख और विफलता भरी तकलीफ को जितना नवीन सागर ने समझा और अभिव्यक्त किया उतना हिन्दी के कम कवि कर पाये हैं. बच्चों और परिवार के प्रेम से हिन्दी कविता अँटी हुई है लेकिन किसी भी कवि में यह कहने का त्रासद साहस न था कि जब हम अपने बच्चों को प्यार करते हैं तो पाते हैं कि वे उसके आदी नहीं हैं. वे हमसे दूर होते जाते हैं और नवीन 'उन्हें दूसरों के यहाँ अच्छा लगता है.' जैसे कितने सादा लेकिन सुपरिचित शब्दों में एक कितनी कलेजा चीर देने वाली बात कह जाता है. वे अपने बच्चे परीक्षा के दिनों में किसी दूसरे घर पढ़ते और सोते हैं. वहाँ उन्हें कुछ खाने को भी मिलता होगा. फिर वे स्वतन्त्र और और असमय वयस्क लगने लगते हैं, उनकी वह जिन्दगी शुरू होती है जिसमें हम प्रवेश न पा सकेंगे. हमें वे ऐसे दिखने लगते हैं जैसे हम उन्हें दूरबीन के उल्टे छोर से देख रहे हों. हममें से कई के बचपन में ऐसा हुआ है और हममें से कई ने माँ-बाप बनकर यह देखा है. नवीन की यह कविता हिन्दी का एक शाहकार, एक 'मास्टरपीस' है, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, विनोद कुमार शुक्ल, चन्द्रकान्त देवताले, राजेश जोशी, असद जैदी की एक-एक या एकाधिक कविताओं की तरह. मंगलेश डबराल, देवी प्रसाद मिश्र, संजय चतुर्वेदी, कुमार अम्बुज, कात्यायनी, नीलेश रघुवंशी, आशुतोष दुबे, गीत चतुर्वेदी आदि के पास भी ऐसी रचनाएँ हैं किन्तु अपने निर्मम यथार्थ और लाचारी की करुण मार्मिकता में नवीन की यह कविता अद्वितीय है. इसमें ऐसी दूसरी कविता को असम्भव सा बना डाला है.

नवीन सागर का अवसाद राहत नहीं देता. बच्चे लौटते हैं और भोजन करके कहीं और, उससे दूर, सो जाते हैं. उनके सपने अलबत्ता उसकी बन्द आँखों में प्रवेश करते हैं पर विनोद कुमार शुक्ल सरीखी विडम्बना में बाहर जाना चाहते हुए भी वे आँखों में बन्द रह जाते हैं. वह बेरहमी से कहता है कि बच्चे उसके कारण –'वजह से' नहीं कहता वह–हैं और जानते हैं कि वह मरा नहीं है. यह कहाँ का क्रोध है, किस पर? और जब बच्चे उसकी तरफ आते हैं तो वह दुनिया भर में बाहर अदृश्य भाग जाता है.

माँ को लेकर नवीन सागर के यहाँ सिर्फ हिन्दी कविता की सुपरिचित वात्सल्य या स्नेह की भावना ही नहीं है. वह निर्मम अफसोस और अपराध-भाव से कहता है कि माँ एक भूली हुई चीज बन चुकी है, जबकि कभी उसके होने से ही घर में उजाला था. वह बेटे के लिए सबकुछ माँगती थी और (शायद उस वरदान के बदले) अपनी मृत्यु चाहती थी. लेकिन बेटा उसे अभी ही भूल जायेगा. क्या सभी माँओं के सारे बेटे अन्ततः ऐसी क्रूरता को अभिशप्त हुए?

शायद एक खास तरह के इन्सान की नियति यही है कि उसे अपने ही घर और प्रिय जगहों और मित्रों से निर्वासित किया जाये? नवीन का कवि ऐसे व्यक्ति की बात करता है जिसे अपने बच्चों तक के तलुओं का काँटा समझा गया. जिसे अपनी माँ और अपने बचपन की स्मृतियों में नहीं लौटने दिया गया. उसका आसरा जलाया गया. उसे जो रोटी दी गयी वह अबोधों-असहायों का निवाला थी. सृष्टि में उसे सबसे सुन्दर लगा मनुष्य, और यदि मलयज जख्म पर धूल डालते थे तो नवीन उसे धोता है ताकि फिर उसके द्वारा कुचला जाये जो उसकी जुबान नहीं समझता. ईसा की तरह वो मानता है कि दुनिया में जहाँ भी पाप हो रहा है वह उसकी जिम्मेदारी है. क्या कविता में सलीबवाली वह पुकार भी छिपी हुई है–पिता, पिता, तू मुझे क्यों भूल गया?

लेकिन नवीन सागर की सारी प्रकाशित कविताओं में मुझे कहीं भी 'पिता' शब्द क्यों नहीं मिला, या यह मेरा भ्रम है और शायद उसमें पिता का कहीं उल्लेख है जो मुझसे छूट गया? लेकिन नवीन की कविताओं के कई रहस्यों में एक यह भी है कि पिता को लेकर कुछ भी क्यों नहीं है? माँ तो मौजूद है, कुछ-कुछ 'नौकर की कमीज' के सन्तू बाबू की माँ की तरह, लेकिन पिता की अनुपस्थिति क्या नवीन की जिन्दगी का एक अनखुला अध्याय है? अपने 'घर' को लेकर जो व्याकुलता नवीन में है वह इस गैरमौजूद पिता की वजह से ही है? क्या उसे लगता था कि वह एक पैतृक त्रासदी का दुहराव है? कविता और जीवन का कितना मर्मांतक घाव जैसा रिश्ता है यह.

अपने का दूसरा हो जाना–खुद का खुद से अजनबी हो जाना–उसके यहाँ बार बार आता है. व्यक्तित्व का लोप? जैकिल और हाइड? या एक समाज में अपनी अस्मिता इस तरह खो बैठना कि कोई आपको आपके नाम से पुकारे और आप देखें कि किसे बुलाया जा रहा है? वह अपना हाथ पकड़कर चुनौती सी देता है कि कौन हो तुम, लेकिन खुद ही अपने से हाथ छुड़ाकर अँधेरे में उतर जाता है–मुक्तिबोध में भी व्यक्तित्व के ऐसे प्रसार हैं. नवीन सागर में एक और बात है जो हिन्दी कविता में कम नजर आती है–यह कयास कि जो मैं (यह) न होता तो क्या होता. यह एक ऐसा 'स्पेकुलेशन' है जो आपको अस्तित्व के एक आत्यन्तिक सांसत भरे ब्रह्मांड में रज्जुहीन छोड़ देता है–'स्पेस ओडिसी 2001' के त्रिकालीय नायक की तरह. नवीन का यह कहना कि मैं जीता हूँ इसलिए यह जीवन है या मैं देखता हूँ इसीलिए यह दृश्य है रोमांचक रूप से जाने-माने एक वैज्ञानिक थियरी के निकट है. नवीन की कविता में साइन्स-फिक्शन के कई तत्व हैं जो विरोधाभासों और उलटबाँसियों के उन बहुआयामी प्रमेयों से उपजते हैं जिन्हें हिन्दी कविता और उपन्यास के आइंस्टाइन विनोद कुमार शुक्ल ने अपने द्वन्द्वात्मक साहित्यिक सापेक्षता-सिद्धान्त में प्राथमिक रूप से पेटेंट करवाया था.

नवीन सागर ने 1996 में अपना कविता-संग्रह 'नींद से लम्बी रात' वात्स्यायनजी की स्मृति को समर्पित किया है. क्या वह 'अज्ञेय' के काव्य और जीवन में कुछ आदरणीय देखता था? अधिकांश हिन्दी समाज, जो स्वयं को जन-प्रतिबद्ध मानता है, कवि 'अज्ञेय' में अपने लिए बहुत कम सार्थक देख पाता है, 'दिनमान', 'नया प्रतीक' 'चौथा सप्तक' और 'नव भारत टाइम्स' निकालने के बावजूद 1970-

80 के दशकों में 'अज्ञेय' काफी विस्मृत और 'आइसोलेट' कर दिये गये थे—अंशतः यह आत्म-आमन्त्रित भी था. वात्स्यायन सरीखा कवि न होने के बावजूद क्या नवीन सागर स्वयं को वैसा ही अकेला और उपेक्षित महसूस करने लगा था? वात्स्यायन की कविता के प्रति नहीं, वात्स्यायन नामक व्यक्ति की उपेक्षा में उसे स्वयं अपने जीवन को लेकर शायद कोई सहभावना लगती होगी—यद्यपि कविता और व्यक्तित्व को इस तरह अलगाना मुश्किल है. जो हो, अज्ञेय की स्मृति से नवीन सागर का स्वयं को जोड़ना कवि और व्यक्ति नवीन सागर के एक अलग आयाम के विश्लेषण की माँग करता है और हिन्दी साहित्य के 'रेआलपोलीटीक' से उत्पन्न परिणामों की भी. इसी तरह निर्मल वर्मा के (शायद सिर्फ) कथा-साहित्य और रामकुमार के चित्रों से प्रेरित उसकी अलग-अलग दो कविताएँ भी स्वयं नवीन के (कथा) साहित्य और कला-सम्बन्धी रुझानों पर बहसतलब रोशनी डाल सकती हैं.

लेकिन नवीन की जन-प्रतिबद्धता असंदिग्ध है. कस्बों और अपेक्षाकृत छोटे महानगरों में रहने वाले कई कवि-बुद्धिजीवी अपने आसपास की भयावह सामाजिक और राजनीतिक कुरूपताओं को अधिकतर न देखते हुए एक आत्मपावन अभियोगी भावमुद्रा से दिल्ली-मुम्बई-चेन्नई-कोलकाता की खबर लेते रहते हैं. नवीन के यहाँ दोषारोपण का ऐसा कोई स्थानान्तर नहीं है. उसने अपने लघु-महानगर या कस्बे की भी अमानवीयता, नृशंसता, अवसरवादिता, दोमुँहपन, पाखंड, धूर्तता, अन्याय, धोखाधड़ी, सामाजिक और राजनीतिक पतन आदि को ठीक उसी तरह नंगा देखा है जैसे मुक्तिबोध ने अपने 'अँधेरे में' की भयावह प्रेतात्मा-शोभायात्रा की झाँकी में. मुक्तिबोध की तरह वह भी इस सबके लिए पहले स्वयं को दोषी मानता है, जबकि वह है नहीं, बल्कि स्वयं अपने शहर का शिकार है. अपने मरने के डर को वह व्याप्त हिंसा की वजह मानता है. वह डरकर गुंडों को नमस्ते करने वाला नागरिक है. उसका कोई दोस्त है जो भावी बच्चों का वास्ता देकर कहता है कि इकट्ठा होकर अपने डर से मुक्ति पाओ. लेकिन एक कैसे हुआ जाये? उसके लिए भी भय से आजाद होना पड़ता है. हिन्दुस्तानी (निम्न) मध्यवर्गीय नागरिक, वह कस्बे का हो या महानगरों का, इसी में भलाई देखता है कि ऐसे दोस्त को दूर तक छोड़ आये और हर तरह की माफिया को नमस्ते करता हुआ घर लौटे.

नवीन की कविता की उलटबाँसी में अपने शहर का रास्ता दूसरे शहर में भुला दिया जाता है. वो पहचान के लगते हैं वे सिर्फ या तो आकाश से बरसे चिथड़ों की तरह पड़े हुए भिखमंगे हैं, या बूचड़खाने जैसे अस्पताल, या रात के आसरे रेलवे स्टेशन. रास्ता पूछो तो मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' की रात में या विनोदकुमार शुक्ल की 'नौकर की कमीज' के आखिरी पृष्ठों वाला ट्रक आता दिखायी देता है, शायद जिसके पहियों के नीचे आयी कोई चीख सुनायी पड़ती है. उसकी कविताओं में वारदातें पहले दूर होती हैं, फिर पास होती जाती हैं और फिर एकदम समीपतम. गैस रिसँती है, बम फटते हैं या सिर्फ हत्याएँ होती हैं. इनके लगभग चश्मदीद गवाह होने में भी एक रोमांच होता है और वर्णन करने में एक गर्व जो बच गया उसका हर्ष, जैसे उसमें निजी साहस रहा हो. लेकिन जब मृत्यु शरीर से सटकर गुजर जाती है तभी हमें महसूस होता है अब तक बचे होने का आतंक.

कवि जानता है कि समाज फासिज्म को कैसे निमन्त्रण देता है. कोई रौंद दिया जाता है और किसी को भी परवाह नहीं होती. सारे भले लोग आत्मसमर्पण कर देते हैं—ये वही हैं जो कह रहे थे कि एक लड़ाई जरूरी है, लेकिन कनखियों से अगल-बगल झाँकते हुए लिप्सा और घृणा है तथा नामजाद और खरीदारी है. अन्त में सेनाएँ तैनात की जाती हैं और अपनी अपनी उस औरत की बगल में लेटकर सब 'प्रेम' करते हैं. 'खरीदारी' से याद आया कि आज के बाजारों, दुकानों और उपभोक्तावाद से जितनी नफरत नवीन की कविताओं में है, अन्यत्र शायद कहीं नहीं है.

'हम बचेंगे तो सुन्दरता के कारण ही' वह कहता तो है, फिर वह बचा क्यों नहीं—उसने न बचना क्यों स्वीकार किया? क्या उसे इस तरह बचना मन्जूर न था जिस तरह अधिकांश मौकाशनास लोग बचे चले आते हैं? या वह न बचने पर बाध्य हुआ? क्योंकि उसके सोच और उसकी कविता में तो सुन्दरता बहुत बाकी थी. उसकी कुछ कविताएँ प्रेम, जीवन, उल्लास, आशा, प्रफुल्लता से लबरेज हैं. शब्द, घर, धरती, पेड़, बस्ती, मकान, पक्षियों और आते-जाते खोते-मिलते स्वयं को मिलाकर वह कहता है कि आदमियों की मृत्यु होती है और गमों से भरी इस दुनिया में वे फिर जनमते हैं. लेकिन उसकी दृष्टि अध्यात्मिक नहीं, कवि की रहती है. जन्मान्तर दरवाजे हैं, लेकिन वैसे नहीं जिन पर दस्तक देनी पड़े. नवीन सिर्फ उदास और विषण्ण नहीं है, उसके यहाँ एक परिहास-भावना भी है. मसलन अपने आसपास कवि बनने को हलाकान और आर्त्त यशःप्रार्थियों को वह हँसकर बता सकता है कि कविता किस-किस तरह नहीं आती. या वह जो एक बहुत कोमल, शीरे की तरह मीठा बाजा है सन्तूर, जिसे बहुत नजाकत से बजाया जाता है, लेकिन हमारे कवि के लिए एक बड़ा आघात यह है कि वह सन्तूर क्यों नहीं बजाता. जिस दुनिया में यह उम्मीद की जाती हो कि सबको सन्तूर जैसा कुछ महीन करना चाहिए वहाँ पहले वह कुछ अमर्ष में आ जाता है कि भाड़ में जाये सन्तूर, लेकिन दूसरे ही क्षण वह पशोपेश में पड़ जाता है कि यह नौबत कैसे आ गयी कि वह इस भरी दुनिया में सन्तूर नहीं बजाता. इसके बरक्स उसकी एक कविता वाकई सन्तूर वादन की तरह मृदु है, मार्मिक और साफ ब्यौरों से गूँजती हुई जिसमें उसका एक बच्चे की खिलाने का जिक्र है. वह नन्हा शिशु कवि को देखता हुआ भी नहीं देखता, उसके साथ खेलने पर कुछ भूलता याद करता सा मुस्कराता है. बच्चे को हल्का अचम्भा सा भी होता है—फिर अकसर ऐसे शिशुओं की तरह वह माँ के लिए रोने लगता है लेकिन ढाढस भरी गन्ध ऊष्मायुक्त गोद में पहुँचकर वह फिर अपने साथ खेलने वाले को ऐसी स्निग्ध निगाह से देखता है जो शब्दातीत, अनिर्वचनीय है. अशोक वाजपेयी ने भी अपनी एक कविता में प्राग में लौटते एक बच्चे की ऐसी ही निगाह की 'एपिफेनी' को पकड़ा है—अशोक की जटिलता देखने लायक है तो नवीन की सादगी. भाषा और

शिल्प पर तो उसका विलक्षण अधिकार हमेशा है ही.

जिस तरह से 'अँधेरे में' मुक्तिबोध के समूचे 'मेच्योर' से लेकर महान सृजन का स्तर बहुल मीजान है, क्या नवीन सागर के बारे में भी कह सकते हैं कि उसकी 25 छोटी रचनाओं का कविता-क्रम 'मैं और मैं', जिसे खुद उसने 'अधूरी कुछ पूरी कविताएँ' जैसा ठेठ अपना गम्भीर और शरारती उप-शीर्षक दिया, उसकी सारी कविता का सार है? बोरिस पास्तरनाक के 'हैम्लैट' पर बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की कई नाट्य कविताओं का स्मरण दिलाती हुई पहली कविता में एक कवि एक अभिनेता है जिसका मेकअप और सम्वाद मंच पर कुचले पड़े हैं. उसे जो भी नाटक मिले हैं वे अधूरे हैं. नेपथ्य से उसे आवाज देकर दुबारा मंच पर बुलाया जाता है और वह अपने सम्वाद 'रिहर्स' करने लगता है—कवि के 'पर्सोना' का यह एक नया रूप है उसके 'मैं' ने अपने 'मैं' को शायद इससे पहले कभी अभिनेता नहीं कहा था, हालाँकि बाद में कभी उसने यह परिहास-गर्वोक्ति की है कि मैं अपना अभिनय बहुत अच्छा कर लेता हूँ. मुक्तिबोध की तरह यहाँ वह भी अपने स्थान और स्थिति पर खुद से ही कुछ अचरज कुछ आशंका भरे सवाल करता है—अभी कोई अन्दर से आयेगा. अँधेरे में चाँद (मालूम नहीं उसका मुँह टेढ़ा है या सीधा) सरकता है. कवि का अपने को पिंजरे के बन्द प्राणी की तरह देखना नया है. 'निढाल' शब्द की निराशा और लाचारगी चिन्तित करती है. दस्तक भी नवीन की कविताओं में कई बार हुई है. अकसर तो 'मैं' स्वयं साँकल बजाता है लेकिन चौथी कविता में फिर मुक्तिबोध जैसा रहस्य पुरुष है जो इस तरफ पीठ किये हुए है. कवि उससे और रहस्य भरा खेल खेलता है. जो नहीं था वह कहाँ है? जब देखते हैं तो कौन बेवजूद देखता है? वह कायनात ही नहीं, अपनों को, बच्चों को, मुहल्लों और सड़कों को भी देखता है. द्वित्व को जटिल से जटिलतर बनाता हुआ कवि कहता है कि कभी बाहर जाऊँगा, उसे समूचे संसार में देखता हुआ याद आऊँगा.

क्षमायाचक पश्चदृष्टि से ही सही, लेकिन कहा जाना चाहिए कि नवीन सागर जब तक रहा, अपने आसपास के कवियों से कहीं ज्यादा चुनौती भरा कवि रहा. अब वह समूची समसामयिक हिन्दी कविता के लिए एक जिद्दी दस्तक की तरह अनुपेक्षणीय बन गया है. ▣

● 33-ए नवभारत टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-1, नयी दिल्ली

◆ समीक्षा आलेख ◆

नवीन सागर का कवि कर्म

रात का फूल और एक गहन आत्मा प्रसन्न

रमेशचंद्र शाह

(एक)

पक्षी आसमान में जहाँ ओझल हुआ
वहाँ से देखना है दूर!
.....
जहाँ छूट गया हूँ
वहाँ मेरा वह एक और जीवन है
उसका समय है
वहाँ से देखना है दूर!...

नवीन सागर, नींद से लम्बी रात, पृ.73

मृत जाति को कवि ही जिलाते रस-सुधा के योग से.
पर मारते हो तुम हमें उलटे विषय के रोग से.
कवियो! उठो अब तो अहो कवि-कर्म की रक्षा करो.
सब नीच भावों का हरण कर उच्च भावों से भरो ॥

मैथिलीशरण गुप्त, 'भारत-भारती'

आज के इस सर्वव्यापी-सर्वग्रासी मूल्य-विपर्यय और मूल्य-भ्रंश के युग में, जहाँ हर सांस्कृतिक उत्पाद—यहाँ तक कि स्वयं संस्कृति तक—की साख भी संदिग्ध बना दी गयी है, वहाँ मानो महज मनुष्य के रूप में बने रहने के लिए भी सबकुछ शुरू से शुरू करने की अनिवार्यता हमारे सामने मुँहबाए खड़ी है. 'कविता से मनुष्य भाव की रक्षा होती है'—ऐसा हमारे आचार्य शुक्ल का कहना था. किन्तु स्वयं कविता की, कवि-कर्म की रक्षा कौन करेगा, जिसकी चिन्ता हमारे राष्ट्रकवि तक को 'भारत-भारती' लिखते हुए व्याप रही थी? आज के कवि को नये सिरे से यह सवाल पूछना और उसका जवाब भी स्वयं अपने कवि-कर्म से ही गढ़ना है कि किसी भी जाति या देश या समाज के लिए आखिर इस कवि-नामधारी जीव की क्या उपयोगिता है? यह भी, कि 'विषय का रोग' क्या होता है? आज की परिस्थिति, आज की भाषा में क्या उसका कोई अर्थ बनता है—आज के कवियों और उनके पाठकों के लिए? 'नीच' या 'उच्च' भावों की नीचता या उच्चता कैसे और कहाँ से प्रमाणित होती है? उनका बाजार-भाव कौन तय करता है? नवीन सागर की एक कविता सुनें—क्या कहती है इस बारे में—

हाय मुझे इस कितने सुन्दर बाजार से
नफरत है नफरत है!
शिष्ट हैं दुकानदार, मितभाषी खरीदार
उजली प्रसन्नवदन आकृतियाँ
मन होता पूरे उजाले पर थूक दूँ
कर दूँ अँधेरा ये चिंचियाते भागें सब
लय टूटे, धरती को फाड़ दूँ

कैसा उजाला है यह, जिस पर कवि थूक देना चाहता है? कैसी लय है अधुनातन जीवन की, जिसे वह तोड़ देने की बात कर रहा है? कविता तो बनती ही लय से है—सुनते आये हैं कभी से कि कवि का तो काम ही चीजों की लय मिलाना है; मनुष्य-स्वभाव की आदिम और आधुनिक परतों के बीच विद्युत्तरंग पैदा करके, जो भी लयभंग उनके बीच हुआ हो, उसका उपचार उसे एक नयी लय का आविष्कार करके करना है. क्या आपको लगता नहीं कवि की उपर्युक्त पंक्तियों से, कि जिस बाजार की चहल पहल को यहाँ उसकी चेतना दर्ज कर रही है, उसमें कुछ है जो उसकी लयात्मक सम्वेदना को भी उसकी मनुष्यता की तरह ही मर्माहत कर रहा है? तभी न वह उसे तोड़ने-फोड़ने की बात कर रहा है—फिर से मनुष्य और उसकी चीजों की लय बिठाने और मिलाने की खातिर. अब, सवाल यह है कि उसकी यह कोशिश उसके परिवेश में कहाँ-कैसे 'फिट' होती है? 'फिट' होती भी है कि नहीं. नवीन सागर की ही एक दूसरी कविता इसी संग्रह (हर घर से गायब) में हमसे कुछ कह रही है इसी सिलसिले में. जरा उसे भी सुन लें? क्या ही सचोट और वेधक व्यंग्य-विपर्यय है! दूर तक मार करने वाला!

युग के मुहावरे में नहीं रहा
जानकार बोले कैसे चले आये
कविता में!
....
केवल मुहावरा
जानकार लोगों की गहरी निगरानी में
कविता का रूप धरे निकला
तो जानकार बोले
हाँ! तुम अब हो कविता में.
तलघर के मुँह पर चट्टान रही आयी
भीतर ही भीतर भटकता मैं खो गया
जानकार बोले—हाँ तुम अब हो कविता में
जानकार पाँडों को नहीं नमस्कार किया
धिक्-धिक् कवि!
कविता का क्यों बंटाधार किया!

मायावी असुर दुदुम्भि के साथ पाताल गुफा में वानरराज बाली का संघर्ष बहुत लम्बा चला था. इतना लम्बा कि अपने जिस सहोदर सुग्रीव को बाली निगरानी रखने के लिए गुफा के मुँह पर बिठा दिया था, उसी ने वहाँ से खून निकलता देखकर उस पर से यह मनमानी अटकल भिड़ाकर,

कि दुदुम्भि नहीं, बाली मारा गया—गुफा का मुँह चट्टान से बन्द कर दिया था और बाली की जगह खुद राजा बन बैठा था. क्या अर्थ है उस रामायणी पुराकथा के इस अत्याधुनिक परिवेश में निवेश का? क्या है यह... 'कविता का रूप धरे/ केवल मुहावरा' ?... और कौन हैं ये 'जानकार पाँडे', जिन्हें यह कवि 'नमस्कार नहीं करने' और इसीलिए 'भीतर ही भीतर भटकते खो जाने' का—'हाँ, तुम अब हो कविता में' के आश्वासन के बावजूद, खो जाने का खतरा इतनी मस्ती और बेफिक्र 'आय़रनी' के साथ उठा रहा है?

क्या पता यह वंचना, यह विडम्बना हमारी परिस्थिति में—यहाँ तक, कि—स्वयं संस्कृति में भी बद्धमूल हो. इतना ही क्यों? —वह, जिसे 'मनुष्य-भाव' या मानव-स्वभाव कहते आये हैं, उसमें भी यह आत्म-प्रवंचना और बिडम्बना गहरे कहीं निहित और कभी भी प्रगट हो सकने वाली हो, तो?...

जाहिर है कि हमें अपनी परिस्थिति को आमूलचूल—किसी मनमाने आदर्शवाद अथवा यथार्थवाद को बिचौलिया बनाये बगैर—यथावत्, उसकी जड़ में जाकर समझना है और मनुष्य की ही जो संस्कृति उसकी परिस्थिति को अभी तक परिभाषित और नियमित करने का सफल-असफल उद्यम करती आयी है, उस संस्कृति को भी—उसके समस्त उपादानों और अभिव्यक्तियों में—नये सिरे से एक निर्भ्रान्त 'अर्जेन्सी' के साथ—आवश्यकता की पुकार की तरह—समझना और स्वायत्त करना है. 'कैलकुलेटिव थिंकिंग' तथा 'रेन ऑव क्वांटिटी' की चरम परिणति के इस युग में अब बने-बनाये समाधानों से काम नहीं चलेगा. पूर्व मान्यताओं को प्रश्नांकित करते हुए उनकी जड़ों तक पहुँचे बिना न तो तथाकथित संस्कृति ही कुशल है; न तथाकथित जीवन ही. अब किसी को भी हमारी व्यक्तिगत और सामूहिक नियति तय करने का एकमुश्त ठेका नहीं दिया जा सकता; न इसका, कि वही हमारे लिए हमारी मनुष्यता के दोस्तों और दुश्मनों की छँटाई कर दे. कार्य और कारण की लकीरी समझ को तो बहुत पहले ही हिन्दी कविता ने अपदस्थ कर दिया था: नीति और अनीति का भी निस्संग पारदर्शन करने की क्षमता अभी उसे अर्जित करनी है. तथाकथित नैतिकता या नैतिक आक्रोश स्वयं जिस आधार पर खड़े हैं, उस आधार को भी प्रश्नांकित करने की चुनौती अब उसके सामने है... 'जन्म चाहिये'... नवीन सागर की एक कविता कहती है—जन्म चाहिये/ हर चीज को/ एक और जन्म चाहिये'. यह 'एक और जन्म' क्या है? क्या इसका पता लगाने में हमारे कवि—ठेठ समकालीन कवि हमारी मदद कर सकते हैं?

आखिर इतना तो आप भी मानेंगे कि कवि से एक खास किस्म की बुद्धिमत्ता (विज्डम) की अपेक्षा सभी युगों और सभ्यताओं में लोग करते रहे हैं और काफी हद तक कविगण उन अपेक्षाओं को निभाते—पूरी करते भी रह सके हैं.

किन्तु इसका मतलब यह भी नहीं निकाला जा सकता कि कवि की समझ हमेशा अचूक ही होती है. अभी हाल में मिलान कुंदेरा ने एक समूचा उपन्यास ही इस थीम पर निछावर किया है—कई बार स्वयं कवियों की बचकानी या किशोर आत्ममुग्धता को लेकर, उनकी असाध्य अदूरदर्शिता और आत्मतुष्ट पुण्याई को लेकर. जो उन्हें अपनी ही असाध्य स्वप्नजीविता के भीतर के खोखल को नहीं देखने देती और उन्हें कैसे-कैसे तानाशाहों और मानवता के घोर अपराधियों के चारण की भूमिका में ला पटकती है. 'कभी आधा कभी पूरा' शीर्षक एक कविता नवीन की मुझे यहाँ बेसाख्ता याद आ रही है तो यूँ ही नहीं याद आ रही होगी. कवि कहता है-

सूरज नहीं चाँद तारे संगीत चित्र भी नहीं
कविता से भी सुन्दर लगता है मनुष्य
पर मैं क्या करूँ/कि जिस जख्म को धो रहा हूँ
उसे कुचलने में जिसे नहीं कोई हिचक
वह कैसे समझेगा मेरी भाषा
कैसे मैं इनकार कर सकूँगा उस पाप से
जो संसार के किसी कोने में कोई कर रहा है.

(दो)

हिन्दी कविता के हजार बरसों के दौरान जहाँ एक ओर देश-काल में जिये जा रहे लोक-जीवन की भरसक निर्भ्रान्त समझ और उसमें भी खरे और खोटे की परख कर सकने वाली विवेकमत्ता सक्रिय रही है, वहीं जीवन के छुपे हुए मर्म को उद्घाटित करने वाली, उसे क्षति पहुँचा सकने वाली दुष्प्रवृत्तियों के प्रतिकार को प्रेरित करने वाली शक्ति की मौलिक कल्पना भी. कविता की जरूरत यूँ तो हर युग में, हर सभ्यता को रही है—मनुष्य-भाव, मनुष्य होने के अनुभव और अर्थ के पीछे जो आदिम प्राकृतिक संवेगों की, और सभ्यतागत सांस्कृतिक विकास की—दोनों की परतें सक्रिय रहती हैं—कवि अपने स्वभाव और स्वधर्म से ही दोनों की लय मिलाये रखने वाला जीव है. उसे स्वभावतः दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की सम्पदाओं और शक्तियों की घनिष्ठ ज्ञान-सम्वेदना सिद्ध होती है ('कवीनामुशना कविः' यूँ ही नहीं कहा गया) कविकर्म, इस तरह देखा जाये तो मनुष्य की आदिमता और सांस्कृतिकता के बीच करेन्ट दौड़ाने का काम है. किन्तु इसके अलावा भी—हालाँकि इससे जुड़ी हुई—कवित्व की एक और विशेषता को भी ध्यान में रखना जरूरी है—जीवधारियों में एकमात्र मनुष्य ही है जो अपने जीवानुभव का मात्र भोक्ता ही नहीं, अपितु साक्षी भी होता है—अब यह अलग बात है कि इस साक्षी भाव की प्रदत्त का विकास कर सकने और सचमुच इस द्रष्टा के पद के साथ एकात्म हो सकने की क्षमता कितने लोग कमा पाते हैं.—कदाचित् हजारों में एकाध ही, मगर होती तो वह हर मानवजीव में है. रघुवीर सहाय, जिन्हें अज्ञेय के बाद की हिन्दी कविता में नये कल्ले फोड़ने, नया मुहावरा चलाने का श्रेय दिया जाता है—और नवीर सागर तथा उनकी पीढ़ी के अन्य सुकवि उसी मुहावरे में दीक्षित, किन्तु 'परवर्ती' काल की नयी परिस्थिति, नये गत्यावरोधों से निबटने का रास्ता भी खुद निकालने वाले कवि हैं—उन रघुवीर सहाय की एक कविता यहाँ याद आ रही है—जिसका शीर्षक शायद 'जड़' ही था. तनिक सुनें, वह कविता कवि से क्या कहलवाती है, यही ना, कि...

सहना परायी पीड़ाओं को बार-बार
जीते रहने का एकमात्र उपाय है

सहो फिर उसी समय
दूर खड़े हो अपने को देखो.

क्या यही साक्षी भाव नहीं है—भोक्ता का साक्षी-भाव, जिसके बिना महज भोक्तापन की गर्वोक्तियाँ छाँटते रहने का कोई अर्थ नहीं? जो जितना ही अपने जीवन-भोग को—परायी पीड़ाओं को भी—'बार-बार सहने' और फिर 'उसी समय दूर खड़े हो' अपने सहने को भी 'देख सकने' में सक्षम होता है—वह उतना ही सम्यक् देखने वाला होता है और इसीलिए 'कवि' भी. रघुवीर सहाय इस तथ्य और रहस्य को अच्छी तरह जानते हैं और अपनी सामाजिकता का दावा करने वाले कवित्व की एक अनिवार्य और बुनियादी अर्हता की तरह इस तथ्य को रेखांकित करने को अन्तर्विवश होते हैं. नवीन सागर भी यदि अपने समवयसी कवियों—राजेश जोशी, अरुण कमल या मंगलेश डबराल की तरह और उनसे अलग भी अपनी पहचान बना सके हैं तो इसी कारण, कि उनकी कविता में जहाँ एक ओर यह 'परायी पीड़ाओं को बार-बार सहने' का जीवन्त अन्तःसाक्ष्य मिलता है, वहीं उसी तादात्म्य के क्षण में तटस्थ साक्षी भाव से 'खुद अपने को देख सकने' का सामर्थ्य भी उसमें अकसर देखा जा सकता है, जो, कहना न होगा, कि उनसे कहीं ज्यादा चर्चित कवियों में भी कम ही देखने को मिलता है. नवीन की कविताओं को लगभग उन्हीं जैसे कथ्य या विषय-वस्तु से प्रेरित इन औरों की रचनाओं के साथ रखकर पढ़ना इस दृष्टि से रोचक और सार्थक होगा—बशर्ते यह काम कविगण स्वयं कर देखें.

'पीर-पराई' को 'जाणने' और उस 'जाणने' को वस्तुतः अपने कवि कर्म का हिस्सा बना डालने की प्रेरणा आधुनिक कवि को भी होती है—यद्यपि उसे वैष्णव कवियों की परम्परागत आस्था सुलभ नहीं. इसी तरह जो शिकायत कबीर को अपने समकालीनों से थी ('माला पहिरे, टोपी दीन्हे, छाप तिलक अनुमाना/साखी सबदै गावत भूले, आतम खबरि न जाना') कि उन्हें खुद अपनी आत्मा की खबर नहीं—वह शिकायत भी देश या विदेश का हर सच्चा आधुनिक कवि अपने लोगों के 'छाप-तिलकधारी' रहनुमाओं से ही नहीं, अपने उन सहकर्मियों के प्रति भी महसूस करता है जो इस तथाकथित परायी पीड़ाओं के भोग और हल को ही कुछ इस तरह कवच की तरह धारण किये रहते हैं कि स्वयं अपनी ही साक्षी चेतना के लिए अस्पृश्य और स्वयं अपनी ही अन्तरात्मा के लिए अवध्य बनते चले जाते हैं. उनकी आदर्श की ही क्यों, यथार्थ की समझ भी पहले से औरों द्वारा तय की जा चुकी है जिसका यान्त्रिक अनुपालन ही अब उनके लिए एकमात्र वैध प्रेरणा है रचनात्मक कर्म की. नवीन का कवित्व ऐसे कवच-कुंडली पुण्यात्माओं से बेखबर नहीं है. तभी तो वह उन्हें भी उन्हीं की भाषा और मुहावरे में सम्बोधित करने को प्रेरित हुआ है :

...कविता अकल से नहीं आती/
शकल से भी नहीं आती
नकल से तो आती ही नहीं है
कविता नहले से नहीं आती/
दहले से नहीं आती
पहले से तो आती ही नहीं है...

इतने हल्के-फुल्के हँसोड़ अन्दाज में इतनी गम्भीर चेतावनी सरीखी बात कविता के उद्गम और तौर-तरीकों को लेकर—किसी और ने इस तरह कही हो—मुझे पता नहीं. अच्छा हो, यदि पाठक इस कविता ('कवि-मित्र से निवेदन', नींद से लम्बी रात, पृ. 80) को पढ़ने के तुरन्त बाद कवि के अगले संग्रह 'जब खुद नहीं था' के स्वयं कवि-विरचित 'ब्लर्ब' को भी पढ़कर देखें—यह याद रखते हुए कि यह संग्रह कवि के मरणोपरान्त छपा है. कवि कहता है—

'राज्यवादी, उत्कृष्टतावादी और मार्क्सवादी तथा वे तमाम वादी-प्रतिवादी, जो कविता की बर्बादी के लिए जिम्मेदार हैं, उन्हें यह संग्रह अच्छा नहीं लगेगा, और यही इस संग्रह के अच्छा होने का सबूत होगा. यह संग्रह आपको सौंपते हुए मैं यकीन के साथ कह रहा हूँ कि कविताएँ आपको अच्छी लगेंगी और यदि अच्छी न लगें तो आपको अपने बारे में गहराई से सोचने की पूरी आजादी है... यह बात मैं छिपाना नहीं चाहता कि यह ब्लर्ब और अपना जीवन-परिचय मैंने एक अप्रैल को लिखा है.'

इसी संग्रह के बारे में एक पाठकीय टिप्पणी शम्पा शाह की मुझे यहाँ उद्धृत करने लायक लगती है, इसलिए कि वह मेरे खयाल से नवीन की कविता के किसी भी पाठक के लिए स्वयं अपने अनुभव के आधार पर सत्यापनीय है, 'यह महज संयोग नहीं'—शम्पा लिखती है—'कि कवि के पहले संग्रह का नाम नींद से लम्बी रात था. इस संग्रह की भी लगभग हर कविता रात के असंख्य रंगों-रूपाकारों-ध्वनियों से ही बनी है. हिन्दी में शायद अपनी तरह का यह अकेला कवि होगा जिसने दरअसल केवल मृत्यु पर कविता लिखी है.' आगे वह लिखती है—'विरोधाभास यह कि इस संग्रह की तमाम कविताओं में मृत्यु, अंधकार, नींद, खामोशी, शून्य, अकेलेपन के बीच से हर क्षण जीवन अंकुरित होता है...इन कविताओं को पढ़कर जो एक भाव मन को ओत-प्रोत करता है, वह है जीवन के प्रति राग का, उमंग का; कि जिस उमंग से लता उजाले की ओर अपनी बाँह बढ़ाती है.'

देखा जाये तो वास्तव में यह विरोधाभास इस कवि की पहचान सरीखा लगता है. मृत्यु और खामोशी और अकेलेपन की स्थायी भाव सरीखी उपस्थिति के विरुद्ध और आर-पार इस कवि का गहरा जीवन-राग अप्रतिहत गूँजता रहता है. 'तारों भरे आकाश के नीचे खिला—रात का फूल' जैसी पंक्ति पढ़कर विन्सेंट वान गॉग का वह विश्वविख्यात चित्र (रात) याद आ जाता है तो यूँ ही नहीं याद आता. 'मर जाना कैसी अजब बात है'... कवि कहता है अपनी एक कविता में—छूटते ही; और उसका यह उद्गार अपनी आकस्मिकता और अनिवार्यता से ही हमें चौंका देता है. हठात् जिस अजूबे के सामने हम स्वयं को खड़ा पाते हैं—उसकी सहज-सरल अकाट्यता से ही हम स्तब्ध रह जाते हैं. मगर वह कैसा पाताली रिश्ता है जो उस अनुभूति को इस दूसरी कविता में साकार अनुभूति के साथ जोड़ देता है—कुछ इस तरह कि जोड़ हमें दिखता नहीं?

दुःख नहीं कोई कुछ म्लान
चीजों पर चेहरों पर
एक गहन आत्मा प्रसन्न
विस्तृत आकाश खुला/धरती अनन्त
हो ऐसा! हो ऐसा!
दूर-दूर तक ओझल अंधकार

पक्षी अपार पेड़/ पेड़ से घनी उसकी छाया
बहुत बड़े घेरे में नाच
नींद/ सपनों की महासृष्टि
लहर सी/ आये डुबा ले

सचमुच यही है नवीन सागर की कविता. 'सपनों की महासृष्टि', 'बहुत बड़े घेरे में नाच', ...और चीजों पर, चेहरों पर 'एक गहन आत्मा प्रसन्न'...बावजूद सर्वव्यापी और सर्वग्रासी मृत्यु और अन्धकार के. ऐसा कवि क्यों अपनी एक कविता में यह कहने को विवश है कि–

जनम रहा है जो अँधेरे में
उसे बाहर अँधेरे में मार रहा हूँ
तनाव मेरे
उसी मृत्यु की छाया है

क्या यह जरूरी नहीं लगता कि हम कवि की इन कविताओं के साथ कुछ दूरी और तय करें? उन्हें थोड़ा और सीझने दें अपनी समझ में?

(तीन)

नवीन सागर की कविता इस कदर निष्कवच, वेध्य और पारदर्शी है कि उसे इस निर्लज्ज आत्म-विज्ञापन के जमाने में छूते–हाथ लगाते–भी डर लगता है. मानो नंगा तार छू रहे हों बिजली का. अपने को यूँ तो इस दौर के कई सारे कवि, उनकी कई सारी कविताएँ अच्छी–कभी-कभी बहुत अच्छी भी लगती रही हैं, किन्तु ठीक इस तरह का अनुभव किसी और कवि को पढ़ते हुए नहीं हुआ–इस कैफियत से ही शुरू करूँ तो शायद झिझक टूटे और कुछ सार्थक कहना सम्भव हो पाये–इस कवि की कविता को, और उसके साथ-साथ इस समूचे दौर की भाव-सम्वेदना को लेकर. अभी-अभी जो समापक पंक्तियाँ हमने उद्धृत कीं 'अब घर चलना चाहिए' शीर्षक कविता की, उनका क्या अर्थ है? कवि किन तनावों की, किस 'मृत्यु की छाया' की बात कर रहा है? कवि नहीं; इस कविता का चरित नायक, जो शुरू ही यहाँ से करता है कि ... 'बहुत रात तक मैं सड़क पर रहता था/ शक नहीं करता था, न डरता था' और 'अपना घर भूले हुए को उसके घर पहुँचाता था'. तब फिर क्या हुआ? क्यों वह एकाएक कह उठता है कि...

घर के भीतर घर ढह गया
मैं रहते-रहते थक गया हूँ
खिड़कियों को दीवारों ने मूँद लिया
दरवाजों को निगल गयी दीवारें
ताबूत में रहने का आदी नहीं हूँ
रहन का आदी हूँ
रहते-रहते थक गया हूँ

खिड़कियाँ, दरवाजे, दीवार, रात, अँधेरा, सपने, सन्नाटा, नींद, खामोशी, पेड़, पक्षी, छाया, आसमान, चाँद-तारे, धूल, बस्ती, मकान, वीरान, सड़क, रोशनी, संसार, मृत्यु... नवीन सागर की कविता में अकसर आने वाले ये शब्द इस कवि की आत्माभिव्यक्ति के अनिवार्य उपकरण सरीखे हैं, जिन पर उसकी उँगलियों की छाप ही नहीं, उनकी जीवन्त ऊष्मा भी बराबर अनुभव की जा सकती है. इस कदर निगेटिव और इस कदर पॉजिटिव 'चार्ज', 'घर' और 'मृत्यु' को, 'रोटी' और 'संसार' को भला और कौन दे पाया है–अभूतपूर्व विकास और अभूतपूर्व आत्महीनता के इस दौर में?

जिसने मेरा घर जलाया
उसे इतना बड़ा घर देना
कि बाहर निकलने को चले
पर निकल न पाये
जिसने मुझे मारा
उसे सब देना
मृत्यु न देना
जिसने मेरी रोटी छीनी
उसे रोटियों के समुद्र में फेंकना
और तूफानें उठाना
जिनसे मैं नहीं मिला उनसे मिलवाना
मुझे इतनी दूर छोड़ आना
कि बराबर संसार में आता रहूँ

मनुष्यता के और इसी कारण भाषा के मर्मस्थलों तक जिसकी पहुँच है, वही कविकर्म शब्द की इस अभिशापी शक्ति का भी ऐसा प्रयोग करने में समर्थ हो सकता है. वही इसीलिए शब्द की वरदानी शक्ति का भी अनुभव हम तक सम्प्रेषित कर पाता है. और..., शब्द की 'आवाहनी' शक्ति का भी–

पुकारो मुझको कहीं से
बहुत जीवन से भरे लोगो!
पुकारो नाम लेकर
खींच लो बाहर पकड़कर हाथ

इसलिए कि इन 'बहुत जीवन से भरे लोगों से भी कई गुना जीवन कवि के खुद के भीतर धड़क रहा है. जीवन का अर्थ कवि के लिए उस अर्थ से कई गुना बड़ा और गहरा और ऊँचा है जो तथाकथित जीवन से भरे लोगों में होता है. तभी न वह कह सकता है कि–

पढ़ते हैं जितनी किताबें
उतने ही जीवन एक जीवन में
फैलते-गहराते चले जाते हैं
घर में जितनी किताबें, घर में उतने ही घर
घर में उतने ही संसार वर्तुल बुलाते हैं
फिंक जाते हैं दूर-दूर तारों के बीच में
जितना जो शून्य है उसमें समाये चले जाते हैं
तो भी
बच जाते हैं पढ़ने को
फिर नयी किताब हम बढ़िया एकान्त में

किताबों के जरिये ही क्यों, यों ही रोजमर्रा के अनुभव में भी आदमी कितने-कितने जीवन अपने भीतर धड़कते महसूस करता है–समूची चराचर सृष्टि के स्पन्दनों के साथ किस तरह वह एकजान हो सकता है! और ऐसा न होने पर कैसी अकुलाहट अनुभव करता है–नवीन की कई सारी कविताएँ इस अनुभूत सत्य का प्रत्यक्ष वस्तु-पाठ सरीखी लगने लगती हैं. हमारे यहाँ अभी सन् 82 तक विद्यमान एक अनूठे गृहस्थ योगी निसर्गदत्त कहा करते थे कि 'मैं हूँ' यह प्रतीति ही एकमात्र ऐसी चीज है जो असंदिग्ध और अकाट्य है, बाकी तो सब कुछ सन्देहास्पद है–इस एक 'मैं हूँ' की चेतना को छोड़. एक संशयात्मा जिज्ञासु इस पर कहता है–"मैं तो हमेशा, हर घड़ी अपने व्यक्तिगत जीवन से जुड़ी यादों और आदतों में ही लिथड़ा हुआ 'मैं' होता हूँ. इस 'मैं' के अलावा मैं किसी और 'मैं हूँ' को नहीं जानता." निसर्गदत्त इस पर उस जिज्ञासु से कहते हैं–"क्या तुम्हारे लिए यह जानना बेहद जरूरी नहीं कि तुम केवल मात्र एक देह हो या कुछ और भी. या फिर कुछ भी नहीं.

आखिरकार तुम्हारी सारी समस्याएँ, तुम्हारी देह की ही समस्याएँ न हैं... रोटी, कपड़ा मकान, घर-परिवार, दोस्त-अहबाब, शोहरत, सुरक्षा, रोग और मृत्यु आदि. क्या ये सारी बातें उसी क्षण निरर्थक नहीं हो जातीं जिस क्षण तुम जान जाते हो कि तुम्हारा वजूद मात्र इस देह से, इस देह तक सीमित नहीं..." इस पर वह संशयात्मा जिज्ञासु एक बहुत ही विकट और दुर्दान्त प्रश्न दे मारता है उनके मुँह पर. कहता है—"छोड़िये, अगर मैं जान भी लूँ कि मैं मात्र देह नहीं हूँ, तो...आखिर यह जानने से फायदा क्या है..." इस प्रश्न का जो उत्तर निसर्गदत्त देते हैं, वह बहुत ही दिलचस्प और हमारे इस प्रस्तुत सन्दर्भ में बहुत मार्मिक लगता है. वे कहते हैं—"अरे, तुम महज यह देह नहीं हो—यह कहना पूरा सच नहीं है. पूरा सच यह है कि इस धरती पर जितने भी शरीर चलते-फिरते तुम्हें दिखायी पड़ते हैं, जितने भी धड़कते हृदय, जितने भी मन-मस्तिष्क,... तुम न केवल वह 'सब' हो, बल्कि उसके परे भी बहुत कुछ हो. मगर यह सत्य तभी तुम्हारी पकड़ में आयेगा जब तुम इस 'मैं हूँ' की निरन्तर प्रतीति और अनुभूति के असली मर्म में सचमुच छलाँग लगा दोगे, सचमुच उसमें पैठ हासिल कर लोगे."

किसने सोचा था नवीन सागर की कविता की बात करते हुए निसर्गदत्त का यह वार्ता-प्रसंग हम पर आ टूटेगा! मैं खुद इस अप्रत्याशित के सामने स्तब्ध-विमूढ़ रह गया हूँ. इस कदर जीवन और इस कदर मृत्यु जहाँ ठसाठस भरी हुई है, जहाँ रोजमर्रा का जीता-जागता संसार ही संसार है—इतनी दोस्ती, इतना विश्वास, इतना छल-कपट-विश्वासघात, इतनी भूख, इतनी बेबसी, इतनी नींद-अनींद, इतना सौन्दर्य, इतनी कुरूपता, इतनी बेहयाई, इतनी उत्कट मोह-माया, इतनी आत्मघाती घुटन, इतनी ज़िन्दादिली, इतना थियेटर, इतना अटल अवसाद, इतना आत्मदानी उत्सव-भाव—ऐसी कविताओं को पढ़ते हुए मानवी जीवन के और जीवन-व्यवस्था के तमाम भाष्यकारों की जगह एक ज्ञानयोगी ही हमें क्यों याद आये? इसका जवाब हमें देना ही होगा ना? पर जवाब तो ये कविताएँ खुद ही दे रही हैं...

किसी का सपना टूटने से
गया मैं
...
चाँदनी के धूमिल उजाले में
दुनिया कितनी निर्दोष!
टिमटिमाते तारों की भंगुरता में कैसी
अकेली-सी उदासी!
...
जहाँ से शुरू हुआ हूँ
वहाँ से पहले से है मेरी शुरुआत
जहाँ हुआ हूँ खत्म
वहाँ से आगे चला गया है मेरा सिलसिला
जीवन के विभ्रम की धुँधली याद है
दोहराया हूँ/ भीतर जाता हूँ बाहर
मेरी परछाई फैलती है
धरती से आसमान तक मेरा आभास है
क्या सृष्टि मेरा रहस्य खोजती है?
...
भीतर भटकता हूँ/ तो तारों में छिटक जाता हूँ
मैं/ अवास्तविक हूँ
वास्तव में अवास्तविक हूँ

यह कोई द्वैत या अद्वैत दार्शनिकता नहीं, रहस्यवाद नहीं, बल्कि सामान्य अनुभवों की बात है, बशर्ते हम सचमुच अपनी सामान्य मनुष्यता को अनुभव करने के लिए स्वतन्त्र हों. क्या हमारा रोजमर्रा का अनुभव ही कवि की इस कथनी को पग-पग पर प्रमाणित नहीं करता कि... 'बातों में होते हैं हम जितना/ उतने से कई गुना कहीं और होते हैं/ आखिर को दिखते हैं ना होकर/ होते हैं जहाँ वहाँ/ दिखते ही नहीं हैं'...दरअसल बात सिर्फ इतनी ही है कि हम पर्याप्त सचेत नहीं होते अपने ही अनुभव के प्रति. मगर जब ऐसा कवि हमें चेताता है तो ही हम पहचानते हैं कि अरे, यही तो हमको भी हुआ था, या होता है. अपने साथ, सचमुच अपने साथ होने का मुहूर्त ही नहीं आता मानो जीवन जीते हुए. कवि हमें हमारा वह दुर्लभ अनुभव लौटाता है उसे एक निहायत ही तात्कालिक आत्म-ज्ञान की कौंध में प्रत्यक्ष कराता हुआ... 'आदमी की अमरता/कवि है'—शमशेर की कविता यूँ ही नहीं कह उठती. किसी उपनिषद् (मैत्रायणी?) में कभी पढ़ा था कि—'जो सब होकर सबको देख सकता है वही दरअसल देखता है'. यह बात भी कहीं इन कविताओं से ही गुजरते हुए हमारे सिर पर चढ़के बोलती है. दर्शन नहीं, ठोस और ठेठ दैनंदिन जीवन की शब्दावली और रूप-चित्रों में.

बाइबिल में कहीं पढ़ा था—'वी आर ऑल मेम्बर्ज ऑव वन-एनदर'—हम सब एक दूसरे के अंग हैं. एक विराट् पुरुष (अथवा स्त्री कह लें-एक ही बात है) के ही अवयव हैं चराचर प्राणी सारे, मात्र मानव ही नहीं, स्थावर जंगम सब. क्या यही सब यथार्थों का यथार्थ नहीं?— जो सारे प्रतीयमान यथार्थों की जड़ है—उनका शाश्वत-सार्वभौम सन्दर्भ—जिसे जाने बिना और उसी की शर्तों पर जीने तथा कर्म करने की चुनौती स्वीकार किये बिना मानव-जीवन और उसके यथार्थ की हर समझ, हर व्याख्या और हर व्यवस्था अपने फलितार्थ में अधूरी और विकलांग ही रही आने को अभिशप्त है? आध्यात्मिक यथार्थवाद इसे अगर कहें, तो इसमें अनिवार्यतः उपजने वाली मनुष्यमात्र की बुनियादी एकता और तज्जनित बुनियादी नम्रता के अभाव में हम कैसे इस जगत् में अपनी अवस्थिति का सही-सही आकलन कर सकते हैं? कैसे प्रकृति और पर्यावरण और मानवीय परिवेश के साथ वास्तविक सामंजस्य बिठा सकते हैं? कैसे अपने मनमाने आदर्शवाद या कि मनमाने यथार्थवाद के मुताबिक दुनिया को बदल डालने का दावा कर सकते हैं? इस भ्रान्ति—आत्मभ्रामक भ्रान्ति के—आधार पर कि वह सब यथार्थों का यथार्थ हमारी सीमित-संकुचित तर्क-बुद्धि पर आश्रित है? बुनियादी सच्चाई तो यही न हुई कि 'मैं हूँ' (मैं, यानी यह या वह वस्तु नहीं, बल्कि हर कोई, हर जगह). सिर्फ मैं हूँ, इसीलिए, इसी कारण, इसी बुनियादी यथार्थ की बुनियाद पर, उसी के बूते मैं सोचता भी हूँ. न कि, यह, कि 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' ('आई थिंक, देयरफोर आइ ऐम'—देकार्त). बेशक, यह जो 'होने' के सत्य से पृथक, 'होने' के विरुद्ध अड़ी, 'सोच' से ही सबकुछ जान लेने और समूची चराचर सृष्टि का अवधारणात्मक वशीकरण, नियन्त्रण, और दोहन कर डालने को आमादा यह अहंकारविमूढ़ात्मा (गीताकार के शब्दों में) तथा सर्वतंत्रस्वतंत्र मानवीय (किन्तु अपने-आप में अप्रतिष्ठ) तर्कबुद्धि है, उसने बहुत सारा अर्थ भी उपजाया है—चमत्कारों की

एक अन्तहीन सी श्रृंखला को भी जन्म दिया है—किन्तु, अब आज की तारीख में—दो-दो महायुद्धों और 'आश्वित्ज' और 'गुलाग' और चीनी कल्चरल रेवोल्यूशन, अन्तहीन आतंकवाद और 9/11, और अफगानिस्तान-इराक और आये दिन की प्राकृतिक-अप्राकृतिक विपदाओं-तबाहियों के अटूट सिलसिले के चलते इसका क्या भरोसा कि वह सारा अर्थ एक बुनियादी अनर्थ की जमीन से वसूल किया गया अर्थ ही नहीं है.

"नदी का जाना/ पता नहीं चला/
किनारे के मन्दिर में भगवान/ बस्ती में लोग/ आकाश में तारे
घोंसले में पक्षी रहे आये
जब नदी में नदी नहीं रही/ रात में रात/ सन्नाटे में सन्नाटा रहा
सुबह सूरज ने देखा/ लोगों ने दोनों किनारे/ एक-दूसरे में जाकर उसे
ढूँढते रहे खामोश...,

इससे भी भयानक-त्रासद 'बुरी खबर' वह है जो 'हर घर से गायब' नामक अन्तिम संग्रह की आखिरी कविता 'नहीं था' उस 'फिलासफी इज अ वैस्टर्न एंटरप्राइज'... तथा 'आई थिंक, देयरफोर आइ ऐम' के मन्त्रदाताओं तथा उनके मदान्ध अनुयायियों और निरीह आखेटों तक पहुँचाना चाहती है और बखूबी पहुँचा भी देती है:—

... मैं एक दिन निकला धरती पर
तो पूरी धरती पर/ एक भी नदी नहीं थी
और समुद्र पूरी धरती पर/ नहीं था
आसमान था/ पर बदला हुआ
सूरज था बहुत जलता हुआ/ आग का वह गोला मेरे पास आ रहा था
कोई पेड़ नहीं था छिपने के लिए/ कोई पहाड़ नहीं
धरती सख्त और सपाट/ मैं भाग रहा था हर तरफ से
उसी तरफ जलता हुआ.

यह दिन दहाड़े का दुःस्वप्न है जो सीधे हमारे सिर पर चढ़कर बोलता है. कवि नहीं बोल रहा—उसकी कविता बोल रही है—उस मनुष्य-निर्मित प्रलय की गवाही देती, जो सर्वथा सम्भाव्य और प्रत्यासन्न है; मात्र आशंका नहीं. होने के आदि-अन्तहीन और चराचरव्यापी सत्य को—और, आधुनिक भारत के सबसे क्रान्तिकारी द्रष्टा के अनुसार—'विकासशील' सत्य को—एक समूचे विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण और दोहन के लिए प्रेरित करने वाले तथ्य से विस्थापित कर देने को आमादा तर्क की यह दुर्निवार्य परिणति है जिसका सम्वेदन-साक्षात् यह कविता हमें करा रही है.

क्यों ऐसा है कि ये कविताएँ नितान्त आधुनिक और नितान्त समसामयिक हिन्दी कविता को सर्वत्र छूती-पकड़ती हुई भी—जगह-जगह उनसे अलग, एक स्वलक्षण व्यंजना में उद्भासित हो उठती है? 'जब खुद नहीं था' संग्रह की इस कविता (मैं इतना अधिक क्यों?) का प्रारम्भ और उपसंहार देखें : कविता का चरितनायक कहता है—

अपनी परछाईं पर झुका हुआ हूँ परछाईं सा उतना बाहर नहीं हूँ .
बाहर जितना अपने बाहर है
...
मैं किसी तरह अपने बाहर और भीतर के अलावा
अपने होने का विचार करता हूँ
और भूल जाता हूँ बाहर-भीतर, आने-जाने में/ अपना विचार
क्यों जाने मैं इतना अधिक हूँ अपने लिए
कि और अधिक मरने से डरता हूँ

यह कविता हमसे क्या कह रही है, इसे खोलने में ही कई पृष्ठ लग जायेंगे और फिर भी लगता रहेगा कि, है अभी कुछ और है जिसे यहाँ और अन्यत्र भी इस कवि द्वारा कहा गया/ या नहीं कहा गया, सिर्फ संकेतित भर कर दिया गया. 'अपने होने का विचार' हमें यहाँ हमारी तरह पकड़ता है—हमारे होने की ही सगी पहचान की तरह; न कि किसी तयशुदा पटरी पर हाँक दिये जाने की तरह. जिस प्रश्न या हैरानी पर तान टूटती है कविता की, वह हमारे भीतर बजती रहती है देर तक. अनेकार्थी व्यंजना में हमारे होने के अर्थ को उन्मुक्त करती हुई. इसी तरह, तीसरे संग्रह 'हर घर से गायब' की कई कविताएँ हैं जो अपने को और हमको इसी तरह पकड़ती और खोलती हैं. 'सबसे ज्यादा डर सच से'... इस पंक्ति से शुरू होती और... 'जिन्दगी के क्या मायने?' ...पूछती यह 'तार-तार' कविता ही देख लीजिये...

बच्चे की मुस्कान पर झुकी माँ
आसमान में सरकता चन्द्रमा/फूल और पत्तियों पर धूप
सन्त की आत्मा
अनिश्चित परमात्मा
सबका खात्मा यह मेरी आत्मा है कि
मेरा खड्ड गड्ढा भूतल/ काला गाढ़ा लावा
मेरी आँखों से बहता है/ मैं फूट-फूटकर रोना चाहता था
पत्थर हृदय पर पछींट कर भावनाएँ तार-तार
फैलाकर रेत में नंगा मैं काँटों में छिप गया
सबको दिख गया
यह क्या लिख गया
न सुन्दर न समर्थ न कोई अर्थ
व्यर्थ!
...
और; अन्त में—
लिखा है किताबों में वह करता
हो जाता सब अच्छा
पर करता कैसे!
बिना मारे किस भाँति मरता!!

एक बड़ी घिसी-पिटी बात अकसर दुहराई जाती रही है कवियों की असामान्य सम्वेदनशीलता के बारे में, कि जो भी रोग समाज को व्यापने वाला होता है, उसका सबसे पहला संक्रामक कवि की अग्रगामी चेतना झेलती है. हममें से ज्यादातर लोग तरह-तरह के कवच ओढ़े रहते हैं; कवि की निष्कवच सम्वेदना ही सत्य का सीधा संस्पर्श पाने योग्य होती है. वही उसे भाषा के मर्मस्थलों में प्रवेश दिलाती है—समाज के मानसोपचार जैसा उपक्रम भी प्रच्छन्न रूप में उससे करवा लेती है. इसी आखिरी संग्रह की 'धब्बा' या 'पहला है' शीर्षक कविताएँ ही देख लें. नवीन की बेहतर रचनाएँ अनिवार्यतः नाट्यधर्मी होती हैं—मुखौटे के जरिये ही वे रोजमर्रा के जाने-पहचाने, प्रकट-अप्रकट जीवन की विस्फोटक आलोचना करती हैं— हमें हमारा ही वह चेहरा दिखा देती हैं जिसे हम देखना नहीं चाहते पर कवि के दिखाये दिख जाता है तो विचलित और फिर भी कृतज्ञ हुए बिना नहीं रह सकते. हाँ, वे कविताएँ जरूर कमजोर लगती हैं, जहाँ कवि स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अपनी निजी भावनाओं का विरेचन

या राहत-कार्य करता महसूस होता है. ऐसी कविताओं की बनावट भी इकहरी और अतिरिक्त आत्मावसाद और अतिरिक्त स्वचेतना से बोझल हो रहती हैं. वे उबरी हुई रचनाएँ नहीं लगतीं. पर ऐसी कच्ची और अधीर अभिव्यक्तियाँ नवीन के यहाँ औरों की तुलना में कम ही मिलेंगी.

जो प्रत्यक्ष जीवन-भोग का यथार्थ है, उससे राहत दिलवाना तो कविता का बहुत प्रारम्भिक कार्य है. कविता वहाँ प्रकट होती है जहाँ अनुभव के वे 'कसकते-दुखते मूल'—मुक्तिबोध की शब्दावली में—रूपान्तरित और अतिक्रमित हो जाते हैं और अपने मर्म को—अपने से बड़े, बहुत बड़े अर्थ को प्रकाशित करने लगते हैं. 'रोग' शीर्षक कविता ही देख लें, या फिर 'चिनगियाँ' जिसे यहाँ पूरा उद्धृत करना सम्भव नहीं, और... अधूरे से बात नहीं बनेगी. कई खूबियाँ है इस कविता की, जिनमें कवि के नितान्त अपने वाक्य विन्यास की विलक्षणता के साथ एकाधिक अग्रज कवियों की आवाजें भी इस तरह शामिल हो गयी हैं स्वतः, कि कविता उस अनुगूँज के चलते और भी अधिक व्यंजक-समृद्ध हो उठती है:

कितना झगड़ा है घर में
दुःख का कारण बाहर है—
दीवारें पटक के कारण धरती की
पूरी गोलाई में कारण से निबटना पड़ेगा
सुख भले लोगों का पनपता/दुःख के अँधेरों में पनपाता दुःख के अँधेरों को धरती की पूरी गोलाई में
कारण से निबटना पड़ेगा.

यहाँ कोई भी जानकार पाठक इस कवि की खास अपनी कविसुलभ आवाज को किसी अन्य समकालीन कवि के सुर के साथ गड्डमड्ड नहीं कर सकता. किन्तु थोड़ा आगे बढ़ते ही...'अरे! यह ऐसा कैसे हुआ! अरे यह ऐसा कैसे हुआ!... की अपरिचित ध्वनियों के साथ जब कविता... 'हाय! मुझे इस कितने सुन्दर बाजार से नफरत है!'... की बारम्बार आवृत्ति करती हुई उस बाजार को शापित करने लगती है, तो कवि के अपने सुर से बहुत परचे हुए पाठक भी चौंक से जाते हैं और यह 'चौंकना' हमें अच्छा लगता है. कविता में कहने की आदत ही नहीं जिस बात को, उसे भी कविता में ही कह डालने की यह मुक्तिबोधीय भंगिमा हमें प्रिय लगती है. इसलिए भी कि जो बात कवि की नितान्त स्वर्जित यानी नितान्त अपनी है— किसी भी प्रभाव से निरपेक्ष, वह इन अनुगूँजों के इस्तेमाल से और भी ज्यादा प्रखर होकर हमारे सामने उभर आती है...

हाय! मुझे यह कैसी नफरत है! नफरत है
धरती को फाड़ कहीं भीतर सब बिला दूँ
फिर उसको जोड़ने मिट्टी को गोड़के
ताकत से पूरी पुकारूँ/ पुकारूँ जो डरे हुए हैं

धरती की पूरी गोलाई में भरे हुए
मेरे प्रतिरूप जहाँ-तहाँ उन्हें फैला दूँ पूरे में.

यह है कवि की प्रतिबद्धता—जो तथाकथित प्रतिबद्धता की सारी चालू मुद्राओं और मुहावरों के आर-पार हमें—अपने ही हृदय की बात की तरह आज के इस तुमुल कोलाहल कलह भरे परिवेश के बीचोबीच कौंधती महसूस होती है. यह किसी मनमाने तयशुदा या कल्पित शत्रु के खिलाफ खड़ी की गयी प्रतिबद्धता नहीं है, बल्कि 'ये मेरे प्रतिरूप' के आवाहन की—उसका एक अखंड अपनापे की आवाज द्वारा आवाहन करने की—प्रतिबद्धता है. यह आवाहन-समर्थ गुणवत्ता ही नवीन सागर की कविता को उनके पाठकों के लिए तरोताजा और सदासुलभ बनाये रखने वाली हैं— इस प्रतीति का सर्वथा तात्कालिक प्रमाण तो यही है कि ये सारी कविताएँ स्वयं कवि नवीन सागर के मुख से लिखे जानें के तुरन्त बाद सुनी हुई होते हुए भी—कवि के असमय देहावसान के इतने बरसों बाद—फिर से पढ़ते हुए उस तरह जानी-पहचानी पुरानी नहीं लग रहीं, बल्कि एकदम ताजा लग रही हैं. ऐसे, जैसे कवि अभी—बिलकुल अभी उन्हें लिखकर लाया हो और खुद अपनी आवाज के परदे के पीछे से उन्हें सुना रहा हो. उसी आविष्ट और नाटकीय भंगिमा के सुर में जो एक साथ घनिष्ठ-आत्मीय और सुदूर की गूँज सरीखी भी लगती थी. ▣

● एम-4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003

नवीन सागर का काव्य संसार

प्रभात त्रिपाठी

भाषा में जाने के लिए
जो शब्द चाहिए अपना एक
वह दरवाजा
मेरी गलत दस्तकों के सन्नाटे में
कहीं बन्द है चुपचाप

शायद हर कवि की मुख्य दिक्कत अपनी कविता के लिए भाषा खोजने और मुकम्मल अर्थ में पा जाने की असम्भवता से निरन्तर जूझते ही रहने की है. दरअसल यह दिक्कत से कहीं ज्यादा एक तरह की बेचैनी है, कम से कम नवीन सागर जैसे कवि के सन्दर्भ में तो, यह आस्तित्विक बेचैनी और तकलीफ की वह मारात्मक निरन्तरता ही है, जिसके दौरान वे अपने कवि जीवन में अन्दर और बाहर से लहूलुहान होते रहे हैं. यह बात मैं उनकी व्यक्तिगत जीवन के हवाले से नहीं कह रहा हूँ, क्योंकि उनके शब्देतर जीवन के बारे में मुझे कोई जानकारी नहीं है, पर उनके अपने शब्दों में उनका अपना जीवन जिस शिद्दत से रूपायित हुआ है, उसे पढ़ते हुए यह अहसास घना होता है कि इन्हें लिखनेवाले आदमी के मन में, होने की त्रासदी, और होने की शिनाख्त की विकलता और इस विकलता को शब्दों में रचने, महज रचने नहीं बल्कि सम्भव हो तो उसे सम्प्रेष्य रूप दे सकने की कोशिश ही, कवि-कर्म के रूप में स्वीकृत है. उनके तीन कविता संकलनों (नींद से लम्बी रात, जब खुद नहीं था और हर घर से गायब) की अधिकांश कविताएँ पढ़कर, मैंने यह महसूस किया है कि इन कविताओं के गुण-दोष और चाहे जो हों या न हों, इनकी चारित्रिक विशेषता यही है, कि ये खरी अनुभूति की कविताएँ हैं. इनकी सामान्यताओं, विचित्रताओं, विरूपताओं और कलात्मकता के पीछे इन्हें लगभग जैविक स्तर पर अपने भीतर बाहर घुमड़ते देखता, उनमें डूबडूब ऊब-चूभकर बाहर आता एक बेचैन संजीदा और काव्यानुरागी इन्सान है, जो अपने होने की विचित्र सूरतों से लगातार परेशान है. अपनी कविता में जाने और रहने की उसकी सर्जनात्मकता में भी, उसके लिए कोई बहुत सार्थक या देर तक टिकने वाला आश्वासन नहीं है, पर शायद कविता में लिखने या रहने का विकल्प उसके लिए जिन्दगी भर हासिल नहीं रहा.

शायद इसलिए ही मैंने शुरू में भाषा की बेचैन तलाश का हवाला दिया कि वह उन कवियों में से नहीं है जो कविता को कला के विषय या संघर्ष के माध्यम के रूप में ही जानते हैं. भाषा की तलाश उसके लिए प्रदर्शनात्मक अद्वितीयता की तलाश भर नहीं है. वह अपने होने के क्षण-क्षण को दर्ज कर लेने की जिस बेचैनी से घिरकर, कविता के पास जाता है, वहाँ उसके लिए महानता, प्रासंगिकता, कलात्मकता और वैचारिकता के स्वीकृत समादृत आदर्श या कि हिकमतें भर साथ नहीं हैं. उसकी कविता पढ़कर यह भी लगता है कि सजावटों, हिकमतों और सुस्पष्ट विचारधाराओं की जगह, उसके यहाँ एक अजीब तरह की दुहरती कल्पनाशीलता की प्रगाढ़ अनुभूत्यात्मक सियाही ही अधिक सक्रिय हैं. शम्पा शाह ने बहुत सही लिखा है कि उसकी कविता में रात के अनेक रूप हैं. दस्तक और दरवाजा भी उसकी कविता में लगातार दुहरते शब्द हैं. थोड़ी रोचकता के लिए यह तो किया ही जा सकता है कि इस रात के दरवाजे पर दस्तक देते हुए ही हम उसकी कविताओं के संसार में प्रवेश करने की कोशिश करें, पर यह जरूर याद रखें कि कुछेक निर्दिष्ट विषयपरक कविताओं को छोड़कर, उसकी अधिकांश कविताओं में, एक तरह की आत्मजीवनीधर्मा अनुभूति का रचाव ही अधिक है. वे बार-बार, हर कहीं से या कहीं नहीं से अपने भीतर लौटते हैं, शायद इसी वजह से रात और अँधेरा, उनकी कविता-प्रवेश के सार्थक दरवाजे जैसे लगते हैं :

इस घर में सब बेघर
इस घर में भटके हुए मेले
मकड़ी के जालों में लिपटे हुए
इस घर में
झुलसे हुए रंगों के धब्बे
सपनों की गर्द पर बच्चों की उँगलियों के निशान
इस घर में नींद से बहुत लम्बी रात

यह उनके पहले संकलन की एक कविता का अन्तिम अंश है, जिस पर उन्होंने संग्रह का नामकरण किया है. उनकी रचना-यात्रा का यह दौर, स्पष्ट करता है कि चौंकानेवाली शैल्पिक युक्तियों और रैखिकता के पथ पर बढ़ते अलंकरणों का रास्ता उनका अपना रास्ता नहीं है. अलग दिखने के बजाय वे अपनी सम्वेदना-संवलित आन्तरिक विचार-प्रक्रिया को, बड़ी जिद के साथ और जरूरी हुआ तो दुहराव के साथ लिखने वाले कवि हैं. दिखने-दिखाने से अलग उनकी इस भाषा के खरेपन में उनकी अनुभूत्यात्मक ईमानदारी सहज भाव से घुली है. और इसलिए हम पाते हैं, कि इस घर को हर घर बनाने की हिकमत से दूर रहकर भी, वे उस गाढ़ी काली रात के विस्तार को लिखते हैं; जो घरों में, खासकर निम्न मध्यवर्ग के संघर्षरत जीवन पर छायी बेहद काली और बेचैन कर देने वाली रात है. जाहिर है कि 'घर' के बेघर लोगों को देखते उनके इस अनुभव में, सोच-विचार की प्रक्रिया की हिस्सेदारी भी है. मूलतः सम्वेदनात्मक दबावों की आत्मस्थता से उपजी, इस वैचारिकता में ही सम्भाव्य आत्मविस्तार की दिशा खोजते नवीन सागर दुख को भरसक उस आत्मदया से बचाते हैं, जहाँ वह इश्तहार की तरह की चीज लगने लगता है. उनका दुख इस अर्थ में घर से नहीं जुड़ा है कि वह ठीक हो, तो सबकुछ ठीक हो जाये. वे किसी भावोच्छल या कि निरी भावना केन्द्रित स्मृति की

तरह इस या उस घर या घरों की याद नहीं करते. मानव-सभ्यता की इस बुनियादी संस्था को एक छोर पर वे निजी कसक और वेदना की तरह देखते जरूर हैं, और इन दृश्यों की उस दुनिया में, माँ बच्चे पत्नी यानी सम्बन्धों से भरी-पुरी एक दुनिया को आन्तरिक जरूरत की तरह महसूस भी करते हैं. पर इस निम्न मध्यवर्गीय घर के साम्प्रतिक साभ्यतिक स्वरूप से वे बेखबर नहीं, बल्कि बेचैन हैं, इसलिए ही इस घर के मलबे के जीवन के प्रति अपनी पूरी करुणा के बावजूद, वे उसे एक विषय मात्र के निर्वाह की तरह नहीं लिखते. गौरतलब यह भी है कि होने की बेचैनी से भरी प्रारम्भिक दौर की इन कविताओं का रेंज काफी विस्तृत है. उनमें पारिवारिक सम्बन्धों से लेकर, परिवेशगत वास्तविक उपस्थिति के स्मरणों की जो सघन बिम्बात्मकता है, उसका असर यह स्पष्ट करता है कि इनके अनुभव स्रोत के रूप में, वह बुनियादी आध्यात्मिक रिक्ति या कि अधूरापन ही सक्रिय है, जो होने पर सोचने की तकलीफदेह प्रक्रिया को उकसाता है. उदाहरण के लिए माँ और बच्चों की स्मृतियों को रचनेवाली उनकी कविताओं को देखा जा सकता है:

वह दरवाजे पर है
उस पार से बहुत बड़ी दुनियां
पर करके दस्तक
तब के लिए वह रात भर
दरवाजे पर है
वह एक भूली हुई चीज है

रात भर, दरवाजे पर खड़ी 'उस पार' की दस्तक की प्रतीक्षा करती माँ का यह बिम्ब, स्वरूप और विषय में यों तो, 'माँ' को आधुनिक काव्य-रूढ़ि की तरह इस्तेमाल करती हिन्दी की अधिकांश समकालीन कविताओं से, कोई ज्यादा अलग नहीं लगता, लेकिन इसकी अनुभूत्यात्मक और विचार-प्रक्रियागत लय में, बल्कि इस संरचना में, माँ की कल्पना, मृत्यु और अस्तित्व की चिन्ताओं से ही ज्यादा प्रेरित लगती है. माँ को लेकर भावनापरक संस्करण के इस बिम्ब में भी, हम पाते हैं कि होने की चिन्ताएँ—जो साभ्यतिक परिवेशगत और समस्यामूलक के अलावा, निश्चय ही अपनी क्षीण सी व्यंजनात्मकता में, इस जीवन की सम्बन्धात्मकता के अबूझपन की बेचैनी को व्यक्त करती हैं,—भी इसमें सक्रिय हैं. बच्चों पर लिखी कविताओं में भी हम सदाशयता मंडित या कि निरे वस्तु-निरूपण के दबाव में लिखी गयी, मासूमियत या मसीहाईपन के रैटॉरिक का असर नहीं देखते. शायद यही कारण है कि आत्मवेदना के इन प्रसंगों को लिखने के दौरान उनकी आत्मचेतना, महज स्मृति को रचती हुई नहीं लगती. विषय के बावजूद एक भिन्न अर्थ में विषयातीत हो जाने की अपेक्षाकृत मुक्त कल्पना, निजी अनुभूति पर आधारित होने के बावजूद, उससे बाहर जाकर, कुछ अधिक गहराई से देखने की कल्पना लगती है, तब भी दृश्य में एकदम निजी स्मृति के

मंगलेश की यह बात सही है कि इस दूसरे संग्रह की अधिकांश कविताओं में, कुछ उजागर सी अन्तर्मुखता है और विषयों की वैसी विविधता नहीं है, जैसी पिछले संग्रह में थी. दरअसल नितान्त निजी अनुभव की बिम्बात्मकता उनकी रचना-प्रक्रिया से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई है. इस अर्थ में वे आसपास को अधिक गौर से देखने वाले कवि हैं. पर उससे कहीं अधिक गहरे ध्यान के साथ, अपने रचना-क्षणों में वे अपने मन को देखते हैं. सामान्य कथन और क्रियापदों के सहारे ही, अपनी मनःस्थिति को मूर्त करने की उनकी कोशिश में एक अजीब सी वेदना भी सक्रिय दिखायी देती है, लेकिन यह वेदना महज उनकी वरण की गयी निस्संगता का संकेतक ही नहीं है. अपनी अन्तर्मुखता में भी, वे पूरे मन से उस दुनिया में शामिल हैं, जो उन्हें निरन्तर अकेला ही करती गयी है.

बावजूद, उससे बाहर जाकर, कुछ अधिक गहराई से देखने की कल्पना लगती है, तब भी जब कि दृश्य में एकदम निजी स्मृति के मार्मिक प्रसंग ही शामिल हों—

बच्चे लौट आये
बच्चों ने गाना नहीं गाया
खाना खाया
और अपने ऊपर ढह गये
... ...
मैं ईश्वर नहीं हूँ
ये बच्चे मेरे कारण हैं
और ये जानते हैं कि मैं मरा नहीं हूँ
अँधेरा करके छिप गया हूँ
रात ही रात है
....
बच्चे उठकर मेरी ओर
आ रहे हैं लगातार
पूरे संसार में बाहर
भागता हुआ मैं नहीं दिख रहा हूँ

एक साधारण घरेलू स्मृति से आरम्भ होती यह यह कविता, कैसी बंकिम गति से आगे बढ़ती है कि ईश्वर और मृत्यु के जिक्र के साथ, जैसे किसी दुःस्वप्न में परिणत हो जाती है. बेशक इसमें अतिकल्पना की भाषा की वह गझिन नाटकीयता नहीं है, जो अनुभव को कुछ अधिक प्रगाढ़ करे. एक तरह की सपाटबयानी के भीतर ही, कवि उस व्यथा को लिखने की कोशिश कर रहा है, जो उसके निजी पारिवारिक अनुभव का रोजमर्रा है, पर यहाँ भी हम स्पष्ट देखते हैं कि सीधे आत्मकथन में व्यक्त होते इस दुख का सम्बन्ध 'बच्चों' की हालत को लेकर सामान्य मध्यवर्गीय चिन्ताओं से भरा नहीं है. वह 'बच्चों' को उस गहरी काली रात के हिस्से की तरह ही महसूस कर रहा है, जो उसके लिए नींद की राहत का नहीं, बल्कि एक कठिन और जटिल सोच भरे बेबस और निरस्त्र कर देने वाले अन्धकार का ही पर्याय है. इसीलिए शायद वह अपनी भाषा के लिए किसी बन्द दरवाजे पर दस्तक देता रहा है मुसलसल और तब भी वह इतना भर दर्ज कर सका है:

मेरी रातों के चीथड़ों से/ बना है अन्धकार/ मेरी दस्तकों से बना है दरवाजा/ मेरी मृत्यु से बना है मेरा जीवन/ मेरे न होने से/ मेरा होना बना है/

या

हँसता हुआ अचानक रुका/ सोचता हुआ/ किनके साथ हँसा/ ये कहाँ मैं आ गया/ ये कपड़े मैंने पहने कैसे/ और ये चेहरा! ये चेहरा मेरा कैसे!

इस तरह की पँक्तियाँ कम से कम अर्थ के स्तर पर तो एक तरह की बदहवास मनःस्थिति को सूचित करती लगती हैं. बाजवक्त यह भी लगता है कि आत्म से विच्छिन्नता की इस नाटकीयता में या इसकी भाषा की झीनी बंकिमता में, हर-हमेशा, आन्तरिक अनुभूति की सक्रियता शामिल नहीं है. और यह भी कि इस अन्दरूनी घटाटोप को लिखने के लिए कल्पनाशील ऊर्जा को बिम्बात्मक ब्यौरों में प्रस्तुत करना, शायद अधिक पुरअसर साबित हुआ होता. पर ऐसा कभी नहीं लगता कि इस कविता के पीछे, महज बौद्धिक आरोपण ही है. इसके साथ-साथ ही पाठक इस विरोधाभासी अनुभव से भी गुजरता है कि इस तरह की कविताएँ आध्यात्मिक दार्शनिकता या दार्शनिक आध्यात्मिकता के दलदल में तो नहीं धँस रहीं? बेशक आम आदमी या खास आदमी या जन और अभिजन, व्यक्ति रूप में सभी अस्ति-चिन्ता से सम्बन्धित प्रश्नों-जिज्ञासाओं को अपने जीवनानुभवों में जानते हैं, और इसलिए, इस तरह की जिज्ञासाएँ किसी कवि के मन में भी निरन्तर बनी रहती हैं. इस अर्थ में नवीन सागर की ऐसी चिन्ताओं की स्वाभाविकता को किसी भी तरह से प्रश्नबद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनके निजी स्वभाव में ही इस तरह की जिज्ञासाओं को एक तरह की केन्द्रीयता प्राप्त है. पर कई बार लगता है कि प्रखर इहलौकिक संघर्ष के बिम्बों से जुड़े उनके आत्मसंघर्ष को ये कविताएँ थोड़ा ओझल सा करती लगती हैं. खासकर जब हम इसी संग्रह की उनकी ऐसी किसी कविता की पंक्तियाँ याद करते हैं–

मेरी देह का मैल छुड़ाती माँ
दूर पीछे छूटी हुई
बैठी है घिनौची में मेरा इन्तजार करती
कपड़े सूखते हैं रस्सी पर सुनसान
विस्तर पर खिड़की के आकार की
धूप धूल पड़ी है मेरे बिना
मेरी दातुन हौदी में हिल रही है
मेरा बस्ता, मेरा स्कूल
मिट्टी की परतों में दबा हुआ
सुन रहा है मेरी आहट
... ...
मुझे एक बच्चे से छीनकर
दी जा रही है रोटी
मेरे चेहरे पर सोचने के निशान हैं
मुझे घसीटकर पेश किया जा रहा है
कैसे मैं इन्कार करूँगा उस पाप से
जो संसार के किसी भी कोने में कोई कर रहा है

संसार के किसी भी कोने में होनेवाले पाप का यह अन्तरात्मिक बोध ही उसके सम्वेदनात्मक-विचार का प्रमुख कारक है. अपनी इस तरह की कविताओं में जिन स्वतःस्फूर्त पर फिर भी कल्पनाशील स्वरूप में रची गयी स्मृतियों के बीच, वह अपने होने की सार्थकता खोजता है, वे स्मृतियाँ महज भावुक संस्मरण मात्र नहीं हैं. पर उनकी जीवन्त उपस्थिति से कविता का यह संसार, कुछ अधिक प्राणवन्त और ऊर्जस्वित् बन जाता है. यह नहीं कि ये कविताएँ उसकी आत्मखोज की दूसरी कविताओं का विलोम हैं, बल्कि यह कि इन कविताओं में वह आत्म की शिनाख्त के अपेक्षाकृत सगुण साकार रास्तों पर चलता नजर आता है. ये ऐसे रस्ते भी हैं जो उन्हें सिर्फ अपने घर परिवार से नहीं बल्कि सब के घर परिवार से बल्कि देश के संघर्षरत परिवेश से जोड़ते हैं. सच तो यह है कि अपने अन्दर जाने का सही रास्ता भी अपने बाहर के साथ पूरी हिस्सेदारी के बिना, शायद नजर ही नहीं आता. अन्दर और बाहर आने जाने की बेचैनी को पूरी शिद्दत के साथ भोगते नवीन सागर की काव्यानुभूति की मार्मिकता, समावेशी प्रयत्नों की ऐसी चेष्टा में ही देखी जा सकती है, जहाँ वे समसामयिक जीवन के संघर्षों, विरूपताओं और विसंगतियों के बीच खड़े होकर अपनी कविता में आत्म और आत्मेतर को एक दूसरे से मिलाते से लगते हैं. 'सुख', 'अच्छी सरकार', 'पैसा', 'मैंने समझदारी की', मैं तो नागरिक' जैसी कविताओं के सम्वेदनात्मक विस्तार के सन्दर्भ में ही उनकी अन्तर्मुखता और सृष्टि के रहस्यों के प्रति उनकी अनवरत जिज्ञासाओं को पढ़ा जाना उचित है.

उनके दूसरे काव्य संकलन के ब्लर्ब में मंगलेश डबराल ने लिखा है, 'शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि नवीन के नये संग्रह की कविताएँ पहले संग्रह की कविताओं के आन्तरिक भाग हैं, पिछले बहिरंग का अन्तरंग है.'

मंगलेश की यह बात सही है कि इस दूसरे संग्रह की अधिकांश कविताओं में, कुछ उजागर सी अन्तर्मुखता है और विषयों की वैसी विविधता नहीं है, जैसी पिछले संग्रह में थी. दरअसल नितान्त निजी अनुभव की बिम्बात्मकता उनकी रचना-प्रक्रिया से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई है. इस अर्थ में वे आसपास को अधिक गौर से देखने वाले कवि हैं. पर उससे कहीं अधिक गहरे ध्यान के साथ, अपने रचना-क्षणों में वे अपने मन को देखते हैं. सामान्य कथन और क्रियापदों के सहारे ही, अपनी मनःस्थिति को मूर्त करने की उनकी कोशिश में एक अजीब सी वेदना भी सक्रिय दिखायी देती है, लेकिन यह वेदना महज उनकी वरण की गयी निस्संगता का संकेतक ही नहीं है. अपनी अन्तर्मुखता में भी, वे पूरे मन से उस दुनिया में शामिल हैं, जो उन्हें निरन्तर अकेला ही करती गयी है. यह एक विशेष व्यक्ति की हैसियत का वह गौरवपूर्ण अकेलापन नहीं है, जो समय-समाज की साम्प्रतिकता से कटकर हासिल किया गया हो. दरअसल, इसे किसी क्षणिक मूड या किसी दैवी नियति की तरह देखना भी मुश्किल है. शायद कवि की कोशिश यह है कि वह इस अबूझ और उसके लिए क्रूर और परायी ही बनी रहनेवाली दुनिया को कविता का ऐसा रूपाकार दे सके, जिससे महसूस हो कि दृश्य-वर्णन के साथ-साथ वह आत्म-जीवन के निभृत प्रसंगों को भी लिख पा रहा है. यह कोशिश पहले संग्रह में भी थी, लेकिन वहाँ समाज की विसंगतियों और क्रूरताओं को लेकर, व्यंग्य और विडम्बना जैसे औजारों का इस्तेमाल था. समस्यात्मक जन-संकट का थोड़ा मुखर रूप भी था. इस संकलन में व्यंग्य और विडम्बना का स्वर, आत्मालोचन और आत्मशोधन के स्वर में बदलता सा लगता है, पर इस बदलाव में भी, एक विशिष्ट परिवेश और वर्ग में अपने होने से जुड़ी अपनी आत्मचेतस जिम्मेदारी को कवि कहीं

बरकाता नहीं है.

लड़खड़ाते हुए कितना भी हम भागे
गिरे अपने ऊपर गिरे
दरवाजों के आर-पार
झरा हमारे ऊपर दीवारों का पलस्तर
मकड़ी के जालों में लिपटी खिड़की गिरी एक बन्द
जिसकी दरार में नीला आसमान
जंगल की लकीर, आँख की किरीच
चूल्हा गिरा हमारे ऊपर
ठंडी राख और आँचल की गंध

यह एक बहुत ही लिरिकल प्रवाह की ऐसी कविता है, जो कानों को अच्छी लगती है. इसे उचारते हुए पढ़ते, जब हम सुनते हैं, तो हमें लगता है कि हम एक परिचित लगभग अपने भीतर मौजूद आवाज ही सुन रहे हैं, लेकिन इसमें सक्रिय सतर्कता हमें यह भी याद दिलाती है कि नवीन सागर लड़खड़ाते हुए, लड़ाई के मैदानों से भागते पैरों की बात, महज आत्मकथा कहने के लिए नहीं लिख रहे हैं. कविता में प्रयुक्त 'हम' सर्वनाम से ही नहीं, पूरी कविता के प्रवाह और रचाव से यह महसूस होता है कि यह वर्ग-चेतना की ही कविता है. मैदान से लड़खड़ाता भागता यह वर्ग ही, वह पृष्ठभूमि या कि परिप्रेक्ष्य है, जिसमें कवि अपने निजी पराजय और अकेलेपन की कथा लिखता है. जाहिर है कि ऐसे कवि का आत्ममन्थन संसार और समाज के भीतर की पहचान के अभाव में सम्भव ही नहीं हो सकता था. बेशक वे समाज के मन को, व्यक्ति के अनुभवों में रूपायित करते हुए, उसे उसी तरह के आलोचनात्मक मुहावरे में विन्यस्त करते हैं, जो हिन्दी की समकालीन कविता में तरह-तरह के रूपों में प्रतिष्ठित है, पर उनके यहाँ वर्णनात्मक ब्यौरों में विषय को निजी ऊष्मा से जीवन्त बनाती भाषा की एक सहज सम्प्रेष्य सृजनात्मकता भी है, जो उनके 'कंसर्न' के खरेपन के अभाव में गिरे अलंकृत वस्तु निरूपण का नमूना बनकर रह जा सकती थी. 'पीछे शहर रात भर बिखरा पड़ा रहता है' की कुछ पँक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

औरतें है दिन रात बाहर खटती हुई बेजार
कहीं लूट की कमाई से निहाल
अकेली घबराई हुई माँएँ
दरवाजों खिड़कियों के पास
उनके चेहरों के अक्स
दीवारों में उनकी साँसें
जो घर के सन्नाटे में फैलती हैं
... ...
सड़कों पर मन्सूबे लालच और लाचरियाँ
एक दूसरे से रगड़ खाते हैं
आवाजों का कर्कश अलगाव
हर दर दुकान से फूटते संगीत
और सड़क से उड़ती हुई धूल के बीच ठहरा है

सारी रात शोर की गर्द
हवा में गिरती है जो सन्नाटे के गुम्बद का
बोझ मन पर डालती है
... ...
मैं इसी शहर में छिपा हूँ
यहाँ कर्ज के बोझ से चरमराती हुई
भूख में जगी हुई नींदें हैं, जिनमें अँधेरे हिलते हैं
तो उनके जबड़ों में हँसी हिलती है
यहाँ अपमान से घर लौटे
आदमियों के बहुत घर हैं

इन पंक्तियों को पढ़कर यही लगता है कि इन्हें हम अर्थ के पहले, इनके रागात्मक रचाव में जानते हैं. हम सहज ही महसूस करते हैं कि इस वर्णनात्मकता में भी अपने होने को, एक आवयविक विकलता के साथ रचने की कोशिश कर रहे हैं नवीन सागर. सतह पर खर्च होती अनगिन जिन्दगियों की इस स्मृति में भी भाषा की आत्मपरकता काफी उजागर है, पर यह थोड़ा अजीब सा लगता है कि लगभग सहज सम्प्रेष्य भाषा और अनुभव के ऐसे सान्द्र समन्वय के बावजूद, आत्म-विच्छिन्नता को एक अलग दिखने वाले लगभग बौद्धिक दार्शनिक मुहावरे में पकड़ने की जरूरत उन्हें क्यों महसूस होती है. बेचैनी की जिस आन्तरिकता और स्थानिकता के साथ, वे एक सुघड़ स्थापत्य का निर्माण, पूरी भावनात्मक स्वतःस्फूर्तता के साथ करते हैं, आस्तित्विक सन्दर्भों में उसी की अपर्याप्तता का बोध शायद उन्हें दूसरे रास्ते पर ले जाता हो, पर इस दूसरे रास्ते पर चलकर लिखी गयी उनकी एकाधिक कविताओं में एक तरह की बौद्धिक रुक्षता और शुष्कता ही ज्यादा नजर आती है. इहलौकिक विकरालता के जिस अनुभव के कारण, वे वस्तुनिरूपण और आत्मनिवेदन को एक दूसरे में घुलाते रहे हैं, वह ऐसी कविताओं में एक तरह की इकहरी दार्शनिकता का रूप लेने लगती है:

जहाँ से शुरू हुआ हूँ/ वहाँ से पहले से है मेरी शुरुआत/जहाँ खत्म हुआ हूँ/ वहाँ से आगे चला गया है मेरे होने का सिलसिला/जीवन की विभ्रम की धुँधली है/जीवन भूला हुआ अनुक्रम दुहराता है.

इस तरह की पँक्तियों का सपाटपन, उनकी सहज बिम्बात्मकता की स्वतःस्फूर्तता से भिन्न थोड़ी गद्यात्मक सी लगती है. यह भी महसूस होता है कि आत्म से विच्छिन्न होने का उनका यह बोध, विराट सृष्टि की रहस्यमयता के बीच, अपनी पहचान के बिला जाने का एक आन्तरिक अजनबीपन भर नहीं है. 'भीतर और भीतर और भीतर' जाकर भी कुछ नहीं पाने की रिक्ति का एहसास उनको है. शायद एक रचनाकार के रूप में पूरे वस्तुजगत की दहशत को आत्म पहचान की प्रक्रिया का अंग बना लेने की उनकी महत्वाकांक्षा उन्हें स्थानिक ब्यौरों की भाषा से भिन्न दार्शनिक अन्तर्दृष्टि की भाषा खोजने के लिए उकसाती रही हो, लेकिन इस तरह की कविताओं में वे कविता से कहीं ज्यादा इकहरे कथन या कि विश्लेषण की ही सृष्टि कर पाते हैं:

मैं किसी तरह अपने बाहर और भीतर के अलावा
अपने होने का विचार करता हूँ
और भूल जाता हूँ बाहर भीतर
आने जाने में अपना विचार
क्यों जाने में इतना अधिक हूँ अपने लिए
कि और अधिक मरने से डरता हूँ

पर शायद इस तरह के अनुभव को बरकाकर चतुराई के रास्ते अपनी निजता को ढाँपने मूँदने और अपनी परिवेशगत जागरूकता को सुघड़ स्थापत्य के विषय केन्द्रिक मुहावरे में प्रस्तुत करने का रास्ता उनके स्वभाव से मेल ही नहीं खाता. इस तरह की बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि हिन्दी की बहुत सारी विख्यात कविता में मुझे किसिम-किसिम के विषयों पर लिखी गयी ऐसी रचनाएँ याद आती हैं, जो मूलतः चतुराई-रचित हैं. नवीन सागर इस तरह की चतुराई से हमेशा ही मुक्त रहे हैं. इसका साक्ष्य है उनका अन्तिम संकलन, जो फिर से बाहर और भीतर की अनवरत

यात्राओं को लिखने की कोशिश का ही नतीजा है, पर इस संकलन से फिर एक बार लगता है, कि बौद्धिक विश्लेषणात्मक दार्शनिकता की जगह, परिवेश से अन्तरंग जुड़ाव और व्यंग्य विडम्बना की आलोचनात्मकता की भाषा की जरूरत उन्हें अभी भी है. गौरतलब है कि बुनियादी रूप से आत्म के भीतर, एक धड़कते वस्तु-संसार के बीच, अपने होने को अर्थ तलाशते इस कवि की आलोचना, प्रथमतः और अन्ततः आत्मलोचन ही है, बल्कि कहना चाहिए, कि 'आत्म' से दीवानगी की हद तक के लगाव के दौरान ही, उन्हें यह हासिल हो सका है, बल्कि शायद ठीक से यह कि वे महसूस कर सके हैं कि अपने को जानने की प्रक्रिया और उस प्रक्रिया में सच दर्ज कर सकने के साहस से ही, वे वस्तु संसार की वास्तविकताओं के बीचमबीच, अपने होने की अजीबोगरीब हैसियत और औकात को लिखने का जोखिम उठा सके हैं. इसलिए उनके अब तक के अन्तिम संकलन से कुछ पँक्तियाँ प्रस्तुत करने के पहले मैं कहना चाहता हूँ कि नवीन सागर एक सार्थक अर्थ में आत्मग्रस्त कवि जरूर हैं, लेकिन क्या कोई भी, या किसी का भी आत्म या सेल्फ, अन्य की अनुपस्थिति में, सम्भव है? अन्यों के इसके किसी जवाब से लगभग बेसबर, अब मैं नवीन सागर के शब्दों में ही कहना चाहता हूँ—

मैं अब स्त्री की तरह रहूँगा
वे युद्ध नहीं करतीं,
शराब नहीं पीतीं
हत्या नहीं करतीं
... ...
वे माँ होती हैं
मैं अब स्त्री की तरह रहूँगा
माँ की तरह

यों तो हिन्दी कविता में माँ, बच्चे और परिवार के इस्तेमाल की एक रूढ़ि बन चुकी है, और कम से कम भाषा की चुस्ती के मामले में यह कविता, अपनी सदाशयता के बावजूद, माँ पर लिखी गयी सैकड़ों कविताओं से, जाहिर तौर पर भिन्न कविता नहीं लगती. लेकिन जैसा कि पिछले संग्रहों के पाठ के अपने अनुभव में हम जानते हैं, कि इस तरह की घरेलू और स्थानिक उपस्थितियों की हैसियत उनकी कविता में मूल्यपरक है. इन्हें काव्यानुभूति की मार्मिकता देने की कोशिश भी उनके यहाँ हमेशा ही सक्रिय रही है, और इसी सिलसिले में बाहर के घमासान को, कभी नाटकीय वाचालता, कभी ब्यौरों की गझिनता और कभी निजी अनुभव की एकान्तिकता में थामने-थाहने की कोशिश भी वे करते ही रहे हैं. और उनकी भाषा में होने की यह निजता कभी *मैं निस्तब्ध/कि नहीं चेतना/ कि एक स्पंदित बिन्दु/मैं/अरे कहाँ कौन,* जैसे निहायत अन्तर्मुखी आस्तित्विक मुहावरे में, तो कभी *मन होता है पूरे उजाले पर थूक दूँ/कर दूँ अँधेरा/ये चिंचियाते भागें सब/लय टूटे धरती को फाड़ दूँ/* जैसे चिल्लाते मुहावरे में, पर हर कहीं एक बेचैनी इस बात की है, जैसे वे कह नहीं पा रहे हैं, अपनी बात जैसे उनकी बात, शुरू में ही लड़खड़ाने लगी है. बौद्धिक स्तर पर घर में घुसते बाजार के बाजारूपन से पूरी तरह वाकिफ नवीन सागर, इसलिए ही शायद भाषा की तलाश की छटपटाहट के कवि ही अधिक लगते हैं. मुकम्मल और सुघड़ अभिव्यक्ति का आत्मतोष उनके यहाँ तब भी नहीं है, जब वे आत्मस्थ होकर स्थिति पर विचारते हैं, और तब भी नहीं जब वे यह लिखने की कोशिश करते हुए, समय और स्थान को पहचानने की कोशिश करते हैं कि 'सबसे कमजोर आदमी की छाती पर गड़ा है जीत का झंडा.'

अभी तक के अपने ही लिखे को पढ़कर मुझे लगा कि शायद मेरी बातों में बहुत दुहराव है. सम्भवतः इस कारण कि नवीन सागर की कविता में भी शब्दों प्रसंगों स्थितियों का दुहराव सहज ही परिलक्षित किया जा सकता है. पर एक कवि के यहाँ ऐसे दुहराव से कोई गड़बड़ नहीं होती और कई बार तो यह भी महसूस होता है कि हर कवि सिर्फ एक ही कविता लिखना चाहता है. यद्यपि यह बात कवि के काव्य-संसार को थोड़ी रहस्यात्मक बनाती सी लगती है, पर नवीन के यहाँ रचने का केन्द्रीय दबाव ही होने की अजीबोगरीब मनःस्थितियों को उकैरने का, और सिर्फ उकेरकर रिहा हो जाने का नहीं, बल्कि उसमें फँसकर धँसकर उलझकर रह जाने का है. पर यह भी सुखद और रोचक है कि उनकी कविता के बारे में कुछ कहने की कोशिश करते हुए, मैंने महसूस किया है कि इस पर समीक्षात्मक-टिप्पणी करने के बजाय, विस्तार से उद्धृत करते हुए लिखना कहीं अधिक सार्थक है. उनकी कविता में सिर्फ विषय की नहीं, लय की भी विविधता है. वे निश्चय ही कानों को और आँखों को अच्छे लगने वाले कवि हैं. अनेक स्थलों पर उनके जाहिर लयात्मक विन्यास में जो लिरिकल प्रवाह है, उसकी मन्थरता और उसकी अनुभूत्यात्मकता, लगभग परिचित बिम्बमालाओं को एक आत्मीय उजास से भर देती है, और तब उसकी व्याख्या महज तकनीकी स्तर पर या कि शब्दार्थ सीमित परिभाषिकता के स्वीकृत-प्रचलित मुहावरे में कर पाना थोड़ा नाकाफी लगता है:—

दूर तक अवसन्न स्वर संसार के
दूर तक सूनी पड़ी सड़कें
पीले उजाले से घिरे लट्टू
नागरिक कितने किनारे पर पड़े लुढ़के
मर गये तो गये वरना फिर सुबह की स्याह
दुनिया में पसारे हाथ निकाले
... ...
दूर तारों के किनारों की चमकती कोर में
शान्त बहते हुए पंछी सी
लहर-सी एक दुनिया
जो अगर है इस तरह
तो हर तरह से है कभी

नागरिक जीवन को पास-पड़ोस के वास्तविक बिम्ब में रचती इस कविता की यह थोड़ी रोमानी परिणति, उनके कवि-स्वभाव के विशिष्ट रूप का परिचय देती है और याद दिलाती है कि वस्तुजगत की विसंगतियों विडम्बनाओं से हमेशा ही सम्वेदित प्रतिकृत उनकी रचनात्मकता में अपना ही अजनबीपन नहीं, बल्कि परिस्थितियों की लगातार पड़ने वाली चोट भी है, जिसके चलते, वे 'मैं जब' 'धूल बनकर' 'जीवन से भरे लोगों' 'कौन मुर्दा' 'सवाल' जैसी कविताएँ लिखते हैं. पर फिर भी उन्हें लगता ही रहता है कि—

मैं एक साथ भीतर जाने
और बाहर निकलने में
टकराता हूँ
यही एक दरवाजा है
इसी से आता जाता हूँ
मिलता नहीं हूँ. ▣

● रामगुड़ी पारा, रायगढ़ (छ.ग.)

◆ कविताएँ ◆

नवीन सागर की कविताएँ

दुर्घटना

लोगों के बिना नहीं रह सकता
अपने बिना भी नहीं—अचानक यहाँ
इस पंक्ति का आना दुर्घटना है कि—
दुनिया में अस्सी करोड़ लोग भूखे सोते हैं.

मैं उनका पेट नहीं भर सकता
यह एक रूढ़ बात है

मैं पेट भरकर सोता हूँ
नींद नहीं आती—अचानक यहाँ यह पंक्ति
आ गयी
नींद उड़ने का कारण अस्सी करोड़ भूखे
नहीं
यह दुश्चिन्ताओं की जगरात है
कच्ची नींद के सपने हैं जो डर और लालच
से बने हैं

अब घर चलना चाहिए

बहुत रात तक मैं सड़क पर रहता था
शक नहीं करता था न डरता था
मैं थके हुए लोगों से डरता नहीं था
उनके पस्त देह पर झूलते चीथड़ों
लड़खड़ाते कदमों उनकी घिसटती परछाइयों
में रह जाता था बेशुमार!

नींद में झुके हुए मकानों के बुत
गलियों को सूना करते थे
कहीं कोई खिड़की खुलती बन्द हो जाती
कोई आवाज
सन्नाटे में डूबती हुई आती
किसी दरीचे से रोशनी का शहतीर गिरता
कोई शराबी गिरकर उठता
सामने
झूमता हुआ
घूरता
बड़बड़ाता हुआ
बहुत बेचारगी में सना अकेला छूटा रह
गया-सा
अपना घर भूला
उसे उसके घर पहुँचाता था

आदत से
बार-बार अँधेरे में कहता था
अब घर चलना चाहिए
घर के भीतर घर ढह गया
मैं रहते-रहते थक गया हूँ
खिड़कियों को दीवारों ने मूँद लिया
दरवाजों को निगल गयीं दीवारें
ताबूत में रहने का आदी नहीं हूँ
रहने का आदी हूँ
रहते-रहते थक गया हूँ

जनम रहा है जो भीतर अँधेरे में
उसे बाहर अँधेरे में मार रहा हूँ
तनाव मेरे
उसी मृत्यु की छाया है.

यही मेरा सुख

मेरे पास एक फूल
जो दिखता नहीं है
फूल तुम्हारे लिए.

क्या तुम्हें पता है! कि मैं हूँ
दिखता हूँ कभी!

जहाँ भी तुम हो खुद को मैं दिखता हूँ
लगातार
तुम अगर सो रही हो
तो तुम्हारे सपने की सड़क पर
पेड़ के पीछे अँधेरे में खड़ा सिगरेट पीता
हुआ.
तुम अगर खिड़की से बारिश देख रही हो
तो दूर सूनी पुलिया पर
भीगता हुआ धुँधला अकेला.
तुम्हारे खयालों के इतना बाहर
कि उनके एकदम पास
उन्हें छूता हुआ बादल का टुकड़ा
तुम्हारी उँगलियों
तुम्हारी साँसों के इस संसार में
धड़कता हुआ थोड़ा-सा समय.
तुम्हारी खिड़की के काँच पर
रात भर
ओस की तरह गिरता हुआ.

यही मेरा सुख यही दुख मेरा
कि इतनी बड़ी दुनिया में कहीं और नहीं
मैं रहा यहाँ जहाँ तुम हो तुम हो
यही मेरा सुख यही दुख मेरा
कि मेरे पास एक फूल
फूल तुम्हारे लिए
जिसे मैं वापस ले जाऊँगा.

संदिग्ध

इस शहर में
जिनके मकान हैं वे अगर
उनको मकानों में न रहने दें
जिनके नहीं हैं
बहुत कम लोग मकानों में रह जायेंगे.

जिनके मकान हैं
वे
मजबूती से दरवाजे बन्द करते हैं
खिड़की से सतर्क झाँकते हैं
ताले जड़ते हैं
सुई की नोक बराबर भूमि के लिए
लड़ते हैं.

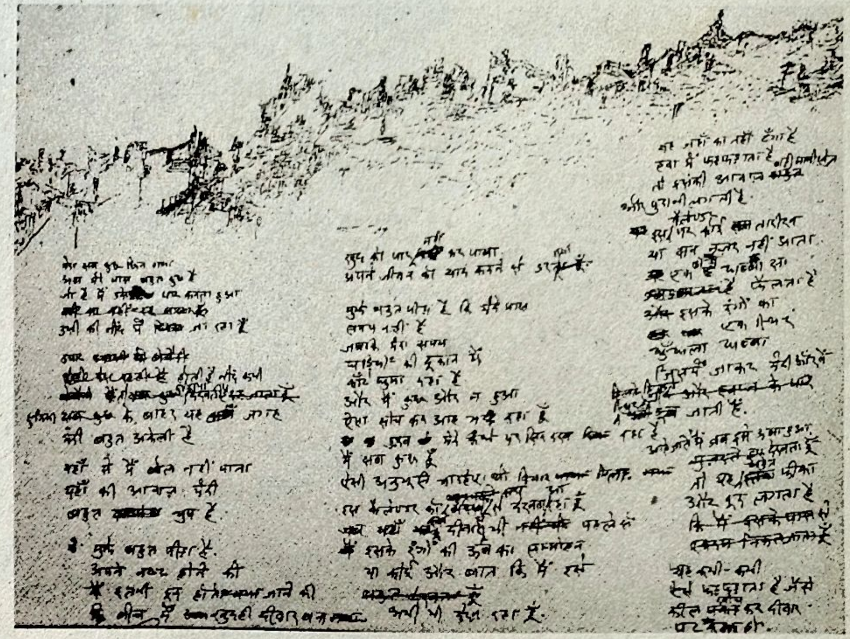
जिनके मकान नहीं हैं
वे
बाहर से झाँकते हैं
दरवाजों पर ठिठकते हैं
झिझकते हुए खिड़कियों से हटते हैं
जिनके मकान नहीं हैं
वे हर मकान के बाहर संदिग्ध हैं
वे हर मकान को अपने मकान की याद में
देखते हैं.

कौन मुर्दा

मैंने बोले आज पचासों झूठ
सिर्फ एक सच बोला

शायद झूठ से ऊबकर कि मैं ऊब गया हूँ
कामरेड ने कहा यह अवैज्ञानिक उबासी है
ठीक तभी मैंने उबासी ली
खुले हुए मुँह में से देर तक उदासी की बास
निकली जैसे कोई बरसों से बन्द मकान खुला
मैंने जवाब दिया मैं भविष्य से ऊबा हूँ
अतीत से भी ऊबकर
कामरेड ने मुझे जब तक वर्तमान में पकड़ा
वे अतीत में टूटकर
और जब उन्होंने भविष्य में छलांग मारी
तो भविष्य में छूटकर रह गये

उन्होंने वहीं से कहा वैज्ञानिक तर्क!
मैंने हतबुद्धि होकर
भाव को विचार की ठोस और ठस तरलता में डुबोकर
और ज्यादा डुबोकर कहा
मैं ऊब गया हूँ
तब तक एक और कामरेड ने आकर कहा
ऊबने से काम कैसे चलेगा!
मैंने कहा यह कामचलाऊ ऊब नहीं है
वे बोले
नाम तक अपनी सड़ांध में डूब चुके हो
लड़ो
मैंने कहा लड़ते-लड़ते थक गया हूँ
जितना लड़ता हूँ शत्रु भीतर मेरे
उतना ही विभक्त हो, द्विगुणित संयुक्त हो जाता है
मैं चिल्ला पड़ा
पहली लड़ाई खुद से और आखिरी मेरी कोई लड़ाई नहीं है
कामरेड ने द्रवित होकर मुझे व्यक्तिवादी दर्द कहा
मैंने प्रतिवाद किया
मैं भी मानवजाति हूँ तो उन्होंने क्रमशः आनन्दकर दयामय
और हमदर्द कहा
फेर इतिहास की बात कही
मैंने समझा यातना पर लात रखकर परिहास की बात कही
समाधान किया उन्होंने मेरी शंकाओं का
मेरी ऊब का सन्धान किया
कामरेड के पास
तर्क की साँझ वक्त की झंकार थी
उनमें और मुझमें जिन्दा और मुर्दा का फर्क था



ऐसे में जिन्दा को चाहिए था मुर्दे को फूँक दे
पता ही नहीं चला कौन मुर्दा
कहाँ श्मशान था!

मैं तो अरे! करके रह गया

अरे!
सबकुछ समझ से परे
कोई क्या करे!
क्या करे वह जो सुन रहा है अन्तर्तम की आवाज
सीधे सरल जीवन की चाह
आह!
ओछेपन पर सर्वत्र वाह! वाह.
हत्यारों पर आसमान से फूल झर रहे हैं
जो मर रहे हैं उनके पास
कोई नहीं है
माँ स्तम्भित है कब से रोयी नहीं है

घरों में दुःख अँट रहा है
अटूट बाजारों में सुख बिक रहा है
ईश्वर से बड़ा यह कौन दिख रहा है जो
हमारी दैनन्दिनी लिख रहा है
जो फिंकना था वह सहेजा गया है
जो रखना था वो फिंक रहा है

अरे!
मैं तो अरे करके रह गया!

हम बचेंगे अगर

एक बच्ची
अपनी गुदगुदी हथेली
देखती है
और धरती पर मारती है
लार और हँसी से सना
उसका चेहरा
अभी इतना मुलायम है
कि पूरी धरती
थूक के फुग्गे में उतारे है.

अभी सारे मकान
कागज की तरह हल्के
हवा में हिलते हैं.
आकाश अभी विरल है दूर
उसके बालों को
धीरे-धीरे हिलाती हवा
फूलों का तमाशा है
वे हँसते हुए
इशारे करते हैं :
दूर-दूरान्तरों से
उत्सुक काफिले
धूप में चमकते हुए आयेंगे.

सुन्दरता!
कितना बड़ा कारण है
हम बचेंगे अगर!

जन्म चाहिए

मैं सन्तूर नहीं बजाता

सन्तूर नहीं बजाता.
नहीं बजाता तो नहीं बजाता
पर क्या बात कि नहीं बजाता
है तो कितना बेतुका आघात
कि मैं सन्तूर नहीं बजाता.

कैसे इतना जीवन गुजर गया
मुझे खयाल तक नहीं आया
कि मैं सन्तूर नहीं बजाता!

और होते-होते हालत आज ये हुई
कि मैं इतनी बड़ी दुनिया में
सन्तूर नहीं बजाता!

कोई संगीतज्ञ नहीं हूँ मगर
जानना है मुझे आखिर
क्या था वह जो
मेरे और सन्तूर के बीच अड़ा रहा.

यह नहीं कि मैं बजाना चाहता हूँ
जानना चाहता भर हूँ आखिर वह
क्या था
मेरे और सन्तूर के बीच
कि मैं दूर-दूर तक
सन्तूर नहीं बजाता.

कवि मित्र से निवेदन

कविता हिकमत से नहीं आती
किस्मत से भी नहीं आती
खिदमत से तो आती ही नहीं है.

कविता अकल से नहीं आती
शकल से भी नहीं आती
नकल से तो आती ही नहीं है.

कविता कहने से नहीं आती
ढहने से भी नहीं आती
बहने से तो आती ही नहीं है.

कविता आने से नहीं आती
ना आने से भी नहीं आती
माने से तो आती ही नहीं है.

कविता नहले से नहीं आती
दहले से भी नहीं आती
पहले से तो आती ही नहीं है.

इस घर में

इस घर में घर से ज्यादा धुआँ
अँधेरे से ज्यादा अँधेरा
दीवार से बड़ी दरार.

इस घर में मलबा बहुत
जिसमें से साँस लेने की आवाज लगातार
आलों में लुप्त जिन्दगियों का भान
चीजों में थकान.

इस घर में सब बेघर
इस घर में भटके हुए मेले
मकड़ी के जालों में लिपटे हुए
इस घर में
झुलसे हुए रंगों के धब्बे
सपनों की गर्द पर बच्चों की उँगलियों के
निशान.

इस घर में नींद से बहुत लम्बी रात.

मैं तो नागरिक

मरने से डरता हूँ एक दिन
तो बड़ी हिंसा हो जाती है दूर-दूर.

पर मैं तो नागरिक
नींद के पाताल में चलता
बच-बच के घर की तरफ
गुंडों को नमस्कार करता.

आता है वह अकसर कहने को
मरने से डरता हूँ एक दिन
तो बड़ी हिंसा हो जाती है दूर-दूर.

वह दोस्त मेरा
कहता है डर अकेले का घर है
चलो बहुत लोगों में
सबकुछ हो जायेगा
आने को हैं अपने बच्चे इस दुनिया में
समतल मैदान करो खेलेंगे.

पर मैं तो नागरिक
दोस्त को नुक्कड़ तक छोड़ता
लौटता
गुंडों को नमस्कार करता.

बाहर जब दरवाजे पर आयेगा

हर एक के साहस का समय है
अकेला एक कायर सबको मार सकता है
पुरखे जो देकर गये जीवन
वह छीना जायेगा
जल्दी ही पुरखों के नाम पर पुरखों की हत्या
होगी
घरों में कातिल घुसेगा जिन्दगी ठीक-ठाक
करने
सोने और जागने खाने-पीने और रोने हँसने
बोलने न बोलने का मरने-जीने का
फैसला करने
घरों में कातिल घुसेगा
और उसके नाम के मान सम्मान की झाँकी
होगी राजनीति.

झूठ उसकी माला में गूँथेगा सचाई
भीड़ उसके कदमों में गिरेगी पागल
वह कातिल पहले दिन से पहचाना जायेगा
पर आखिरी दिन तक मारा नहीं जायेगा
वह रूप बदल सब में समा जायेगा
वह भीतर पहले से होगा मौजूद
बाहर जब दरवाजे पर आयेगा.

बचते-बचते थक गया

दिन रात लोग मारे जाते हैं
दिन रात बचता हूँ
बचते-बचते थक गया हूँ.

न मार सकता हूँ
न किसी लिए भी मर सकता हूँ
विकल्प नहीं हूँ
दौर का कचरा हूँ.

हत्या का विचार
होती हुई हत्या देखने की लालसा में छिपा
है

मरने का डर सुरक्षित है
चाल ढाल में उतर गया है.

यही मेरी अहिंसा है बापू!
आप कहेंगे
इससे अच्छा है कि मार दो

या मारे जाओ.

किसे मार दूँ
मारा किस से जाऊँ
आह! जीवन बचे रहने की कला है.

सुख

सूनी सड़क पर गये रात
जाता गनेसी ठिठुरता
पड़ा मौत का वो झपट्टा
सम्भाले कलेजा गिरा देखता
दूर ट्रक तेज जाता हुआ
धड़कता गनेसी रहा देर तक
धड़धड़ाता हुआ सामना मौत से
हो गया फिर भी मौका टला
आखिर को भगवान
तेरा भला!

चला फिर गनेसी चला
तेज चलता हुआ हिय में हँसता हुआ
घर में घुसता हुआ हँस पड़ा रो पड़ा
हाय! मैं बच गया आज वरना सड़क पर
सुबह लोग मुझ को मरा देखते!

सुन के घर डर गया
डर के हँसने लगा हिय में हँसता हुआ
घर में घुसता हुआ सुख गनेसी बना
बाल बच्चों ने राहत की साँसें भरीं

किन्तु
इस घर को हरदम
यही एक सुख भर मिला
मरते-मरते गनेसी बचा.

अकेली-सी उदासी

सड़क दरवाजा खिड़की और आसमान
धरती पर स्थिर साँय-साँय
कोने में छोटा-सा नीला फूल
हवा में हिलता हुआ स्थिर
चट्टान और थोड़ी-सी मिट्टी
ईंट और एक घड़ा
घोड़ों की विलुप्त टापों की आवाजें धूल
पसीना

कोई चलता हुआ रुका-सा
उसकी परछाईं धीरे-धीरे उसकी ओर
आती हुई
चाँदनी के धूमिल उजाले में
दुनिया कितनी निर्दोष!
टिमटिमाते तारों की भंगुरता में कैसी
अकेली-सी उदासी.

अकस्मात्

खुलकर हँसते खिड़की दरवाजे
तारे पूरे आसमान में झिलमिलाते
चाँद विस्मित प्रसन्न
धरती पर फैली-फैली रात
गलियों में घूमता लगातार
घरों में जाता हूँ आर-पार
घरों से निकलता हूँ दिखता हूँ
दिखता हूँ हर जगह
हाँ! मैं ही तरह-तरह अकस्मात्!

एक चित्र नदी का

नदी का रास्ता पूछना है
खपरैलों के ऊँचे-नीचे गाँव में
जहाँ गहराती गलियों के मुहाने पर झुके
प्राचीन घर
चबूतरों पर धुँधलाये लोग
जीवन में बहुत गहरे कहीं दूर से झाँकते
हुए
अन्धकार में डूबती धीरे-धीरे पृथ्वी के
झिरझिरे समय में
मेरा जाना देखती उनकी आँखों से
मिलाये बिना आँख
पूछना है नदी का रास्ता.

आसमान में चाँद की फाँक निष्प्राण.
अपने रंग के अँधेरे घेरे में दूर
मिटती हुई. अंधकार में डूबा जहान.
पूछना है नदी का रास्ता
जो है कहाँ!
कहाँ है घाट वृक्ष बहते जल में डोलता
आसमान
कहाँ है गोधूलि
कहाँ है लौटता घर को पथिक
कहाँ है तारों से घिरी
चमकती घूमती अनन्त पृथ्वी

कहाँ है कोई भी जो कहीं नहीं है.

कैसे इस गाँव में घूमते-घूमते
हर गली में इस तरह
एक साथ थका हुआ!
कि हर घर के आगे मेरा प्रतिबिम्ब
कि हर कुएँ पर ओक लगाये
निहारता ऊपर को प्यासा
कि हर पेड़ के नीचे लोगों का इन्तजार!

अपने आपसे डर
कि यहाँ गाँव नहीं यहाँ
गुजरे जमाने में दूर झाँईं सा
ओझल वहीं मैं वहीं मैं
अपने आपसे डर
कि डरकर लौटने में ज्यादा थकान
और भी डर.

मेरे कन्धे पर झूलते कैमरे में
सारे चित्र मगर
एक चित्र नदी का नहीं
जिसका रास्ता पूछने मैं
इतनी दूर गया!

यह सम्पूर्ण की खामोशी है

तुम्हें अचरज होगा
मैं अगर पेड़ों और फूलों के पीछे
अपना ही सूर्यास्त हूँ

न सिर्फ वह
जो कहा नहीं जा सकता
बल्कि वह सबकुछ जो कहा गया
कुछ भी नहीं है
एक घेरा है जिसके हर बिन्दु पर
रुकी हुई स्मृति अकेली है

जो तुम्हें कहीं से बुला रहे हैं
उन्हें नहीं पता वे कहाँ हैं

तुम अपनी खाली जगह में
अपना इन्तजार कर रहे हो

शब्द अपने भीतर निःशब्द
डूब रहा है
यह सम्पूर्ण की खामोशी है.

अपना अभिनय इतना अच्छा करता हूँ

घर से बाहर निकला
फिर अपने बाहर निकलकर

अपने पीछे-पीछे चलने लगा
पीछे मैं इतने फासले पर छूटता रहा
कि ओझल होने से पहले दिख जाता था
एक दिन
घर लौटने के रास्ते में ओझल हो गया
ओझल के पीछे कहाँ जाता
घर लौट आया
दीवारें धुँधली पड़कर झुक-सी गयीं
सीढ़ियाँ नीचे से ऊपर
ऊपर से नीचे होने लगीं

पर वह घर नहीं लौटा
घर से बाहर निकला
फिर मुझसे बाहर निकलकर चला गया

मैं आईने में देखता हूँ
वह आईने में से मुझे नहीं देखता
मैं बार-बार लौटता हूँ
पर वह नहीं लौटता

घर में किसी को शक नहीं है
मूक चीजें जानती हैं पर मुझसे पूछती नहीं हैं
कि वह
कहाँ गया और तुम कौन हो!
अपना अभिनय इतना अच्छा करता हूँ
कि हूबहू लगता हूँ
दरवाजे खुल जाते हैं—
नींद के नीम अँधेरे चलचित्र में जागा हुआ
सूने बिस्तर पर सोता हूँ.

आज का सपना

आज कोई खास दिन है
हर लड़की सुन्दर लगे
हर शख्स प्यारा

धूप रहे भी नहीं भी
हवा कभी चले बहुत कभी हिले धीमे
सड़कें उभरें
मकानों से अलग
खिड़कियाँ हँसी की तरह
बाहर को खुलें
छतों पर प्यार की पताकाएँ
कितने रंग आसमान में
फहरें
आज कोई खास दिन है
घरों के कोनों अँतरों का एकान्त
और अँधेरा
साँसों में धड़के
सीढ़ी कोई उतरे गहरे
सन्नाटे से टिका
कोई स्वर काँपे बेआवाज
बहुत कोमल बहुत मार्मिक याद का
आभास टीसे दूर

आज कोई खास दिन है
बहुत घास हरी जिस पर पेड़ हरे
फल कुतरते तोते
गिलहरियाँ उझकतीं यहाँ-वहाँ
पतंगों के बादल बादलों में तिरते
धरती रोके घूमना
मानो चूमना चाहे मुखड़ा किसी का

आज कोई खास दिन है
दूर से उसे देखता
बहुत देर तक जाऊँगा
मेरे शर्ट का रंग बदले
मेरे चलने का ढंग बदले.

दो अप्रैल को जन्मे सबकुछ के लिए प्रार्थना

जिस दिन को हम दो अप्रैल कहते हैं
वह तमाम दिनों में से इस कदर बिना चुने
दो अप्रैल है कि हर दिन
दो अप्रैल होने को स्वतन्त्र है और हम
इतना कम जानते हैं
रहस्यों भरे संसार को
कि अचरज नहीं अगर पूरा काल एक दिन है
जिसे तारीख दो अप्रैल कहते हैं
बाकी तीन सौ चौंसठ तारीखों की प्रार्थना
इसी प्रार्थना में
ऐसे समाहित है कि जैसे काल समूचा
एक पल में सन्निहित
हम फैलते हुए आयतन में घनत्व की चेतना
हम अनन्त की लघुता में शून्य
हम निःशब्द संसार में निस्सीम शब्दों की प्रार्थना हैं
हम अपने बारे में इतना कम
और इतना अधिक जानते हैं कि
प्रेम ही बचता है प्रार्थना की राख में
अकेली एक लहर पूरे समुद्र की जगह बचती है

जब हम भूल जाते हैं जीना
अनन्त अपनी मृत्यु में रहते हैं इतने धुँधले
कि हमारी झलक में बार-बार जन्म लेते हैं संसार!

सारे जन्मों में हमीं जन्म लेकर जन्मों की
प्रार्थना गाते हैं
हमीं जाते हैं
हमीं रह जाते हैं

आज दो अप्रैल है और मुझे लग रहा है
इसके अलावा आज कुछ नहीं है

आज के दिन जो कुछ भी जन्मा है
उसकी प्रार्थना ही आज का दिन है

धरती घूम रही है
फूलों से लदी
आसमान में बधावे बज रहे हैं.

देना

जिसने मेरा घर जलाया
उसे इतना बड़ा घर
देना कि बाहर निकलने को चले
पर निकल न पाये

जिसने मुझे मारा
उसे सब देना
मृत्यु न देना

जिसने मेरी रोटी छीनी
उसे रोटियों के समुद्र में फेंकना
और तूफान उठाना

जिनसे मैं नहीं मिला
उनसे मिलवाना
मुझे इतनी दूर छोड़ आना
कि बराबर संसार में आता रहूँ

अगली बार
इतना प्रेम देना
कि कह सकूँ : प्रेम करता हूँ
और वह मेरे सामने हो.

▣

◆ कविता ◆

दफ्तर

अनिरुद्ध सागर (नवीर सागर के बड़े बेटे)

(1)

एक और दिन की उपस्थिति
लगाता मैं
सरकारी दफ्तर में अपनी जिन्दगी का
एक दिन और बिताने के लिए
अपनी जरूरतों को पूरा करता
मैं
मेरे अन्दर बैठा मेरा पिता
फिर से चिढ़ता इस उपस्थिति से
जिससे चिढ़ता रहा वह
अपनी पूरी जिंन्दगी.



(2)

जो नहीं है
के लिए कविता
प्रश्न चिन्ह है?
प्रश्न चिन्ह के बावजूद
लिखी है
यह कविता
मैंने जो नहीं है
के लिए!

(3)

पापा के
कुछ पुराने मित्र
जिनसे आज तक मैं मिला नहीं
और
जिन्होंने
मुझे इस उम्र में
अभी तक देखा नहीं
वे मुझे देखकर कहते हैं
क्या तुम—नवीन के बेटे हो

जिस उम्र में
मैं अभी हूँ
कहीं न कहीं
उस उम्र में हूँ
जिस उम्र में
कभी पापा हुआ करते थे
मैं
अगर कहीं न कहीं
उनकी शक्ल लिए हुये हूँ
तो मैं अपने आपको आइने में देख
अपने अन्दर
अपने पापा को ढूँढता हूँ
और
कोशिश करता हूँ— जीने की
उस उम्र को जीने की
जिस उम्र में
वे
कहीं न कहीं
लगभग
मेरी शक्ल के आस-पास
दिखा करते थे
पर हर बार असफल होता हूँ
उस उम्र को जीने में
जिस उम्र में
"मैं" भी
और
"वे" कभी हुआ करते थे.

(4)

आज खाली है वह कुर्सी
जिस पर बैठता था कभी एक आदमी
जिसकी मेज रहती थी अस्त व्यस्त
कुछ कागजात व कुछ फाइलों से
आज खाली है वह मेज
जिसके एक कोने में जमे हैं
कुछ फालतू कागजात
आज उसकी मेज पर जमी धूल
कोई नहीं पोंछता
आज उस कुर्सी पर बैठती है धूल
जिस पर बैठता था वह आदमी
जो आज नहीं है.
आज उसी के दफ्तर में
उसी की कुर्सी के सामने
बैठता है उसका अपना बेटा! ▣

● एम-30, निराला नगर, भदभदा रोड,
भोपाल-462003

नवीन सागर

नरेन्द्र जैन

एक

शाम हो
जिक्रे यार हो
शराब हो
नवीन सागर हो

हवा हो
पानी हो
धुंधलका हो
स्मृतियाँ हों
नवीन सागर हो

आख्यान हो
कथावस्तु हो
दृश्य हो
मटमैले रंग हों
नवीन सागर हो

विदा लेते ही नवीन सागर के
बहुत कुछ विदा हुआ जैसे
अब मैं हूँ
शराब है
परछाई है नवीन सागर की
जो
हूबहू उसका रूपान्तरण हुई जाती

दो

एक कारण था
भोपाल की जानिब रुख करने का
वह भी न रहा
नवीन सागर के बगैर भोपाल
दर्ज नहीं स्मृति में
दरअसल हुआ नहीं करता वास्ता ठौर से
हुआ करता जैसे वह किसी शख्स से
नवीन सागर है तो भोपाल है
भोपाल हुआ किया क्योंकि रहे आये नवीन सागर

अब मैं धीरे-धीरे
भोपाल की जानिब बढ़ता
कभी-कभी भोपाल नहीं पहुँचता ▣

● विदिशा म.प्र.

नवीन सागर के लिए

विनोद कुमार श्रीवास्तव

क्रूरता

चारों तरफ किताबों के अम्बार
दिमाग को पूरी तरह
गिरफ्त में लेते हुए

आतंक के बीच तुम्हारी
गुनगुनाहट एक कविता की
उस तुम्हारे सबसे प्रिय कवि के नाम के साथ

मैं आतंकित और सहमत भी
सिर्फ यह कहने का साहस जुटाता
कि कवि तो वह मेरा भी प्रिय है लेकिन
सभी कविताओं के लिए नहीं
बस कुछ अच्छी कविताओं के लिए

तुम्हारा इतना लम्बा मौन
कि सिर्फ घर में ही पनाह
तुम्हारा धीरे से कहना कि
'कहते तो आप ठीक हैं विनोद जी'
और फिर मौन
गहराते नशे और लम्बे अन्तराल के बाद
तुम्हारा बताना कि
'अतिशय सच भी क्रूरता होती है विनोद जी'

मैं सिर्फ सिर हिला पाया
पर तुम्हारे बेहोश होने से पहले
कह भी पाया
'हाँ अतिशय सच क्रूरता होती है नवीन
जैसे अतिशय विनम्रता भी'

हिस्सा

हम दोनों का वह साझा एकान्त था
जब तुमने हिस्से की बात कुछ यूँ ही उठाई थी 'नवीन'
शायद इस भरोसे से कि
हिस्सा एक ताकतवर शब्द है
जहाँ होता है ताकत से भरता है

लेकिन हिस्सा एक ऐसा शब्द है
जो ताकत के साथ ही दिखता है ताकतवर 'नवीन'
अपने आप में ताकतवर होता हुआ भी
बिल्कुल निर्जीव है ताकत के बिना

एक अशान्त दलील की तरह
बहुत सारे मुहावरे पैदा करता है हिस्सा
अपने हिस्से की हवा
अपने हिस्से की धूप की तरह

फिर माँगने को उकसाता है हिस्सा
मिलता नहीं कभी हिस्से के हिसाब से
हिस्सा एक कुटिल शब्द है 'नवीन'

कभी कभी थोड़ा बहुत
देखा भी गया है मिलता
लेकिन भीख की तरह

हिस्सा एक भिखमंगा शब्द है 'नवीन'
▣

● 429/पी-5 जलवायु विहार, सेक्टर-21,
नोएडा (उ.प्र.)

◆ कविता ◆

नवीन सागर

●

रामकुमार तिवारी

आँखों में रंग
जैसे दो कबूतर काले सफेद
कर रहे हों एक पल की गुफ्तगू

शाम
किसी जीवन का दुख
आ-जाता इतने पास कि
पूरी शाम उदास
डूबते रंगों से खाली
तार-तार आकाश

रह जाती शेष सिर्फ लकीर
चिड़िया थी उड़ान से छूट गयी जो
उसे ढील देते-देते हो जाते निढाल

रात किसी प्रहर
अन्दर कहीं कोई चिड़िया अनजान
चोंच में तिनका लिये उड़ती
खिलती चिथड़ा-चिथड़ा आकाश
कमरे में उसके लिए बजती
नुसरत फतह अली की आवाज
आकाश में खुलती खिड़कियाँ
दिशाओं पर हार
मनुष्य के पक्ष और स्वयं के विपक्ष में
इतने दृढ़ कि
घर को पेड़ बनाकर रहते
उस विश्वास के साथ
जो उजाड़ में बसाता है दुनिया लगातार
तैरना सीखा नहीं
किसी भी झील में उतर जाते
हाथ पैर मारते नहीं
चुपचाप डूब जाते

जब-तब मछुआरों के जाल से निकलते
कसम कभी-कभी नहीं खाते!
अपने ही अन्दर देखते, जब वह
ऊष्मा नहीं पाते
जो लोगों को चुपचाप प्यार करती है
दुखी हो जाते
विक्षिप्त और हास्यास्पद हो गयीं जिन्दगियों
के लिए प्रार्थनाओं से भर जाते
धरती की टूटे सपनों की याद आते ही
आँखों से उठते अदृश्य बादल
किसी प्यास की ओर उड़ जाते

जहाँ होना चाहिए वहाँ होते
हस्तक्षेप करते
लोग बाग लौट जाते
जगह-जगह अकेले रह जाते

होते-होते हो जाते इतने अकेले कि
अन्दर पूरी दुनिया बसाते
फिर भी अनगिन कोने सूने रह जाते
न जाने कितने ग्रहों पर जाते
और और जीवन पुकारते

अन्त में शब्दों के पास आते
रातों भटकते दरवाजा नहीं पाते
अपने ही किसी अपराध बोध में डूब जाते
'मोर' कहानी से हुल्ले काछी आते
उन्हें बचाते
'गनेसी' की तरह घर लौटते
जगह-जगह देखते 'अँधेरे प्रहसन'
बे आवाज निचुड़ जाते

सदियों चौथी पर पड़े रहते
मौसम खिड़कियों पर बैठे-बैठे चले जाते
पुतलियों में उतर आता आकाश
पलकों से पुतलियाँ तक फैले
शून्य के शून्य में निरावेग पड़ी रहती उड़ाने

उन्हें इस अवस्था में देख
सहम जाता घर
उदास हो जाते पेड़

चिड़िया अपने घौंसलों को छोड़
बीच-बीच में देख जाती

एक दिन रामचरन आते
साह आपकी तबीयत के बारे में सुना
जल्दी अच्छे हो जाइये
ऑफिस में अच्छा नहीं लगता

रामचरन की आँखों में उतरा हल्का पानी
पूरे जीवन में हिलुर जाता
उठती लहरें चली जातीं
न जाने कितनी उदासियों के पार

एकाएक!
चौकी पर अचम्भे की तरह बैठते
कहते बीड़ी पिलाओ.

रामचरन खुशी-खुशी बीड़ी सुलगाता
अस्तपाल में डॉक्टर देख-देख मुस्कुराते

पियी जा रही बीड़ी उनकी अन्तिम बीड़ी
होती
इसके बाद कभी नहीं पियेंगे
इस बात को सभी पहली बार सुनते.

बातें करते-करते एकदम से
दिशाओं के साथ पलटते,
कहते चलो कहीं चलते हैं
हाथ पैर धोते
रंगों में ढूँढते अपनी सबसे पंसद थी
उमंग से भरे जब बाहर निकलते
तो ऐसे लगते जैसे
चित्र में बने घर में कोई एकाएक निकल
पड़ा हो
घट गया हो जादू
अपनी कला पर खुशी से कोई
अजन्मा चित्रकार रो पड़ा हो.

ऊपर बादल
बच्चों के लिए चित्र बनाते
पेड़ साथ-साथ गुनगुनाते
फुटपाथ पर भुने हुए भुट्टों की महक
आगे-आगे चलती
खेलते बच्चों से भरे मैदानों में से गुजरते
अपनी मस्ती में कोई बच्चा
छोड़ देता धागा गुब्बारे का

रंगों से भर जाता आकाश
जिसमें बचपन की उड़ाई पतंग ढूँढते
जगह-जगह जाते
जगह-जगह से आते
हँसते-हँसाते
जीवन की कथाएँ सुनाते
शब्दों को आकाश बनाते
आकाश को शब्दों में लाते
साँस-साँस हो जाते
कहीं कोई रच रहा होता
उसी में जीवन पाते

देर रात गये घर लौटते
सच को अकेला पाते
न जाने कितने झूठों को सच बनाते
बच्चा हो जाते
दोस्तों की पी शराब की बू
उनके मुँह से आती.

इस अचम्भित हो
फिर तरह-तरह के अचम्भों के
अनगिन किस्से सुनाते

न जाने कहाँ-कहाँ से
भूत प्रेत आ जाते
उनसे लीलाएँ करवाते
सुनने वालों के रोंगटे खड़े हो जाते
लोग रात-रात भर पेशाब नहीं जाते

सुबह!
असह्य से असह्य रोग के निदान की
दिनचर्या बताते, नुस्खे लिखवाते
थोड़ी देर बाद स्वयं सो जाते
जीवन में जो है
वह होने का अतिरेक है

बच्चों से बातें करते-करते
जब पिता की याद आ जाती
उन्हें पिता की कहानी सुनाते

पिता अद्भुत कलाकार थे
अपने तरह के विचित्र.
सुबह रंग, कूची लेकर निकल जाते
जंगल में उजाड़ हो रहे किसी मन्दिर में
दिन भर चित्र बनाते

शाम जब घर लौटते तो अपने को
घर, मुहल्ले में नाकारा पाते
यह देख-सुन दुखी हो जाते
फिर क्या? अपने हाथों से बनाई बाँसुरी को



रात-रात भर बजाते

उन्हें दूसरे तो ठीक
मैं भी नहीं समझ पाया
न मुझे बाँसुरी बनानी आती
और न ही बजाना.

जब उन्हें पिता की बहुत याद आती
बाजार चले जाते पास में जितने पैसे होते
उनसे रंग, कागज और कूँची ले आते
बेटे को पास बैठाकर समझाते
'धरती पर चित्रकार बहुत कम हैं'
इतना कहते-कहते चुप हो जाते
जब भी कोई बच्चा
बीच का रास्ता अपनाता
तब घोर अनिश्चय से भर जाते
क्या होगा... क्या होगा?
कहीं दूर छिटक जाते

बच्चों की इच्छाओं में
अभावों से घिर जाते
'पैसा-पैसा चिल्लाते'
पैसों को यहाँ-वहाँ छोड़
कविता लेकर घर आ जाते

सभी को पास बैठाकर
डूब-डूबकर सुनाते

परीक्षा के दिनों में जब
बेटा कमरा बन्द कर पढ़ता
पढ़ते-पढ़ते रुकता!
एकाएक बनाता कोई चित्र
बाहर से जब वे आते
तब उन्हें दिखाता
सहसा! विश्वास नहीं होता

हाथों में चित्र लिए
कमरे में जगह-जगह रखते
हर कोण, हर दूरी से देखते
होते इतने खुश कि बह बहकर
हर सूने में पहुँचते
बहुत दिनों बाद गहरी नींद सोते
सपने में छूटा हुआ चरित्र लिये चेखव आते
अजब भाव लिये शमशेर

एकाएक टूटती नींद
सुनते कहीं कोई चीख
हड़बड़ाकर उठते

अँधेरे में देखते
ऊपर आकाश में तारा
जलता हुआ सिरा बीड़ी का
उसी के आस-पास
मुक्तिबोध का चेहरा ढूँढते
कहते दाऊ!
राजनीति इतनी हो गयी कि
सबकुछ मिल गया

किसकी क्या राजनीति है?
यह तो पता नहीं चलता
हाँ! जीवन जो जिया
वह यह है!

(नवीन सागर के रचना संसार से—
हुल्ले काछी—'मोर' कहानी का मुख्य चरित्र
'अँधेरा प्रहसन'—कहानी का शीर्षक
पैसा-पैसा—'नींद से लम्बी रात में' संकलित कविता
गनेसी—'नींद से लम्बी रात' में संकलित कविता
'सुख' का पात्र) ▣

● नेहरू नगर, अमेरी रोड, विद्युत कार्यालय के सामने, बिलासपुर, छत्तीसगढ़

◆ समीक्षा-आलेख ◆

गद्य की उड़ान

मुकेश वर्मा

यह निश्चित ही खेदजनक है कि नवीन सागर की काव्य प्रतिभा के अनुरूप ख्याति और प्रतिष्ठा उनके जीवन काल में उन्हें नहीं मिली लेकिन अन्ततः उनकी अपूर्व रचनात्मकता का संज्ञान महत्वपूर्ण रूप से लिया गया तथा उनकी गहरी अनुभूतियों और अनुभवों की प्रामाणिकता सिद्ध हुई. उनकी कविताओं की वृहत्तर समीक्षा ने उनके कवि की महत्ता व्यापक रूप से स्थापित की. उन्हें ठीक-ठीक पहचाना जा सका क्योंकि वे अपनी कविताओं के भीतर वही थे जो अपने दैनिक जीवन में बाहर दिखते थे बल्कि उनका कवि आत्मरूप बनकर श्रेष्ठ काव्यात्मकता में स्थिर हुआ और एक स्वायत्त काव्य संसार की रचना हो सकी जिसने देश, काल, अन्तरात्मा की प्रत्येक सीमा का बेहिचक अतिक्रमण किया और हिन्दी साहित्य में एक अनुपम प्रतिमान निर्धारित किया.

लेकिन उनके कथाकार के बारे में कम ही चर्चा हुई. यह दूसरा खेद रहा जो अभी तक मिटाया नहीं जा सका. जैसा कि पुराने समय से ही माना गया है कि गद्य कवियों की कसौटी है और निराला ने भी कहा था कि 'मेरी कविता शब्दों से नहीं वाक्यों से लिखी जाती है' यह सूत्र ही साहित्य में गद्य की भूमिका स्पष्ट करने के लिए स्वतः प्रमाण है. इसी सन्दर्भ में यह कथन महत्वपूर्ण है कि कविता की उड़ान भले ही ऊँची हो लेकिन दूर तक की उड़ान गद्य ही भर सकता है इसलिए किसी कवि के रचना संसार को समझने के लिए उसका गद्य न केवल पढ़ा जाना बल्कि गुना जाना एक वांछित अपेक्षा और आवश्यकता है.

नवीन ने अनेकों कहानियाँ लिखीं लेकिन 'दुर्भाग्य से एक ही संग्रह 'उसका स्कूल' सामने आ सका. इन कहानियों में बुखार से तपते आदमी की बेचैनी में समय की जटिलताओं, समाज की विसंगतियों और मनुष्य मन के भीतर चल रहे आघातों-प्रतिघातों और उनकी विडम्बनाओं से जूझते कथाकार की छटपटाहट का बयान उसी की आवाज में सुनना, उसी की आँखों से देखना और उन्हीं आँसुओं में बहना एक करुणार्द्र अनुभव है जो लेखक के आत्मिक और रचनात्मक पलों से पाठक को सीधे जोड़ता है और फिर एक स्तब्ध किन्तु विलक्षण सन्नाटा ठिठककर रह जाता है जिसमें लेखक के आत्म रूप में पाठक और पाठक के केन्द्र रूप में लेखक, इस तरह दो मित्र एक होकर दुःख की नदी को डूबकर पार करते हैं. लेखक की यह उदासी पाठक को घेर लेती है... 'पहले खूब जाता था. जाने के लिए एक जगह नहीं थी. पूरी दुनिया खुली थी. और उसमें जगहें थीं कि कहाँ-कहाँ जाऊँ. फिर जब गया तो बार-बार लौटा. इतना उदास कि जाने की इच्छा हर बार थोड़ा-थोड़ा मरी... दुनिया जितनी बड़ी थी, उतनी ही छोटी हुई. अब कहीं जाना नहीं है. किसी से बात नहीं करना है. कोई बात नहीं बची. बोलने का मन नहीं रहा. अकेला चुपचाप होता गया. मुझे बुलाओ, मुझे बुलाओ कहते-कहते सुन्न हुआ... मैं कहना चाहता हूँ दोस्त, मेरी आवाज कहाँ है... मैं कहाँ गया कि लौटा तो कहीं नहीं. मुझे शामिल करो. मुझे शामिल करो...' (लौटा तो कहीं नहीं.)

यह बेचैन कर देने वाली उदासी नवीन की कहानियों में लगातार गाढ़ी होती चलती है और फिर 'मोर' जैसी श्रेष्ठ कहानी वे लिखते हैं जो अपनी अद्भुत फन्तासी और शिल्प के अनोखे प्रयोग के आधार पर हिन्दी साहित्य की कथा यात्रा में एक ऐसा ऐतिहासिक मुकाम है जहाँ से आज के समय की कहानी अपना पहला मोड़ लेती है और बाद में जिसे शशांक जैसे निपुण और अन्य रचनाकार महत्वपूर्ण गति देकर कहानी की दशा और दिशा भविष्य के लिए निश्चयात्मक रूप से तय करते हैं. नवीन का दूसरा कथा-संग्रह निकला होता तो 'मोर' का कलात्मक स्थापत्य समीक्षकों को कहानी आलोचना के लिए नये मुहावरे की खोज के लिए विवश करता. इसी तरह नवीन की एक अन्य कहानी अँधेरा प्रहसन में... बहुत थोड़े समय की चर्चा का विषय बनकर रह गयी और कथा-आलोचक अपनी डायरी में उसका उल्लेख दर्ज करना भूल गये. शिल्प और विचार दोनों की दृष्टि से समृद्ध इन कहानियों का उपेक्षित रह जाना तीसरा खेद है.

मित्रों के बीच बहस में उठे इस आक्षेप का परीक्षण किया जाना अन्तिम रूप से अभी भी शेष है कि उनकी कहानियों की विषय-वस्तु सीमित रही है.जो उन्हें थोड़ा भी जानते हैं, वे भी जानते हैं कि उनकी जिन्दगी देश, काल और मन के बहुमुखी अनुभवों, गतिविधियों और दृष्टियों के विविध रंगों और रूपों में सराबोर रही है. लोग उनकी किस्सागोई के घने सामर्थ्य को शिद्दत से महसूस करते थे. वे घटनाओं के क्रम, वर्णन और विवरणों को इतनी रसमय, सजीवता तथा विभोर तल्लीनता से सुनाते थे कि मन उसी में रमा रह जाता था और फिर वहीं अकेला खड़ा खुद से उलझता रहता था जहाँ नवीन उसे अन्त में छोड़ देते. इसलिए उनके गद्य से लोगों की उम्मीदें कुछ और थीं लेकिन भीतर से कुछ और भी थे. अकेले में, मेले में, दुःख के काँटों पर पैर डालते, संशय और सम्भ्रम में चलते, भोले भूले भले-भले से, खुद अपने

आप से छले से, सुख की नाव में दुःख के छेद ढूँढ़ते, गुप्त मनों के विकट भेद खोजते, द्वार पर खड़े अवसर को जमकर लात मारते, घोर कलिकाल में आराम से हारते, विपत्तियों को पुकारते, गैर का घर सँवारते, दर्द को भरते और आनन्द में झरते एक अति भावुक मन लिये जन-जन के मन में अपना जीवन ढूँढ़ते हैरान, परेशान और हलकान... उनकी खुद की कथा दुःखान्त में प्रहसन के मध्य बेचैनी में एक सुकून की तलाश की असमाप्त महागाथा थी. ऐसे व्यक्ति की कहानियों में विषयों की सीमितता पर ही चर्चा करना सम्यक आलोचना के हित में नहीं होगा, बल्कि उनकी रचनाओं में निहित पीड़ा की गहराई और आधुनिक मनुष्य की न्याय, प्रेम और सामूहिकता की तलाश में हताश भटकन, छटपटाहट और वेदना पर ध्यान दिया जाना वास्तविक साहित्यिक समीक्षा का केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए था जो इन दोनों कहानियों में अन्तर्निहित है.

नवीन ने बाल मनोविज्ञान के मार्मिक पहलुओं पर दो मर्मस्पर्शी कहानियाँ लिखीं. 'लड़की' और 'उसका स्कूल'. सामाजिक अन्याय और आर्थिक गैर-बराबरी की विषमताओं से उपजे भोंड़े वर्तमान यथार्थ के प्रतिरोध में बालमन के विद्रोह की करुणा लेखक की सम्वेदनशीलता को प्रहारात्मक असर के साथ उजागर करता है. 'लड़की' कहानी में मध्यवर्गीय परिवार के बरक्स सम्पन्न घरों की आक्रामक अपसंस्कृति और नियोजित रूप से सिखायी गयी असभ्यता को तीक्ष्णता से रेखांकित करते हुए नवीन समाज में व्याप्त इन दैनिक और आम तौर पर सहजता से स्वीकार कर लिये जाने वाले हैवानियत भरे गँदले व्यवहारों के खिलाफ नन्हीं सन्ध्या के विरोध को एक करुणान्त में ले तो जाते हैं किन्तु उसके विद्रोह की मानसिकता को नये समय के मनुष्य की संघर्ष-धर्मिता के पक्ष में लक्ष्य कर कहानी को मजबूती से खड़ा करते हैं. इस मायने यह कहानी केवल दुःख की साक्ष्य भर नहीं है बल्कि समाज के बदलते मिजाज और जनधर्मी चेतना के फैलाव के बाकायदा भरपूर संकेत देती है. 'उसका स्कूल' में लगभग वही लड़की कुछ कमी-वेशी के साथ लगभग उसी देश, काल, परिस्थितियों में मिलती है लेकिन इस बार उसके संघर्ष का माद्दा अपेक्षाकृत कम और अलंघ्य विवशताओं के सामने अपनी असमर्थता का अहसास ज्यादा है क्योंकि वह समाज के निचले पायदान पर ठहरे वर्ग से आयी है. यहाँ अन्याय भी एक नये रूप में है जिसके स्वार्थी आभिजात्य चेहरे पर सामाजिक सम्बन्धों के नकली और कुटिल प्रेम का मुखौटा है. इसलिए यहाँ स्वाभाविक रूप से प्रतिरोध का स्वर भी कमजोर है और कंठ में अवरुद्ध करुणा की त्रासदी अधिक है. कारण यही है कि 'उसका स्कूल' से 'लड़की' को ज्यादा सराहा गया. और एक सशक्त कारण यह भी कि 'लड़की' कथा का नैरेटर एक किंतव्यविमूढ़ साक्षी की तरह कहानी को स्वतः अपनी कहानी कहने देता है जबकि 'उसका स्कूल' में कथाकार कहानी में स्थित होकर सारे सूत्र अपने हाथ में लिये कहानी कहता है. लेकिन नवीन का लेखकीय कौशल पाठकों तक उस अनन्त वेदना को पहुँचाने में बहुविध समर्थ होता है जो समझ में न आने वाली सामाजिक विषमताओं से परेशान और दुःखी बालमन को अन्तर्मन तक क्षुब्ध करता है. हिन्दी में भावनात्मक स्तर पर ऐसी परिपक्व कहानियाँ बहुत ही कम हैं.

नवीन की कहानियों का दूसरा वर्ग वह है जो सामाजिक सम्बन्धों यथा परिवार का मुखिया, पिता, माँ और भाई तथा ऐसे ही अनाम और आनुषांगिक रिश्तों के बिखराव और इस बिखराव के फलस्वरूप कोमल मनोभावों के टूटने की व्यथा कहता है. 'क्षेपक' कहानी का नायक मध्यवर्गीय परिवार का नाम मात्र का मुखिया है क्योंकि सामाजिक दबावों के चलते किन्हीं भी पारिवारिक स्थितियों के संचालन में उसकी स्थिति मात्र निरीह मूक दर्शक से अधिक नहीं है. उसकी सामाजिक हैसियत भी अपने सम्पन्न करीबी रिश्तेदार के समकक्ष हास्यास्पद है. उसकी पत्नी के अनुसार उसकी 'पे' सम्पन्न रिश्तेदार के बराबर ही है लेकिन एक मास्टर और डिप्टी कलेक्टर की सामाजिक और आर्थिक स्थिति और स्तर में जो विस्मयकारी अन्तर है, उसके होते हुए वह धीरे-धीरे आत्महीनता के गर्त में धँसते हुए अपने व्यक्तित्व की हत्या का गवाह बनता है. इस तकलीफ के तले कुचले हृदय को जब दोबारा ऐसे नृशंस अवसर का सामना करना पड़ता है तो वह घर भर के लिए स्पन्ज की सात जोड़े चप्पलें ले आता है जिनके अभाव ने पूर्व घटना में मास्टर को पराये आभिजात्य घर में शर्म और दीनता से जमीन में गाड़ दिया था. नवीन के भीतर दबे-कुचले मध्य वर्ग की दैन्यता और निरीहता का मार्मिक वर्णन कर धधकते क्रोध में जलते मन और अन्तर में क्षुब्ध बहती आकुल करुणा के घाट पर पाठक को पछीट देने का अद्भुत रचनात्मक कौशल है जिसने खुद उनके व्यक्तित्व को भी गढ़ा जो एक तरफ नकली लोगों के प्रति कठोर और लगभग उद्दंड तथा दूसरी तरफ दीन हीन और कमजोर वर्ग के प्रति अतिसम्वेदनशील और भावुक रहा. यही कारण है कि उनकी रचना दोनों सिरों पर सुलगती है. इन्हीं मध्यवर्गीय चित्रों के क्षुब्धमना अक्स 'अन्तहीन', 'बोझ' और माँ' कहानियों में उसी दुःख और करुणा के प्रवाह के साथ मिलते हैं जो नवीन सागर के मन का स्थायी भाव था. अपनी आर्थिक विवशताओं, बेचारगी और अक्षमताओं का शिकार पिता कदम कदम पर अपमान और जलालत की आग में झुलसकर उसी सामाजिक अन्याय के हथियार में अपने आप को रूपान्तरित कर लेता है जिसके अत्याचार का शिकार अन्ततः घर में औरत ही होती है. चूल्हे की बुझती बुझती आग की तरह धुआँ-धुआँ स्त्री अपने पति, बच्चों और परिवार के सुख की कामना में जीवन के कण-कण को अपने तार-तार आँचल में संजो लेने की लगातार निष्फल कोशिशें करती रहती है. भारतीय परिवारों के इस प्रतिनिधि चरित्र को हजारों लाखों बार रचनाओं में प्रस्तुत किया गया लेकिन नवीन की प्रस्तुति विशिष्ट और निष्कम्प इसलिए बन पड़ी क्योंकि नवीन के पास सशक्त अन्तर्वस्तु है, उसके प्रमाण पेश करने और उसे न्याय देने की क्षमता है जो भाव, बुद्धि और कल्पना के रसायन में और यथार्थ की धीमी आँच में पक चुकी है.

उपरोक्त तीनों कहानियों में देश वही, काल वही, पात्र वही हैं, उनकी विडम्बनायें और विद्रूपतायें वही हैं, परिस्थितियाँ वही हैं सिर्फ स्थितियों के सन्दर्भ बदले हैं. यह

सहज ही कहा जा सकता है कि इन सबको समेटकर एक उम्दा उपन्यास लिखा जा सकता था लेकिन नवीन ने 'फार्म' के तौर पर कहानी को चुना. शायद इसलिए कि व्याप्त स्थितियों की एकरसता के कारण उपन्यास में दुख का यह राग 'रिपीटीशन' बनकर भाव नष्ट न हो जाये. या और भी कोई वजह हो सकती है जिसकी फिलवक्त मुझे जानकारी नहीं है बहरहाल, इन कहानियों के बयान लेखक की उस मानसिक संरचना, आघातों और प्रत्याघातों का भरपूर संकेत देते हैं जिसकी बुनियाद पर वे सम्पूर्ण समाज में व्याप्त अराजक स्थितियों, दमनकारी मनोवृत्तियों, पूँजीवादी प्रवृत्तियों और शोषकों के विनाशकारी मनोरथों की ओर अभियोजन की उँगली उठाते हैं. हम उनकी कुछ अगली कहानियों में उनका यह तेवर खास तौर पर और साफ तौर पर देख पाते हैं.

नवीन सागर के कथा-दृश्य में जिन कहानियों की चर्चा की जाना मैं निहायत जरूरी समझाता हूँ, वे हैं 'लौटा तो कहीं नहीं', 'किसी की शक्ल', 'मोर', 'अपनी जमीन', 'अँधेरा प्रहसन में... और 'पत्थर'. यह सभी उनकी श्रेष्ठ रचनायें हैं, इस मायने में भी कि समाज की भीतरी जल-तहों में जड़ीभूत सड़ाँध के परिदृश्य के सत्य के साक्षात्कार उपरान्त उनके मन का धधकता विद्रोह अपने पूरे जोम में उठता है और सामाजिक अन्याय, आर्थिक शोषण और कमजोर के दमन के खिलाफ आवाज उठाता है, प्रश्न खड़े करता है, चुनौतियाँ देता है और अन्धकार में मनुष्य की अस्मिता के प्रकाश के आभास को जगह भी देता है. इन कहानियों में नवीन एक सहज मानवीय जीवन जीने की ललक लेकिन उसकी कामना की असफलता और विवशता तथा प्रवंचना के भय से प्रतिकृत होकर गहरी उन्मादित बेचैनी अनुभव करते हैं और आम आदमी के पक्ष में शब्द को एक जुझारू अस्त्र की तरह प्रयोग में लाते हैं. वे उसी मध्यवर्गीय समाज की विषम जमीन पर और उसके पात्रों की त्रासदी के प्रतिनिधित्व रूप में अपने कथानायक को राजनीति, सामाजिक दशा, अर्थव्यवस्था, दर्शन, कला, विज्ञान और संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली प्रवृत्तियों के मध्य उपस्थित कर उसकी हैसियत और उसकी उम्मीद भी दर्ज कराते हैं. विचार और सम्वेदना के क्षेत्र में उत्पन्न हुए भस्मासुरी संकट और बाजारवाद तथा उपभोक्ता समाज के भीतर पनपती नव साम्राज्यवादी और फासीवादी स्थितियों के विस्फोटक समय में उनका निरस्त्र कथानक पूँजीवादी वर्चस्व के खिलाफ, न सही, न सही गगनभेदी वज्रध्वनि, लेकिन इकहरी और दमदार आवाज उठाता है. वे अपने समय-बोध को रचनाबोध में घुलाते मिलाते हुए एक नयी शैली और शिल्प के तिलिस्मी दरवाजे पर पहुँचते है जहाँ किस्सागोई की रंज़क जमीन पर अद्भुत फन्तासी की राह खुलती है जो आधुनिक चेतना की ऊबड़-खाब्बड़ भाषा में विचारों की असम्बद्धता, झल्लाहट, बेचैनी, आत्मदया और विद्रोह की विस्मयकारी यात्रा प्रारम्भ करती है. और फिर यहीं से मिलता है उनकी रचनाओं की ऐकान्तिक जादूगरी का एक अनोखा आस्वाद.

इन कहानियों में अपने एकालाप, स्वयं से साक्षात्कार और सम्वाद तथा जनाकुल बीहड़ों में दर दर भटकते आहत अजनबी नवीन मुक्ति की राह ढूँढते है. यह सिर्फ उनकी अपनी मुक्ति की याचना नहीं है वरन् एक सम्पूर्ण शोषित दलित दमित समाज की पीड़ा और यातना से मुक्ति की कामना है. 'हर हाल में इस सन्नाटे को तोड़ना है कि घर में भरा गट्ठरों अँधेरा शाम को रोज खदेड़ा जाये तो एक उजला दिन उसमें से निकल के दुनिया भर के दिनों में फिर' (लौटा तो कहीं नहीं).

'मैंने मुँह खोला. जीभ है और फिर अँधेरा है देर तक गौर से अपना चेहरा देखा तो यह किसका चेहरा है और कौन देख रहा है. इस हालत में पहुँचते ही मैं आईने के आगे से हट गया. वह चेहरा वहीं रहा आने में. मैंने झाँक के उसे फिर देखा तो वह मुझे दीखा और मेरे देखते-देखते आईने में से हटा. और मैं खाली आईने को देखता खड़ा हूँ. कुसुम (पत्नी) मेरे पास से गुजरी. आईने में से नहीं गुजरी...' (वही)

'वह दूसरे खम्भे के नीचे पहुँचा तो इतना धीमे चला कि अपने आप रुक गया. वह गर्दन झुकाये खड़ा है. थोड़ी देर खड़ा रहा. फिर उसने साइकिल गोल घुमाते हुए मेरी और पीठ कर ली. वह अभी-अभी आ रहा था और अभी-अभी जा रहा है. इस सूनी सड़क पर उसका यह दृश्य कुछ इस तरह चल रहा है कि वह आ रहा है कि जा रहा है. उसकी पीठ कभी उजाले में दिखती है. कभी अँधेरे में खो जाती है. उसका चेहरा पीठ की तरफ नहीं है ...' (वही.)

'... कोई नहीं भाग पायेगा. धरती इतनी छोटी है. समुद्र इतना उथला है. पहाड़ इतने बौने, और आकाश! वह हमें धरती पर फिर-फिर पटकेगा. ऐसा नहीं है कि रास्ता कोई है ही नहीं. जैसे! जो कोई रास्ता तो हमें अभी तक सूझा नहीं. जैसे! वह रास्ता नहीं जिस पर हम इतनी दूर निकल आये बल्कि वह रास्ता जिस पर हम चले ही नहीं. जैसे! यह रास्ता नहीं जो खुद चलता है, हम खड़े रहते हैं, उँघते रहते हैं और हमें लिये ही जाता है. यह नहीं वह रास्ता जिस पर हम चलें और बिना लौटे जिसे चाहें तो छोड़ दें. जैसे! तुमने कभी खुद से सवाल किया है कि तुम जो यह जीते हो, इसकी कीमत कौन चुकाता है... हमारे जीने की कीमत कौन चुकाता है और चुकाता किसे है इस प्रकृति को, राज्य को, हर तरह की ताकत को...' (किसी की शक्ल)

इन दृश्यों को अभी और गहरे सम्वेदनात्मक उद्वेग से खोले जाने की जरूरत थी लेकिन नवीन सागर को वह समय नहीं मिल सका. इस तरह अपूर्व रचनात्मक और दुर्दमनीय प्रतिभा के विचार-कौशल तथा लेखनीय क्षमता से हिन्दी साहित्य असमय वंचित हो गया. यह आखिरी खेद रहेगा. किन्तु हर हालत में साहित्य के इतिहास में यह अवश्य दर्ज होगा कि अपनी कविताओं की तरह नवीन ने गद्य को एक अप्रतिम ऊँचाई दी और उनके विद्रोही तेवर, कहन के अनोखेपन एवं मन को छू लेने वाली गहरी तथा व्यापक सम्वेदनशीलता हिन्दी भाषा तथा साहित्य की वह विरासत है जिसे आनेवाला हर लेखक और पाठक अपनी स्मृति और श्रुति में 'मास्टर' के अवदान की तरह हमेशा याद रखेगा.

▣

● एफ-1 सुरेन्द्र गार्डन, अहमदपुर, होशंगाबाद रोड, भोपाल-26

◆ आलेख ◆

नवीन सागर की कहानियाँ

शम्पा शाह

नवीन सागर की कहानियों के पात्र जिन्दगी के सफर में जगह-जगह छूट गये ड्रॉपआउट्स हैं. गन्तव्य तक पहुँचने से बहुत पहले ही रेल का डिब्बा खाली हो गया. कब, कैसे और कहाँ उतर गये ये लोग?

यूँ देखें तो गाँवों-कस्बों, यहाँ तक कि शहर में भी एक सामान्य जिन्दगी में वर्षों तक कुछ नहीं बदलता. हर दिन पिछले दिनों का दुहराव...और कभी-कभी तो हर जिन्दगी पिछली जिन्दगियों का व्यर्थ दुहराव भर लगती है. हालाँकि ऐसा अकसर दूसरों के सन्दर्भ में सोचने पर ही होता है, अपने सन्दर्भ में नहीं. अपने सन्दर्भ में सोचने पर बचपन, लड़कपन से जुड़े ऐसे बहुत से ब्यौरे दिमाग में आते हैं—माँ या पिता के साथ का अपना सम्बन्ध, मित्रता, प्रेम आदि के अपने अनुभव... जो दूसरों के जिये-सुने से अलग या विशिष्ट लगते हैं और होते भी हैं. अपनी जिन्दगी में आये छोटे-छोटे बदलावों के असर को इसीलिए हम बेहतर देख पाते हैं. इन बदलावों का हम पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है लेकिन अकसर उनका पता भी हमें काफी देर से लग पाता है. कुछ इसी तरह से अपने बारे में सोचते हुए नवीन सागर के पात्र जब पलटकर देखते हैं, तो दंग रहे जाते हैं. जिन्दगी की इस रफ्तार का उन्हें पता ही नहीं चलता और अचानक ही वे खुद को पटरी से दूर छिटका हुआ पाते हैं. ट्रेन उन्हें छोड़कर जा चुकी है. वे भुला दिये गये हैं. पटरी से दूर छिटके वे अब सिर्फ दूसरी ट्रेनों की आवाजाही देखते हैं. उन्हें किसी तरह की आस या कामना नहीं. उनके हाथ, पैर, दिमाग सब जैसे सुन्न पड़े हैं. और अब यही उनका जीवन है जिसे जीने के लिए वे अभिशप्त हैं. यह तो नहीं थी उनकी शुरुआत. यूँ अकेले तो वे नहीं थे. भरापूरा मेला था: कहाँ निकल गये सब? कहाँ छूट गया वह?

'लौटा तो कहीं नहीं' कहानी का नायक अभी कुल अड़तीस बरस का है और हर शाम अपने घर के बरामदे में कुर्सी डालकर वह केवल अपनी और अपने परिवार की मृत्यु की कल्पना कर पाता है. उसने सोचा था कि अपने बच्चों से खूब बातें किया करेगा, उन्हें दुनिया-जहान के किस्से सुनायेगा. लेकिन, अब जब कि यह करने की बारी सचमुच आयी तो उसके पास उन्हें सुनाने के लिए एक भी किस्सा नहीं है. उसका मित्र सतीश जो गजब का तैराक था, न जाने कब से नहीं तैरा. पूरी शाम बाजार में सायकिल लिये-लिये फिरता रहता है. खरीदना उसे कुछ नहीं होता, लेकिन जाये तो जाये कहाँ? कहानी का नायक उससे कहता है. 'हम जीते हुए भी जी नहीं पा रहे हैं क्योंकि कोई ऐसा नहीं है जिससे हम बात कर सकें. अब तुम मेरे घर रोज आना, हम खूब बातें करेंगे. बातों में से इच्छाएँ निकलेंगी, उत्साह पैदा होगा और हम फिर से चल पड़ेंगे. ' सतीश रोज कथानायक के घर आने लगता है मगर उनके बीच सम्वाद महज इतना ही है 'और सुनाओ', 'सब ठीक हैं, तुम सुनाओ.' तैरने का जिक्र आने पर सतीश के चेहरे पर कुछ भाव आते हैं, जैसे उसे अपना पिछला जन्म याद आ रहा हो. मिनटों में तालाब पार कर लेने वाले सतीश को कभी किसी ने सायकिल पर चढ़ा हुआ नहीं देखा. वह केवल सायकिल का सहारा लिये जिन्दगी की सड़क पर घिसट रहा है.

आजादी के ठीक बाद पैदा हुई पीढ़ी जिसमें नवीन सागर भी आते हैं, हमारे देश के सम्पूर्ण ढाँचे व सोच में आये परिवर्तनों की ऐसी प्रथम साक्षी पीढ़ी है जिसका आजादी के स्वप्न या उसके बाद एक नया भारत बनाने के स्वप्न में साझा नहीं था. उसने उस महत्त्वाकांक्षा के ताप को नहीं जाना. किन्तु यह बदलाव जिस विखंडन की कीमत पर आना था, यह पीढ़ी उसे अपने सामने घटित होता देखने के लिए अभिशप्त थी. गाँवों का उजड़ना, संयुक्त परिवारों का टूटना किसी टायटेनिक के टुकड़े-टुकड़े होकर गिरने से क्या कम भयावह रहा है? पिछली व्यवस्था में कितनी ही गड़बड़ियाँ क्यों न रही हों, फिर भी, आखिरकार, वह एक व्यवस्था थी जिसके चरमराने से लाखों लोगों ने खुद को अचानक, निपट अकेला और बर्फीले पानी में पाया. जिन्होंने बदलाव का यह स्वप्न देखा था, उनकी तो इस झंझावात को सहने की कुछ तैयारी थी, कम से कम उन्हें यह तो पता था कि वे उस देखे गये स्वप्न की कीमत चुका रहे हैं. हालाँकि आजादी के पहले, देश ने आजाद भारत का जो स्वप्न देखा, वह एक मुकम्मल स्वप्न नहीं था, इसका अहसास भी उन स्वप्न देखने वालों को बहुत जल्द हो गया था. देश की अधिसंख्य जनता ने कोई और स्वप्न देखा था किन्तु उसका स्वरूप उनके आगे इतना स्पष्ट नहीं था. जब कि बाकी बचे चन्द लोगों ने जो स्वप्न देखा, वह अधिक ठोस था और उस तक पहुँचने का रास्ता भी ज्यादा स्पष्ट था. गफलत यह हुई कि उस अधिसंख्य जनता ने इन दो अलग स्वप्नों की सच्चाई को एक हद तक जानते हुए भी यह गफलत हो जाने दी. 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' नामक पुस्तक में संकलित 'गुलाम दिमाग का छेद' लेख में प्रखर समाजवादी चिन्तक किशन पटनायक ने एक बड़े मार्के की बात लिखी है. वे लिखते हैं—

'गुलामी में एक सुरक्षा है. अनुकरण और निर्भरता में एक सुरक्षा है— खासकर बौद्धिक निर्भरता में. वे लोग जो लम्बे समय तक गुलाम रहे हैं, वे अपने निर्णय से कठिन काम नहीं कर सकते. आजादी के आन्दोलन का हर एक नेता और कार्यकर्ता राजनैतिक दासता के बारे में सचेत था. लेकिन बौद्धिक और आर्थिक दासता के बारे में उसकी समझ गहरी नहीं थी. वह सोचता था कि ये दोनों राजनैतिक दासता का ही प्रतिफलन हैं. अतः राजनैतिक दासता

से मुक्त होना ही पर्याप्त है. जब कि उपनिवेश मूल रूप से एक आर्थिक घटना है.' वे आगे लिखते हैं—'आधुनिक विकास पद्धति का विकल्प गैर-आधुनिक ही होगा. लेकिन गुलामी के अभ्यस्त दिमाग को गैर-आधुनिक होने की बात से डर लगता है, कि कोई कहीं यह न कह दे कि तुम देश को पीछे ले जाना चाहते हो.'

इस तरह अधिसंख्य और अल्पसंख्य लोगों द्वारा देखे गये स्वप्नों की जो ताश के पत्तों की सी स्वैपिंग या हेरा-फेरी हुई, उसके पीछे दरअसल यही गफलत थी जिस पर किशन पटनायक बेबाकी से विचार करते हैं. और जाहिर है इस गफलत की कीमत भी उसी अधिसंख्य जनता को चुकानी थी, और चुकानी होगी. कीमत तो कई पीढ़ियों को चुकानी होगी लेकिन नवीन सागर जिस पीढ़ी के हैं, उसके लिए यह सहना अधिक कठिन था. क्योंकि अव्वल तो वह इस टूटन के लिए तैयार नहीं थी, उसकी पृष्ठभूमि से उसका परिचय धुँधला था और दूसरे, वह यह मार सहने वाली पहली पीढ़ी थी (जिसका उस स्वप्न में साझा नहीं था). 'लौटा तो कही नहीं' कहानी का यह टूटे-फूटे विन्यास का पैराग्राफ इस सन्ताप को बड़ी मार्मिकता से उजागर करता है—

'आँखें कब से नहीं मिलीं. हँसते-हँसते एक दूसरे पर गिर जाने के जलसे अब नहीं. वहाँ कब गया था उस गाँव. आग तापते बूढ़ों को सुनते जवानों बच्चों में शामिल हुआ जब चाँद हमें देखता था और सितारे टिम-टिम-टिम. कच्चा आँगन. आँगन में पेड़ खूब घना. घिनौची नीम की दातून. दो-एक बुजुर्ग चूल्हे के इर्द गिर्द. स्त्रियाँ द्वार पर दरी बिछा के धूप में पहाड़ों की रटन्त. रोटी की गन्ध घर भर में भर जाये तो दालान में पटों पर लाइन से बाप-बेटे, चाचा-भतीजे पूरी पाँत बैठे. निपट अकेला गिरा चित यहाँ यह कौन सी जगह है सब कहाँ चले गये? दृश्य तारीखें और सन् बदलते-बदलते इतनी दूर निकल आये कि दुनिया पहचानी नहीं जाती. मैं कहाँ गया कि लौटा तो कहीं नहीं. मुझे शामिल करो मुझे शामिल करो.'

यह टूटन, यह टुकड़े-टुकड़े बिखराव नवीन सागर की कहानियों, कविताओं में विषयवस्तु बनकर तो आता ही है, साथ ही उनके वाक्य विन्यासों में भी छाया रहता है. टूटे-टूटे वाक्य. लेखक की उन्हें पूरा करने की कोई कामना नहीं. वे उसके भीतर जन्मे ही आधे-अधूरे थे. कहानियों में एक अजीब-सी वीरानी, एक उजाड़. जैसे कोई शिल्पी इमारत नहीं खंडहर बनाने का बीड़ा उठा ले. 'उसका स्कूल' संग्रह की तमाम कहानियाँ तथा अन्य असंकलित कहानियों की हमारे मन पर कुछ ऐसी ही उदास छाप पड़ती है. हालाँकि ये कहानियाँ जीवन के विविध रंगों, आयामों की हैं जिनमें हल्के-फुल्के अन्दाज में लिखी गयी 'मूँछ' कहानी भी है, लेकिन, यहाँ भी ठाकुर साहब के लिए बन्दूक और उससे चिपकी शान और आज के समय में उसका बेमेलपन या उनकी आत्मछवि और सामाजिक छवि के बीच की खाई, जिसका उन्हें पता ही नहीं है, एक ऐसा व्यंग-विद्रूप खड़ा करता है कि अन्ततः बड़ी-बड़ी मूँछ और कन्धे पर बन्दूक टाँगे हुए ठाकुर साहब हमारे मन पर अत्यन्त करुण छवि बनाते हैं.

'उसका स्कूल' संग्रह की सत्तर और अस्सी के दशक में लिखी गयी कहानियों में बहुत फर्क है. सत्तर के दशक में कहानियों को कहने का एक सिलसिलेवार तरीका है; मुकम्मल आरम्भ, मध्य और अन्त है. कहानी की बढ़त इस तरह से होती है कि उसके अन्त की कुछ कल्पना की जा सके. इस दौर की कहानियों में वाक्यों की संरचना भी अधूरी नहीं है तथा इनमें कथा-तत्त्व की प्रधानता है. लेकिन इनमें से कम से कम दो कहानियाँ-'माँ' तथा 'अन्तहीन' ऐसी हैं, जिनमें आगे आने वाली कहानियों के बिखराव की पूर्वसूचना मिल जाती है. यह बिखराव कहानी के ढाँचे में उतना नहीं आता (हालाँकि बाद की कहानियों की बनक में भी आमूल-चूल परिवर्तन हैं लेकिन उसे बिखराव नहीं कहा जा सकता) जितना कि कहानियों के नायक के जीवन के दरक जाने, बिखर जाने के कारण उपजता है. इन कहानियों में पिता या माँ के बिम्बों में जो पंखुड़ी-पंखुड़ी झड़ना हम देखते हैं, बाद की कहानियों में कथानायक या प्रोटेगॉनिस्ट के जीवन में उसकी पुनरावृत्ति होती है. लेकिन यहाँ पंखुड़ी-पंखुड़ी बिखरना न होकर एक ऐसा बिखरना है मानो कोई बम फटने या गोलियों की बौछार से चिथड़े-चिथड़े हो बिखरा है... यह गोली या बम इतनी अत्याधुनिक है, इतने आवरणों के पीछे छिपी है कि बाहर न उसका कोई धमाका सुनाई पड़ता है, न खून खराबा ही दिखता है. रिमोट कन्ट्रोल्ड यह बम कथा-नायक के भीतर कहीं फटता है और उसके वजूद, वह सबकुछ जिस पर उसे विश्वास था, उसके चिथड़े उड़ जाते हैं, जबकि बाहर से सबकुछ यथावत जान पड़ता है. किसने किया नायक के साथ ऐसा भितरघात? इन कहानियों का नायक हतप्रभ है, क्योंकि उसके तो सभी अपने हैं. किसी पर शक की गुंजाइश नहीं; या फिर यह कि हर कोई शक के घेरे में खड़ा है. 'पत्थर' कहानी के खरयाजी के साथ जिनका सबके बीच उठना-बैठना, हँसना-खेलना था, ऐसा ही होता है. घर लौटते हुए, अपनी ही गली में एक दिन सनसनाता हुआ एक पत्थर उनके सिर पर लगता है और वे गिर पड़ते हैं. पता लगाने पर किसी की छत पर कोई पत्थर नहीं मिलता. लेकिन यह घटना फिर घटती है और इस बार हर छत पर पत्थर पाये जाते हैं, यहाँ तक कि उनके परम मित्र भुल्ले की छत पर भी पत्थर मिलते हैं. खरयाजी की न किसी से खानदानी रंजिश है, न किसी से कोई स्पर्धा. उनके सभी से मधुर सम्बन्ध हैं, फिर यह जानलेवा घात क्यों? वार करने वाला सामने आकर वार क्यों नहीं करता, उसका चेहरा दिखता क्यों नहीं है? खरयाजी पत्थर की चोट से नहीं मरते. वे मरते हैं क्योंकि उन्हें पता लग जाता है कि रोज के हँसने-बतियाने का अपनापा एक मुखौटा था जिसके पीछे से शायद हर कोई उन्हें मारना चाहता था. मगर क्यों? इस 'क्यों' के कई उत्तर हो सकते हैं पर सच पूछो तो खरयाजी की यह जानने में भी कोई दिलचस्पी नहीं है. उनके लिए यह दुख पर्याप्त है कि कोई उन्हें मारना चाहता है. नवीन सागर अपने जीवन काल में समाजवादी आन्दोलन से जुड़े रहे तथा उनकी रचनाओं में उनके सामाजिक-राजनैतिक सरोकारों की स्पष्ट कौंध सुनायी पड़ती है. जिस समय में समानता कायम करने या कि बन्धुत्व व स्वतन्त्रता के नाम पर भीषण हिंसा की गयी हो, की जा रही हो और घोर तबाही मचाने वाले उपकरण को चलाने के लिए भी उतना ही सरल, निर्दोष जान पड़ता रिमोट खटका हो जिससे टी. वी. या पंखा चलता है, तब मानव-प्रेम का पाठ किसी बच्चे को आप कैसे पढ़ायेंगे? अकसर इसे एक तुलनात्मक जामा पहनाकर हम मुक्ति पा जाते हैं कि अमुक अमुक से ज्यादा हिंसात्मक है. नवीन सागर के लिए लेकिन यह गौण प्रश्न

है कि कौन अधिक हत्यारा है. उनका नायक यह जानता है कि कुछ कम या अधिक किन्तु तबाही के जखीरे हर किसी के पास मौजूद हैं. हत्यारा या तो कोई नहीं या फिर सब है.

ठीक यही विचार अपने सिर के बल उल्टा खड़ा हो 'हत्यारा' नामक कहानी में हमसे फिर मुखातिब होता है. इस कहानी के पात्रों के बीच के सम्वाद से यह बात सामने आती है कि यदि 'एक भी आदमी ऐसी कल्पना करता है कि मनुष्य जाति हत्या करने का विचार भूल गयी है तो यह कल्पना सत्य हो सकती है क्योंकि मनुष्य की हर कल्पना सच्ची होती है. जो है नहीं उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती. किन्तु यह हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने से नहीं, सिर्फ कर्म से ही सम्भव है. जिस दिन एक भी मनुष्य के भीतर हत्या के विचार का सम्पूर्ण लोप हो जायेगा उस दिन फिर समूची मानव जाति भी हत्या के विचार से मुक्त हो पायेगी.'

लेखक के मन में यह अद्‌भुत विचार आया और उसने उसके इर्द गिर्द कहानी को बुना. लेकिन आगे देखिये कि कहानी में होता क्या है-साधु और मास्टरजी के बीच चल रही इस बातचीत का गवाह वह हत्यारा है जो मास्टरजी को मारने आया है और मौके की तलाश में बैठा है. मौका मिलते ही वह मास्टरजी के पेट में छुरा घोंप देता है. गिरते हुए मास्टरजी की आँखें हत्यारे पर टिकी रह जाती हैं. हत्यारा भी उन आँखों में बँधा खड़ा रह जाता है. घर पहुँचकर खाट पर लेटे हुए हत्यारे को यह अहसास होता है कि वह मर चुका है. उसका भय सच साबित होता है जब अगले रोज उसके शरीर से लाश की दुर्गन्ध आने लगती है. वह सोचता है कि वह मरा कैसे और तभी उसे मरते हुए मास्टरजी की आँखें याद आती हैं. वह जान जाता है कि उन आँखों में उसने जो देखा, वही उसके मरने का कारण है. वही मास्टरजी, जिन्होंने कुछ देर पहले साधु के आगे हत्या के विचार के लोप की कल्पना रखी थी, उनके मन में हत्यारे से सामना होने पर प्रतिहिंसा का ही विचार पूरे वेग से आता है. महज सदिच्छा कोई बदलाव नहीं ला सकती. उसके लिए कर्म प्रेरित विचार या कहें कि विचार का ऐसा स्वरूप, जो कर्म की भट्ठी में पककर निकला हो, चाहिये जिसमें E=MC के समीकरण की तरह विचार और कर्म का पूरी तरह से, बिना कोई अवशेष छोड़े एक दूसरे में रूपान्तरण (प्रतिफलन) सम्भव हो. अहिंसा के उस स्वरूप की कामना जिसका स्वप्न 'हिन्द स्वराज' में गाँधीजी ने देखा किन्तु जिसके सम्भव होने के लिए मनुष्य जाति को बहुत कुर्बानी देनी होगी, जान की नहीं वरन अपने-अपने ओछे स्वार्थों की कुर्बानी.

नवीन सागर के कथा-चरित्रों की एक बड़ी दिक्कत यह भी है कि उनके लिए 'दूसरों' से इतर अपना वजूद है ही नहीं. नवीन सागर की कहानियों में प्रकृति की उपस्थिति न हो सो बात नहीं है, लेकिन, उनका मन जुड़ी-जुड़ी छतों वाली घनी बस्ती की गलियों में ही भटकता है. उनके संग्रह की शायद सबसे जटिल कहानी 'किसी की शक्ल' दरअसल ऐसी ही बस्ती की कहानी है. पूरी कहानी में कहानीकार का चेहरा गायब है, उसे लोकेट कर पाना कठिन है. कहानी में एक दूसरे से बिल्कुल असम्बद्ध दृश्य और घटनाओं का सिलसिला है. और उन्हें कहने का अन्दाज भी हर बार नया है-कभी रहस्यमय, कभी व्यंगात्मक, कभी घोर यथार्थपरक तो कभी घोर कलावादी. इसे सिलसिला भी कैसे कहा जाये क्योंकि यहाँ तो किसी तरह की क्रमबद्धता भी नदारद है. कहानी के विभिन्न दृश्यों को यदि उलट-पुलट दिया जाये, तब भी कहानी का कुछ नहीं बिगड़ेगा क्यों कि वे दृश्य या घटनायें कहानी का सीधा-सीधा आलम्बन नहीं हैं. एक बस्ती है जो मानो चरमराती खाट पर लेटी, करवटें बदलती अपनी रात काटती है. नींद इस बुढ़ापे में उसे आती नहीं. हर करवट के साथ बस्ती के किसी घर, किसी चौराहे पर घट रहे दृश्य चलने लगते हैं-सबके सब उबाऊ और नीरस, किस्सा एक में भी नहीं और ऐसा क़िस्सा तो बिल्कुल ही नहीं 'जो जीवन में उसकी आस्था लौटा दे.' इस तरह अन्तहीन लम्बी रात काटे नहीं कटती. इस बीच बस्ती दो शक्लें या रूप अख्तियार करती है-एक वह, जिसका प्रकृति से या कहें खुद से तार अभी टूटा नहीं है. कहानी के पहले ही पैराग्राफ में तालाब के किनारे बैठा वह व्यक्ति अपने मित्र से कहता है-'अँधेरे में प्रकृति के रहस्य क्या फुसफुसा रहे हैं. ये पेड़, ये बसेरों को लौटते पंछी, दूर वो गम्भीर, धूसर पहाड़, और तुम और मैं! ये अनुभूतियाँ! लगता है शरीर के अतिसूक्ष्म आवेग थरथराते हुए बाहर निकल रहे हैं. वो दिख रहा है जो नहीं दिख रहा. सबका मौन मानो बुला रहा है. मोहक! यहाँ कैसी शान्ति छायी है. दुनिया का ऐसा छोर, जहाँ किसी की आवाजाही नहीं.'

इस व्यक्ति का प्रकृति के साथ सम्बन्ध मुकम्मल है. पर इस कीमत पर, कि उसे रात में या दिन दहाड़े भी सेना का ट्रक नहीं दिखता, उसकी आवाज भी सुनायी नहीं देती. ट्रक धड़धड़ाता हुआ आसपास से गुजरता रहता है और वह उससे बेखबर बना रहता है. जाहिर है यहाँ सेना का ट्रक प्रतीक है और वह व्यक्ति भी जिसे सेना का ट्रक नहीं दिखता. क्योंकि उस शान्ति का साक्षात्कार उसे 'सेना का ट्रक' दिखने की कीमत पर ही होता है. इस कहानी में बस्ती जो दूसरी ठोस शक्ल अख्तियार करती है उसके भीतर लगातार जीवन की भाँय-भाँय है. उसे सिर्फ बस्ती और उसमें फैली जिन्दगी का मलबा दिखायी देता है. घर दिखता है तो ऐसा, जहाँ बच्चे लापता हैं, औरत मरणासन्न, आदमी किंकर्तव्यविमूढ़; अपने बच्चों तक के प्रति उदासीन, कि 'जिन्दा होंगे तो आ जायेंगे' उसके चारों ओर अनर्गल बहसें; व्यर्थ का खून-खराबा. उसके आगे स्वतन्त्रता मूल्य नहीं विद्रूप बनकर होनहार लड़के की शक्ल में खड़ी होती है जो कहता है-'रास्ते में पड़ने वाला पेड़, जिसे हम देखते हैं, हमारी पेड़ न देखने की स्वतन्त्रता पर पेड़ का हमला है.' इस दूसरे को झुंड के झुंड बूढ़े बस्तियों से पलायन करते, सामूहिक आत्महत्या के लिए जाते नजर आते हैं. इस दूसरी शक्ल पर लगातार सेना के ट्रकों का आतंक है, उसके कानों में केवल उस ट्रक के धड़धड़ाने का शोर है. इस तरह यह दूसरी शक्ल भी कहानी में एक प्रतीक का रूप ले लेती है. प्रश्न यह है कि क्या कहानी के ये दो चेहरे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं? एक दूसरे के प्रति पूरक? या ऐसे विरोधी कि जिनमें मेल हो ही नहीं सकता? कहानी के अन्त में दोनों ही एक दूसरे के लिए पहचान से परे चले जाते हैं. आईना उन दोनों से ही उनकी शक्ल या पहचान छीन लेता है.

यह कहानी हमारे आज के समय में एक सम्वेदनशील मन की विकट, दुर्लंघ्य खाइयों को सामने रखने की चेष्टा करती है. प्रकृति के मानव जीवन से विच्छेद ने अन्ततः और अवश्यंभावी रूप से हमें ऐसी परिस्थिति में ला खड़ा किया है कि जब हमें इसे या सामाजिक-आर्थिक विकास (इसे आज के

यथार्थ की तरह भी पढ़ सकते हैं) के बीच चुनाव करना होगा. ये दो तलवारें हैं जो मानव सम्वेदन नामक म्यान में अब एक साथ नहीं रह सकतीं. वे जो कभी एक दूसरे की पूरक थीं, मैं और ममेतर थीं, आज इनके बीच अबोला है. बल्कि बात इससे भी आगे बढ़ गयी है—एक का अस्तित्व दूसरे की कीमत पर ही सम्भव है. हालाँकि एक दूसरे से जुदा हो दोनों ही रास्ते में लगे उस पेड़ की तरह अधूरे और पंगु हैं जिसकी एक ओर की शाखाएँ बिजली के साम्पतिक तारों की वजह से बार-बार काट दी जाती हैं.

इन कहानियों के लेखक का सबसे प्रिय रूपक आईना है. उसे यह सम्भावना डराती है कि आईना हमारी वह शक्ल जिसका हमें पता है, उसकी जगह एक दिन अचानक हमारे आगे कोई और शक्ल पेश कर देगा. लेकिन इस सम्भावना में ऐसा सम्मोहन है कि उसके वशीभूत हो वह बार-बार आईने में झाँकता है. एक तरह से यह उसी की कामना है कि परी कथाओं के आईने की तरह हर आईना सच बोले और हमारे भीतर घटित हुए बदलावों को मूर्त रूप में दर्ज करे. समाज में आ रहे बदलावों को दर्ज करना एकबारगी आसान काम है लेकिन अपने घट में झाँकने और वहाँ के अँधेरे कोनों-अँतरों में छिपी अपनी ही कुरूप, हिंस्र छवियों को बेलाग देख पाना, उनकी सच्चाई का सामना करना कहीं अधिक दुष्कर काम है. 'बोझ' कहानी के नायक को अचानक बूढ़ी, अशक्त माँ बार-बार अपने पर गिरती-सी महसूस होती है. वह चुपचाप कोने में पड़ी सो रही है लेकिन उसका रुदन नायक और उसके पड़ोसियों की नींद हराम किये है, वह कोठरी की खिड़की के सींखचे पकड़े चुपचाप खड़ी है लेकिन उसके पैरों के घिसटने की आहट, उसकी साँसों की आवाज नायक के कान फोड़े दे रही है. 'घर' कहानी का नायक चित्रकार है. तालाब के किनारे, पहाड़ी पर स्थित काँच की पारदर्शी दीवारों वाला उसका कमरा, वहाँ रखी चीजें सब वैसी हैं कि जैसी एक कलाकार की छवि के साथ जाती हैं. लेकिन चित्रकार में कुछ ऐसा है कि उसके आस-पास सबकुछ मरा हुआ, बेजान मालूम देता है. यहाँ चित्रकार का कैनवास ही वह आईना है जिसमें वह अपना चेहरा तलाश रहा है. वह चेहरा जो उसका है नहीं, पर जिसे अपने भीतर पाने की उसे लालसा है. वह कहता है—'मेरे भी हृदय होना चाहिए जहाँ किसी की अनुभूति हो. किसी की भावना, किसी का दर्द पता चले. किसी के लिए भावना उठे.' कहाँ और क्यों हुई यह गड़बड़? नहीं, कहानी स्मृति में नहीं उतरती, कलाकार का अतीत हमारे आगे उद्घाटित नहीं होता. एक बार फिर लेखक खुद को या पाठकों को यह छूट नहीं देता कि वे कलाकार के किस कदर भावनाशून्य होने का कारण जीवन की किन्हीं ठोस परिस्थितियों में ढूँढ ले और मुक्ति पा जाये. ऐसा क्यों हुआ यह लेखक के लिए इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना इस बात का स्वीकार कि ऐसा हुआ. या कि, ऐसा है. कहानी को पढ़कर हठात् मन में आता है कि वह क्या है—जो मरने और जीने के बीच फर्क लाता है? कोई तमाम सौन्दर्य, प्यार और सुविधाओं के बीच कहानी के चित्रकार की तरह काठ के मानिन्द हो सकता है और कोई मरणासन्न, यहाँ तक कि अपने बेटे द्वारा मृत घोषित किया जा चुका बूढ़ा, अपनी दिवंगत पत्नी की साड़ी में जीवन की गन्ध पाता है और उस गन्ध से लिपटा दुनिया में कितनी दूर तक निकल जाता है. बूढ़े के भीतर का जीवन कलाकार को इतना आक्रान्त करता है कि वे जब घर पर नहीं होते तब भी उसे उनके पैरों के घिसटने, उनकी साँसों की आवाज आती है. वह अपनी पत्नी को कभी यह मनवाने की कोशिश करता है कि उसके पिता को साँस की बीमारी है तो कभी यह कि वे उसके पिता नहीं, कोई धोखेबाज अजनबी या प्रेत है. वह बूढ़ा जिसे 'जीने की बीमारी' के अलावा कोई रोग नहीं, उस कलाकार के घर मरने आता है जिसके भीतर मानो बर्फ की सिल रखी है. कहानी के अन्त में कलाकार के कैनवास पर पहली बार कुछ उभरता है जिसमें किसी की पहचान है. उसकी पत्नी के मुँह से हठात् निकलता है 'यह तो मेरे पिता की पीठ है.'

नवीन सागर की तमाम कहानियों को सामने फैलाकर यदि किसी केलीब्रेटिंग यन्त्र (माप-यन्त्र) के आगे रखें तो हम पायेंगे कि मानवीय भावनाओं, सम्वेदनों का एक समूचा ग्राफ़ उभरेगा जिसके एक छोर पर 'लड़की', 'घोड़े का नाम घोड़ा', और 'क्षेपक' जैसी कहानियाँ हैं जहाँ भावनाओं की बाढ़ है और उस बाढ़ में लेखक स्वयं को बहने देता है; तो ग्राफ के दूसरे छोर पर 'बोझ', 'पत्थर', 'किसी की शक्ल', 'लौटा तो कहीं नहीं', 'घर' आदि कहानियाँ हैं जहाँ सत्य की, यथार्थ की सही-सही पहचान के लिए लेखक स्वयं को अनेक में विभक्त करता है और जैसे आज के क्रिकेट मैच प्रसारण में कई कैमरों का इस्तेमाल किया जाता है ताकि हर सम्भावित कोण से खेल को देखा जा सके, वैसे ही लेखक भी कहानी की परिस्थितियों या पात्रों को कई कोणों से तटस्थ होकर देखता है. ऐसी तटस्थता, जो भावनाओं की बाढ़ के बाद ही आती है. जिसका मन बस्ती के तमाम घरों, गलियों में इतना रमा हो कि वहीं छूट गया हो, जीवन पर्यन्त वहीं चक्कर काटता रह गया हो. वही फिर यह भी कह सकता है: 'जीवन की आवाजाही की सूनी दुपहर में मक्खियों की भिन-भिन हर तरफ से उठती हुई.' जिसके लिए माँ 'अँधेरी तूफानी रात में पक्षियों के लिए जैसे किसी वृक्ष के कोटर' के जैसी रही हो, 'वह निरापद कोना' जहाँ जमाने की ठोकरों से घबराकर दुबका जा सके, वही व्यक्ति माँ के बोझ में बदल जाने के अहसास की मर्मान्तिक पीड़ा को पाटता हुआ 'बोझ' कहानी लिख सकता है. समाज में फैले अन्याय, गैर बराबरी, अत्याचार और शोषण से उपजे त्रास को जिसने अपनी रगों में महसूस किया हो वही 'मोर' या 'अपनी जमीन' या 'सत्यकथा' जैसी कहानियाँ लिख सकता है. 'मोर' कहानी का नायक हुल्ले या उसकी काछिन या बाद में उस काछिन का मुर्दा हाथ या कहानी के अन्त की ओर बस्ती में प्रकट हुआ वह मोर और बड़ी-बड़ी स्वच्छ आँखों वाला वह बालक जो कहता है कि मैं हुल्ले का बेटा हूँ—वे सब के सब हमारे मानस के कितने करीब और जाने-पहचाने लगते हैं. 'मोर' कहानी को पढ़कर इस बात का कुछ-कुछ आभास भी लगता है कि जनमानस में लोककथाएँ या चरित कैसे जन्म लेते हैं. अत्यन्त करुण, अत्यन्त यथार्थपरक होने के बावजूद लोककथाओं की ही तरह इस कहानी के नायक हुल्ले और उसकी काछिन की निडर, स्वतन्त्र चेतना हमें मुक्त करती है.

कोई सम्वेदनशील मनुष्य जिसके आत्मविश्वास में छोटी सी भी संध हो वह जानता है कि 'अपनी जमीन' कहानी के चरित्र जगन्नाथ की—घर पर रहे तब तक—मूँछों का दिखना, और घर से बाहर निकलते ही उनका गायब हो जाना कितनी 'यथार्थ' बात है. कोई हृदय शून्य व्यक्ति ही होगा जिसे

हाइवे पर एक शहर से दूसरे शहर दौड़ते, माल से लदे, भारी-भरकम ट्रकों के नीचे से जगन्नाथ के परिवार की 'बचाओ, बचाओ' की गुहार नहीं सुनायी देगी.

'किसी की शक्ल' कहानी में बस्ती से बूढ़ों का एकमुश्त पलायन, 'सत्यकथा' कहानी के शान्त, भीरु नायक मुकुन्द का यह भ्रम, कि उसने किसी को मार डाला है, 'पत्थर' कहानी में लोगों को खूब चाहने वाले खरयाजी को यकायक अपनी ही बस्ती में पत्थर से चोट पहुँचना, कभी दुनिया की हर चीज से बड़ी लगने वाली माँ की साँसों का कानफोडू शोर में बदल जाना या कि घर से बाहर निकलते ही जगन्नाथ की मूँछों का गायब हो जाना, ये सभी अनुभव हमारे अत्यन्त निकट के और यथार्थ अनुभव हैं, उतने ही यथार्थ, जितना कि 'उसका स्कूल' कहानी की महरी की बेटी मुन्नी के कभी स्कूल न जा सकने की सम्भावना में निहित यथार्थ है. कहने का तात्पर्य यह, कि नवीन सागर की कहानियों में जो फन्तासी की उठान अचानक प्रकट होती है वह कहानी के भीतरी कोटर से ही जन्म लेती है. फन्तासी यहाँ महज युक्ति या तक़नीक के बतौर लेखक द्वारा ऊपर से आरोपित नहीं की जाती. न ही उसका ध्येय कहानी पर कोई भारी भरकम सत्य चस्पा कर देना है. नवीन सागर की कहानी यदि फन्तासी की नसैनी चढ़ती है तो, इसलिए, कि कुछ ऊपर से देखने पर उस यथार्थ का पूरा फैलाव दिख सके, उसके वे कोने-अँतरे जो यूँ सामान्यतः नजर नहीं आते, वे उजागर हो सकें. इन कहानियों की जमीन पर प्रकट हुई फन्तासी की नसैनी स्वयं कहानीकार को और उसके पाठकों को अक्षर से आँख की वह अनिवार्य दूरी उपलब्ध कराती है जिसके बिना हर इबारत धुँधली और पहचान से परे रही आती है. नवीन सागर जैसे अत्यन्त सम्वेदनशील और सत्य के आग्रही लेखक के लिए यह नसैनी और उससे जुड़ी सरक- पट्टी जरूरी भी है और एक नियामत भीं, जिस पर फिसल-फिसल कर वे बार-बार उस दुनिया, उस बस्ती में आते हैं जिसके प्रति उनके मन में बहुत राग है और तब इसीलिए उसके विहंगम स्वरूप की झलक पाने के लिए वे फिर-फिर उस सरक-पट्टी की नसैनी चढ़ते भी हैं. ▣

● एम-22 निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल

◆ नवीन सागर की दो बाल कविताएँ ◆

गिरा पानी गिरा पानी

अरे! गिरने को है पानी!
नंगे निकल पड़े गलियों में
करने शैतानी.

बूँदें गिरीं
अँधेर छाया बिजली चमकानी
इतनी ठंडी हवा सिहर के
नानी चिल्लानी
बुलाओ बच्चों को भीतर
गिरेगा जोरों का पानी
ना मानी बच्चों ने
दौड़े उनकी ना मानी
बादल काले घने घुमड़ते
उमड़े अवदानी
झमाझम पूरी बस्ती पर
गिरा पानी! गिरा पानी!

लहर गलियों में लहरानी
कमर तक डूब गये नंगे
तैरने में अब आसानी
तैरते चले गये नाके
वहाँ से घंटाघर आ के
सड़क की बड़ी नदी में बढ़े
जहाँ आधे तक डूबे खड़े
साँड़ गुस्से में अभिमानी!

वहाँ से मुड़े घरों की ओर
अँधेरा फैल गया घनघोर
द्वार पर खड़ी-खड़ी नानी
नाम ले-ले के चिल्लानी
किनारे लगे हुए बच्चे डरे कि मारेगी नानी
मगर वह गुस्से में बोली
साथ मुझको भी ले जाते
कहा भोलू ने बूढ़ी हो
तुनक के नानी बरसानी
अगर रस्ते में थक जाती
तैर के वापस आ जाती.

रात भर
बादल करते रहे साथ धरती के मनमानी.
गिरा पानी! गिरा पानी

टालूराम

करना है दस दिन में काम
हाँ! हाँ!
बोले टालूराम.

हमने कहा समझ लो काम
बोले कभी समझ लेंगे
हमने कहा करोगे कब
वो जब चाहोगे तब
पर पहले समझोगे तो!
बोले तभी समझ लेंगे.

जैसे-तैसे समझा काम
दसवें दिन हम उनका नाम
पूछ-पूछ के मार तमाम
लौटे जब थककर के शाम
घर के आगे टालूराम
बोले भैया जै जै राम!
हमने कहा हो गया काम?
फौरन बोले कैसा काम!
हमने कहा अरे वो काम
बोले अच्छा-अच्छा वो
भूल रहा हूँ क्या था काम!
हमने याद दिलाया काम
बोले दिल से टालूराम
कर देंगे हाँ कर देंगे.

फिर से दस दिन गुजर गये
गुजर गये दस दिन फिर से
हम गुस्से में भरे हुए
उनके आगे खड़े हुए
हमने कहा हो गया काम!
बोले दस दिन तो हो लें
हमने कहा हो चुके हैं
बोले अभी और होंगे
और हँस पड़े टालूराम.

उनने जाने कितने काम
इसी तरह से किये तमाम!

▣

◆ आलेख ◆

मोर : यथार्थ की कालातीत गाथा

प्रो. कमला प्रसाद

आधुनिक कथा साहित्य में कम लेखक हैं, जिनके कथा लेखन में विभिन्न लोक भाषाओं के कथा-कथन की लम्बी परम्परा के स्त्रोत दिखायी पड़ते हों. इतिहास-पुराण-महाकाव्य, पंचतन्त्र, हितोपदेश तथा कथा सरित् सागर—कथा-कथन के दस्तावेज हैं. इनके अलावा लोक जीवन में वाचिक परम्परा से यात्रा करती इतनी कहानियाँ हैं कि उनका दस्तावेजीकरण जटिल समस्या बनी हुई है. आदिवासियों का अधिकांश साहित्य वाचिक है. वाचिक परम्परा मूलतः किस्सागोई पर ही निर्भर है. यह परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी नये-नये रूपों में ढलते हुए यथासमय परिवर्तित होते चलती रहती है. आधुनिक कथा लेखन इस परम्परा से विमुख हो गया, पश्चिमी ढाँचे को आदर्श मान लिया. इसीलिए लोक सम्पृक्ति जाती रही. प्रेमचन्द, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु जैसे कुछ लेखक हैं जिन्होंने अपने कथा संसार को लोक की कहानियों से समृद्ध किया. कम से कम उनसे नाता तो जोड़ ही लिया. बूढ़ी काकी, मंच, कफन, पूस की रात (प्रेमचन्द) रतिनाथ की चाची, बलचनमा (नागार्जुन) तथा मैला आँचल, परती परिकथा (रेणु) में ऐसे वृत्तान्त मिल जाते हैं, जो सीधे लोककथाओं से आये हैं. विजयदान देथा—राजस्थानी लोककथाओं से ही कहानियाँ बनाते हैं. इस क्षेत्र में उनकी विशिष्टता है.

नवीन सागर की 'मोर' कहानी देथा की परम्परा याद दिलाती है. सागर ने इस तरह की कहानियाँ ज्यादा नहीं लिखीं. अलबत्ता वे व्यक्तिगत सत्संग में ऐसी कहानियाँ सुनाते थे. 'मोर' कहानी भी उन्होंने कई बार सुनायी. मित्रों के आग्रह पर अन्ततः उन्होंने इसे लिख लिया. 'वर्तमान साहित्य' के महाविशेषांक में छपी तो सराही गयी. मैंने इसे पहली बार तभी पढ़ा था. दुबारा अभी पढ़ने पर और अच्छी लगी. नवीन में अद्भुत रचनात्मक क्षमता थी. काश, वे इसका दोहन कर पाते. असामयिक निधन से असीम सम्भावनाओं की क्षति हुई. 'मोर' का लिखित पाठ—'लोककथा' के लोक रस की क्षति नहीं पहुँचाता. लेखक ने समय की समस्याओं को अपनी तरफ से जिस तरह समोया-पिरोया है, वह लोककथा का हिस्सा हो गया है. यहाँ तक कि लेखक की विचारधारा भी पैबन्द की तरह नहीं लगती. नवीन सागर समाजवादी आन्दोलन का हिस्सा थे. अन्त तक उनकी दोस्ती समाजवादियों से रही. संघवादियों से वे घृणा करते थे. वामपन्थी लेखकों की अभिन्नता में शामिल नहीं हुए. 'मोर' कहानी में समाजवादी आग्रहों के संकेत झलकते हैं. नेहरू परिवार को प्रमुख शत्रु मानना, इन्दिरा गाँधी द्वारा लगायी गयी इमरजेंसी के प्रति कटु होना उस राजनीति का हिस्सा था. 'मोर' कहानी में ये सन्दर्भ हैं. इमरजेंसी की क्रूरता थानेदार पांडे में प्रतीक की तरह झलकती है. ये आग्रह कहानी की लय को कहीं भी शिथिल नहीं होने देते.

'मोर' का नायक 'मोर' ही है. दिव्य और अलौकिक गुणों से आपूरित 'मोर' की कहानी लोक में सुनायी जाती कहानियों की तरह 'पुरानी बात है' से शुरू होती है. पुरानी बात नयी बात के अन्तराल को पाटती है कहानी. सुदूर अतीत से चलकर आजादी की लड़ाई से होते हुए आजाद भारत का सफर तय करती है. कोई इससे उपन्यास लिख सकता था. स्वयं नवीन सागर भी. कहानी का वृत्त यह कि एक राजा के बाग में एक बड़ा चौपड़ा था. वहीं सुरुचिपूर्वक मनोरम वास्तुकला से निर्मित राजवंश के पूर्वजों की समाधियों के बीच एक 'मोर' पला हुआ था. राजा की विशेष देख-रेख में उसका पालन हुआ. राजा के प्रिय और दुर्लभ प्राणियों में 'मोर' की गिनती होती थी. किंवदन्ती पक्षी बन गया. कहा जाने लगा कि वह अमर है. वेश बदलकर वह कुछ भी बन सकता है. दुनिया में कहीं जा सकता है. कोई भाषा बोल सकता है. ज्योतिषियों ने उसके बारे में अनेक मिथ गढ़ लिये थे. फल यह हुआ कि किसी भी बाहरी व्यक्ति के लिए वह दर्शनीय हो गया. इस राज्य में आयें तो 'मोर' देखकर जायें. अन्यथा जीवन निरर्थक.

कहानी का अगला मोड़—'मोर' की हत्या है. लोगों को अचम्भा हुआ कि मोर की हत्या कैसे हो सकती है. वह मर कैसे सकता है? अमरत्व का क्या हुआ? हत्या का काल अँग्रेजी राज्य है. राजाओं-अँग्रेजों की मिलीभगत का समय. मामूली अँग्रेज सिपाही ने मारने के नशे में बन्दूक चलायी और वह मर गया. प्रजा ने हत्यारे सिपाही को घेर लिया, पत्थर बरसाये. राजा प्रवास से लौटा, अँग्रेज-सिपाही के खिलाफ जाने की हिम्मत न होने के कारण उसके बचाव में लग गया. अन्दर से दुखी पर ऊपर से अँग्रेजों का आतंक. इसलिए 'मोर' का मोह छोड़ना ही ठीक होगा, नतीजे में सिपाही को थाने में लाकर सुरक्षित कर दिया. थानेदार ने प्रजा को धमकी दी तो लोग अपने-अपने घरों में दुबक गये. बस्ती में एक काछी था—हुल्ले. वह शराब पीकर रोज थाने आता, थानेदार को माँ-बहन की गाली देता, थानेदार उसे पीटता, जेल में डालता, उसकी औरत आती, थानेदार के सामने पैसे फेंकती, हुल्ले को छुड़ाकर ले जाती. देश आजाद हो गया पर इस सिलसिले में फर्क नहीं पड़ा. हुल्ले ने गाली देना नहीं छोड़ा. देखने-सुनने वालों की भी आदत बन गयी. हुल्ले के लिए पीटे जाने से फर्क नहीं पड़ा. थानेदार बदलते गये. वर्ष के वर्ष गुजरे. जवाहरलाल नेहरू से इन्दिरा गाँधी तक कई सरकारें आयीं.

कस्बे में कुछ परिवर्तन हुए. सड़कें बनीं. स्कूल-कॉलेज खुले. नेताओं के रंग-ढंग बदले. मन्त्री-सन्त्री बने. एक समय के आजादी के दीवाने स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी बन गये. जो नहीं बचे उनके नाम स्मारक बनने लगे. जगह-जगह परिवर्तन झलकने लगा. आदमी का स्वभाव भी पहले जैसा नहीं रहा. नहीं बदला तो हुल्ले का गाली

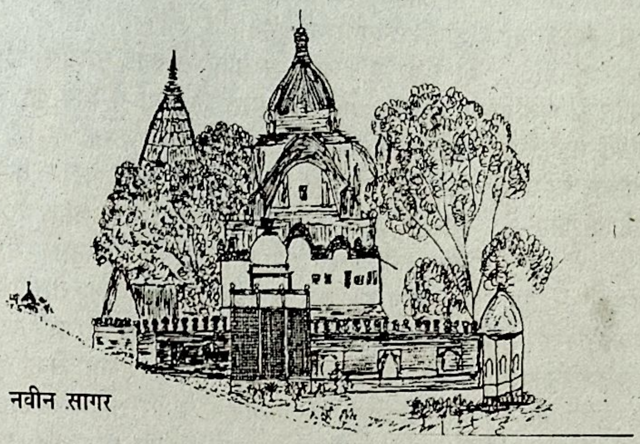
देना. उसकी प्रतिशोध की ज्वाला नहीं बुझी और हत्यारे को वह क्षमा नहीं कर सका. नये-नये थानेदार आये, नरम गरम स्वभाव वाले. थानेदार और हुल्ला का सम्बन्ध ज्यों का त्यों रहा. कुछ लोग तो उसकी आदत मानकर टाल जाते. आपातकाल में ऐसा थानेदार आया जो बोलने के बजाय दहाड़ता था. उसे यह थाना खरीद में मिला था—इसलिए निडर था, ऊपर तक पहुँच. हुल्ले की गाली उसे सहन नहीं हुई, वह उसे जिन्दा ही चबाना चाहता था गुस्से में. वह हुल्ले को ठोकर मारता और दूर फेंकता. थाने से फेंकता तो कछवारे में गिरता. कछवारे से फेंकता तो थाने में. बचाव में उसकी औरत झपटी तो थानेदार की पकड़ में आ गयी. झटके में औरत की बाँह थानेदार के हाथ में छूट गयी. बिना बाँह इज्जत बचाकर औरत कुएँ में डूब गयी. थानेदार ने उसकी बाँह की सोने की चूड़ी जेब में रख ली और हाथ हुल्ले को सौंप दिया. इसी समय पांडे उपजाति के कथित स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी का स्मारक बनने के लिए पांडे थानेदार की मिलीभगत से कछवारे की ही जमीन तजवीज की गयी. हुल्ले ने इसका विरोध किया. वह कुछ नहीं कर सकता था पर गाली तो दे सकता था—उसने फिर शराब पीकर गाली दी. थानेदार ने इस बार उसकी हड्डी-पसली मसल दी. उसके साथी किसान ने पिसी हुई हड्डी-पसली को गमछे में बाँधकर कछवारे तक पहुँचाया. घटना के कुछ दिनों बाद इलाके में सुनहले पंखों वाला 'मोर' दिखा. उसकी चोंच पर हुल्ले की पत्नी का उखड़ा हाथ था, मोर थाने के सामने नाचता रहा, बारिश होती रही. वह चौपड़े की ओर गया और पानी में डूबकर शान्त हो गया. कछवारे की जमीन पर अन्ततः स्मारक और बगीचा बन गये. जिस कुएँ में हुल्ले की पत्नी डूब गयी थी उसी से पानी खींचते हुए बाल्टी से एक साँवला लड़का ऊपर आया. लड़के ने याद कराया कि उसकी माँ कुएँ में गिर गयी थी. यह घटना तब हुई जब इलाके के लोग पिछली बातें यहाँ तक कि हुल्ले को भी भूल गये थे.

कहानी के इस वृत्त को अनावृत करने की जरूरत है. प्रश्न उठता है कि मनगढ़न्त घटनाओं, चमत्कारों, अफवाहों और डींगों की आज के समय में क्या जरूरत है. तर्क प्रधान संसार में इतिहास चेतना के होते हुए विज्ञान की महत्ता के युग में इस तरह के लोक-विश्वासों का औचित्य क्या है? कहानियों की यह अन्तर्वस्तु अब निरर्थक है. 'मोर' कहानी का पाठ इस प्रश्न का उत्तर देता है. विगत सौ वर्षों में आधुनिकतावाद ने जो स्वरूप ग्रहण किया है, जो जीवन-प्रणाली सामने आयी उसमें जीवन-रस धीरे-धीरे समाप्त हुआ है. आदमी एक उपभोक्ता वस्तु में रूपान्तरित होता गया है. विकसित देशों में मानवीय रिश्तों के धागे टूटते जा रहे हैं, जो परम्परा और संस्कृति के कारण जुड़े थे. उत्तर आधुनिकता तो सभ्यता के विकास की सारी मन्जिलों को झुठला रही है. ऐसे में इस जैसी कहानियों का लोककथा रस संजीवनी का काम करता है.

नवीन सागर ने लोककथा से लोक के प्रतिरोध की शक्ति का संचय किया है. यह प्रतिरोध किसी कालखंड का न होकर कालातीत है. वह प्रतिरोध जो दबाने से नहीं दबता, नहीं डरता, नहीं मरता, जेल में नहीं सड़ता, जिसका पुनर्जन्म होता है, प्रतिरोध कालांकित होते हुए कालातीत होता जाता है, इसलिए कि उसके कारण हमेशा मौजूद रहते हैं. व्यवस्था का अंग बनते ही शक्तियाँ जन विरोधी हो जाती हैं. इसी सबब से उनका विरोध साथ में जन्म ले लेता है. सत्ता और उसका विरोध एक ही रसायन की दो निर्मितियाँ हैं. प्रश्न है कि एक कहानी इसको कैसे कहें—'मोर' कहानी में सत्ता और प्रतिरोध का दूरगामी कालबोध है. प्रश्न है कि उसका यथार्थ से स्पर्श कैसे हो? मोर—हमारे समय का पात्र कैसे बने. हुल्ले की पत्नी रामरती कहती है—सरकार रुपया लेकर गाली देने देती है. यह सच गुलाम भारत से लेकर आजाद भारत तक है. कहानी शोषण की अपरिवर्तनशीलता के संकेत देती है. जैसे—'रामरती' के लिए कहानी में जगह कम है पर वह बहुत तेजस्वी, समझदार और संघर्षशील होने को संकेत देती है. परदे के पीछे से बहुत मुखर है. पहले राजा-अँग्रेज मिले, प्रजा देखती रही, आजादी के बाद स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों के लिए सरकार और धनवान मिले. दोनों कालखंडों में थाने-थानेदार अर्थात् सत्ता की कार्यपालिका नहीं बदली. मोर की हत्या, हुल्ले की हत्या, कछवारे की जमीन का अधिग्रहण—एक सतत कार्यवाही है. दूसरी ओर 'मोर' की हत्या और फिर मोर का जन्म हुल्ले और उसकी पत्नी रामरती की हत्या और बालक का जन्म—प्रतिरोध की श्रृंखला है. तानाशाहों की पराजय अन्ततोगत्वा इसीलिए होती है. कहानीकार ऐसे कालातीत प्रसंगों की पुर्नरचना के लिए फैंटेसी का सहारा लेता है. रूपकों-प्रतीकों का उपयोग करता है. भाषा की असमर्थता के चलते वह डींग, सनक, जिद जैसी मानवीय प्रवृत्तियों का विस्तार करता है. ये गुण मनुष्य में स्वतः होते हैं. जिजीविषा और प्रतिरोध के साक्ष्य के लिए इस कहानी को पढ़ते अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोंक' बार-बार याद आती है. 'मोर' कहानी में नवीन सागर का कहानी कौशल निखार पर है. कहानी में जो यथार्थ से परे प्रसंग हैं, अलौकिक या पुनर्जन्म के, वे यहाँ रूढ़िवाचक नहीं हैं. इनकी अर्थवत्ता कहानी पाठ से ध्वनित होती है. कहानी में मनुष्य की आदतों का रचनात्मक संयोजन किया गया है. यह कला इतिहास की सीमाएँ लाँघती है. इतिहास विरोधी नहीं होती, इतिहास से छूटे रहस्यों को समाहित करती है. लोककथाएँ पहले से यह करती आयी हैं. 'डींग' की कला का विस्तार 'महाभारत' में कदम-कदम पर मिलता है. कहा जाता है कि इन कथाओं में सत्य को पहचानने और स्थापित करने के लिए भयानकता, रोचकता का सहारा लिया गया है. 'मोर' कहानी में ये लक्षण हमारे समय की प्रासंगिकता को चरितार्थ करते हैं. कहानी में—प्रकृति-मनुष्य और पशु-पक्षियों की अन्तर्सम्बन्धता बहुत स्वाभाविक ढंग से रची-बसी है. 'मोर', 'थानेदार', 'हुल्ले', हुल्ले की पत्नी रामरती, 'चौपड़ा' और आकाश एक दूसरे से अलग कहाँ मालूम पड़ते हैं. काल और देश विभाजन के लिए यहाँ कोई जगह नही है. अखंडता और सार्वभौमिकता की वापसी 'मोर' जैसी कहानियों को गहरी दार्शनिक अर्थवत्ता प्रदान करती है. इसी अर्थ में वैश्विक परिवार बनता है. यह कहानी कालातीत की यथार्थ गाथा है. ▣

● एम-31, निराला नगर, दुष्यन्त मार्ग,
भदभदा रोड, भोपाल-462003

◆ कहानी ◆


चित्र : नवीन सागर

मोर

•

नवीन सागर

पुरानी बात है एक छोटी-सी स्टेट के राजा ने एक मोर पाला. वैसे तो सभी मोर अच्छा नाचते हैं पर उस मोर की बात अलग थी. वह चौपड़ा के किनारे सघन कुंज में रहता था. उसी कुंज में साधु का आश्रय, एक मन्दिर और राज परिवार के मृतकों की समाधियाँ थीं. ऐसी समाधियाँ कम ही देखने में आती हैं. जानकार लोग उन्हें वास्तुकला का अद्‌भुत नमूना कहते हैं. वह मोर उन्हीं समाधियों के आसपास फिरा करता था. उसे नाचने का बड़ा शौक था, मानो वह जानता हो कि कस्बे के लोग उसका नाच देखने को लालायित रहते हैं. लोगों का प्रेम उस पर इतना था कि गलियों में घरों में अकसर उसकी चर्चा होती रहती थी. वैसे तो और भी पक्षी वहाँ बहुत थे और वे लोगों के आसपास कुछ न कुछ करते रहते थे पर लोगों की उनसे वैसी ममता नहीं थी. शादी-ब्याह, तीज-त्यौहार पर किसी के यहाँ बाहर से कोई आये तो उसे मोर जरूर दिखाया जाता था. मोर के अलावा उस कस्बे में दिखाने लायक कुछ था भी नहीं, एक किला था जिसमें स्कूल लगता था और इतना तुच्छ वह किला था कि पहाड़ी पर नहीं एक छोटे से टीले पर बना मकानों से घिर गया था.

कुछ लोग अपनी बस्ती की डींगें हाँकने में माहिर होते हैं, जैसे मेरे भाई साहब बचपन में सागर को दुनिया का सबसे सुन्दर और बड़ा शहर, सागर के तालाब को दुनिया का सबसे बड़ा तालाब, सागर की हॉकी टीम को विश्व की सबसे अच्छी हॉकी टीम और अपने एक दोस्त के पिता को दुनिया में सबसे अच्छी अँग्रेजी बोलने वाला मानते थे और उन्हें इसमें जरा भी सन्देह नहीं था, कुछ कहो तो लड़ बैठते थे, जब वे थोड़े बड़े हुए तो यही बातें वे मध्य प्रदेश के बारे में कहने लगे. आजकल भारत की डींगें हाँकने के साथ-साथ एशिया की श्रेष्ठता के दावे करते हैं और उन्हें कोई डिगा नहीं सकता. ऐसे लोगों की तो उस कस्बे में भरमार थी. वे कहते ऐसा मोर पूरे संसार में दूसरा नहीं है, इसकी उम्र अकूत है. पहले यह वाल्मीकि आश्रम के आसपास घूमा करता था. आदमी की बोली समझता है. एक बार उसने एक साधु से बातें भी की थीं. अगर यह मोर चाहे तो शेर बन सकता है तितली बन सकता है, एक बार यह चौपड़ा के पानी में कमल बन गया था और कमल पर कोई बड़ी ही सुन्दर देवी विराजमान थी. इसी तरह की न जाने कितनी बातें हैं कि मोर पुराण बन जाये. सुनते हैं एक बार एक सोते बच्चे को आसमान में बहुत ऊपर ले जाकर घुमा लाया. वह बच्चा अब बड़ा हो गया है पर सारी बातें उसे अभी तक ठीक-ठीक याद है. बस्ती के एक प्रतिष्ठित ज्योतिषी का कहना था कि मोर पिछले जनम में अरबों मील दूर के एक ग्रह पर इतनी बड़ी चिड़िया था कि जब वह चिड़िया उड़ती थी तो आकाशगंगाओं में धूल उड़ती थी और बड़े-बड़े ग्रह उसे देखने अपनी बालकनियों में खड़े हो जाते थे.

लोग कहा करते थे मोर अमर है. खुद ब्रह्माजी ने अपने हाथ से इसकी अमरता दर्ज की है और अब कोई इसे मार नहीं सकता. पर सोचिये उस दिन बस्ती के लोगों की क्या हालत हुई होगी जब एक भरमा बन्दूक की मामूली-सी बारूद ने उस मोर की जान ले ली! जब यह खबर फैली कि मोर की हत्या हो गयी. लोगों को सहसा विश्वास नहीं हुआ, वह मर ही नहीं सकता!... कुछ लोग जब उसके चिथड़े देखकर बस्ती की तरफ दौड़े तो भगदड़ मच गयी. मोर को किसी अँग्रेज ने मारा है सुनकर लोगों का पारा चढ़ गया, कोई कहता वह सिपाही था, कोई अधिकारी. एक काछी बोला डलहौजी ने मारा है, तो किसी ने कहा यहाँ कहाँ रखा डलहौजी! पर वह बोला उसने देखा था डलहौजी. जहाज से उतरा उसने मोर को बन्दूक से मारा और जहाज में चढ़कर भाग गया.

राजा उस दिन कहीं गये हुए थे. रानी साहिबा थीं. कुछ लोग हवेली की ओर भागे. दीवान जी ने उनसे कहा कि जो किया जाना है किया जायेगा पर अब मोर वापस नहीं आ सकता. मारा एक अँग्रेज सिपाही ने है और मारने के नशे में मारा है इसलिए कोई कुछ न बोले वरना हो सकता है कल के दिन कोई मुसीबत खड़ी हो जाये.

पर वह सिपाही है कहाँ और उसने मारा क्यों? ऐसी उत्तेजना से भरे हुए लोग चौपड़ा पहुँचे. दुपहर का वक्त था तेज गर्मी पड़ रही थी. चौपड़ा का पानी लगभग सूख गया था और वह गन्दगी से भरे हुए बड़े गड्ढे की तरह चिलचिला रहा था. कुंज में साधु के आश्रम के पास और चौपड़ा के चारों तरफ लोग ही लोग थे और वह अँग्रेज बन्दूक लिये चौपड़ा की दलदल से घुटनों तक धँसा हुआ लोगों के पत्थरों से बचने की कोशिश कर रहा था.

लेकिन इतने पत्थर उस पर बरस रहे थे कि जल्दी ही वह बुरी तरह घायल हो गया. तभी थाने से सिपाहियों का एक दल थानेदार की अगुआई में हवाई फायर करता आया और उस अँग्रेज को निकालकर ले गया.

लोग अब थाने की ओर उमड़े पर तभी थानेदार ने ऐलान किया कि सब लोग अपने-अपने घर चले जायें. जो भी सड़क पर मिलेगा उसे गोली मार दी जायेगी. थानेदार बहुत जालिम था और मारने की उसे पूरी छूट थी इसलिए जल्दी ही थाने के पास से कीट-पतंगे तक भाग गये.

थोड़ी देर बाद हुल्ले काछी दारू के नशे में लड़खड़ाता आया और थाने के आगे अकेला खड़ा होकर गालियाँ बकने लगा. माँ बहन की गालियाँ अपने नाम से सुनकर थानेदार बाहर निकला और एक तुच्छ से नाटे कद के फूहड़ शराबी को ऐसा करते देखकर पहले तो चकराया फिर उस पर टूट पड़ा. हुल्ले की जमकर पिटाई हुई. वह जितना ही पिटता जाता उतनी ही जोर से गालियाँ बकता. आखिर उसे घसीटकर थाने में डाल दिया गया. वह बेहोशी में भी गालियाँ बकता रहा.

खबर बस्ती भर में फैल गयी कि हुल्ले काछी ने थानेदार की माँ बहन एक कर दी. उसकी बहुत पिटाई हुई है और अब हवालात में पड़ा है.

बस्ती में किसी की हिम्मत नहीं पड़ी कि थाने जाकर हुल्ले को छुड़ा लाये. हुल्ले की औरत रामवती को जब यह पता चला तो वह काछिन अंटी में रुपये दाबकर सीधी थाने पहुँच गयी. पहुँचकर उसने आव देखा न ताव रुपये थानेदार की मेज पर फेंके और एक ओर पड़े अपने आदमी को हिला-डुला कर होश में लाने लगी. थानेदार गरजा तू कौन है, वह बोली इसकी लुगाई हूँ, और पैसा है.

एक सिपाही ने जिसकी किसान जैसी मूँछें थीं, एक लोटा पानी हुल्ले के मुँह पर बगरा दिया. हुल्ले ने आँखें खोल दीं और अपनी औरत को देखकर उठ खड़ा हुआ. थानेदार चिल्लाया चल भाग, यहाँ से.

हुल्ले थाने के बड़े दरवाजे तक पहुँचा, वहाँ से पलटकर उसने थानेदार को घूरकर देखा और गालियाँ बकता चला गया.

बस्ती के सारे दमदार लोग जेल में थे. आजादी की लड़ाई में हिस्सा लेने वाले वे लोग यदि होते तो शायद मोर की इस बेतुकी हत्या के विरोध में कुछ हलचल होती. दूसरे दिन राजा साहब लौट आये और लोगों ने पाया कि वे कोई कार्यवाही नहीं करना चाहते. अँग्रेज घायल अवस्था में जिला अस्पताल में भर्ती था. राजा साहब ने दीवान जू को अस्पताल भेजकर उसका हाल-चाल पुछवाया तो लोगों के लिए एक तरह से सारा मामला ठंडा पड़ गया. फिर सुनने में आया कि रानी ऐलिजाबेथ को मोर की हत्या का बहुत दुख है और वे उस हत्यारे अँग्रेज को इंग्लैंड वापस बुलाकर खुद अपने मुँह से डाँटेंगी. रानी बहुत सुन्दर और गुस्सैल हैं यह बात लोगों में चल पड़ी. न्यायप्रिय हैं इससे लोगों को कुछ तसल्ली हुई पर उनकी समझ में यह नहीं आया कि जो मोर अमर था इतना प्राचीन था वह ब्रह्माजी की इच्छा के विरुद्ध मर कैसे गया! कुछ लोगों ने कहा उसका शरीर मरा है उसकी आत्मा नहीं मरी है, वह अजर-अमर है और कभी-कभी रात में चौपड़ा के पास दिख जाती है. आत्मा दिये की लौ जैसी होती है अन्धकार में कैसी भी आँधी हो निष्कम्प रहती है.

पर हुल्ले को इन बातों से कोई मतलब नहीं था. उस निरे एक अपढ़ शराबी ने मोर की हत्या से थाने को जोड़ लिया और थाने से टकराने लगा. लोग ताज्जुब करके रह गये जब दूसरे दिन शाम को कलारी से निकलकर हुल्ले अपने कछवारे की ओर लौटता हुआ थानेदार को गालियाँ देता लड़खड़ाता दिखा. घुटनों तक चढ़ी धोती, बंडी और साफे में वह धूल भरी सड़क पर नंगे पाँव चल रहा था. दुकानों से छनती धीमी रोशनी में उसके बाहर निकले बड़े-बड़े पीले दाँत दिख जाते थे. थाने के आगे रुककर उसने हुकार लगायी, थानेदार का नाम लेकर चिल्लाया और गालियाँ बकने लगा. थाने में कुँअर साहब थानेदार के साथ बैठे थे. मेज पर गैस का हंडा जल रहा था. हुल्ले की गाली गलौज सुनकर दो सिपाही बाहर दौड़े और उसे पकड़कर भीतर ले गये. वह घिसटता हुआ गालियाँ बकता रहा. मेज के पास पहुँचकर वह कुँअर साहब के पैरों पर सिर रखकर उकड़ूँ बैठ गया और बोला, "सिरकार इन हत्यारों के पास बैठते हो. इनने मोर मारने वाले अँग्रेज सिपाही को नहीं मारा और मोये मारा."

कुँअर साहब ने उसे डपटा और बोले, "चल सीधा हवेली पहुँच. मैं आता हूँ. चल सीधा."

थानेदार हँसकर कुछ कहने को हुआ पर कुँअर साहब बोले, "ठहरिये! मैं आज इसकी खबर लेता हूँ."

हवेली में हुल्ले को दस जूतों की सजा मिली. जूते खाकर वह सीधा कलारी गया. वहाँ उसने एक पाव चढ़ायी और थाने के सामने खड़ा होकर गालियाँ बकने लगा. थानेदार थाने में थे नहीं. मुंशी जी पान खाकर थाने में घुस रहे थे, हँसकर बोले, "जाओ भैया घर जाओ थानेदार अभी नहीं है."

हुल्ले का कछवारा बस्ती से लगा हुआ था. उपजाऊ जमीन थी, कुआँ था, मेहनती औरत थी, हुल्ले भी मेहनत करता था या दिन भर पड़ा सोता रहता था. कछवारे से आमदनी अच्छी थी और खर्चा बहुत कम था, बाल-बच्चे नहीं थे न भाई-बहन ही थे. दारू पीने के अलावा कोई ऐव हुल्ले को नहीं था, पास ही में जुए का एक फड़ था पर हुल्ले वहाँ कभी नहीं भटका. मोर की हत्या के बाद थानेदार को गाली देने का खर्चा बढ़ गया था. पुलिस वाले उसे हवालात में डाल देते और उसकी औरत रुपये देकर उसे छुड़ाती. चार साल बाद जब देश आजाद हो गया और देशी सरकार बन गयी तो पुलिस और भी सख्ती से पेश आने लगी. कभी-कभी वह इतनी बुरी तरह पीटा जाता कि चार-आठ दिन के लिए खाट पकड़ लेता, पर जैसे ही चलने-फिरने लायक होता कि फिर ठेके पर पहुँच जाता और लड़खड़ाता हुआ थाने के आगे रुककर गालियाँ बकने लगता. कई बार उसे पुलिस कचहरी ले जाती और जुर्माना करवा देती. उसकी औरत ने कभी यह नहीं होने दिया कि हुल्ले को जेल जाना पड़ा हो, वह कहती थानेदार को गाली दिये बिना उसे चैन नहीं पड़ता तो क्या उसे जेल में सड़ने दूँ. सरकार रुपया लेकर गाली देने देती है.

पच्चीसों थानेदार बदले. कस्बा बदला. बिजली आयी. कॉलेज

खुले, पुरानी पीढ़ी मर खप गयी, चीन से लड़ाई हो ली, नेहरू जी चल बसे, इन्दिरा जी का राज्य आया, इमरजेंसी आयी पर हुल्ले नहीं बदला. लोग मोर को भूल गये. उसकी हत्या को भूल गये यहाँ तक कि हुल्ले को और उसकी रोज की गाली गलौज को भूल गये. पर हुल्ले ने मोर की हत्या से शुरू की गालियाँ थानेदार को देना नहीं छोड़ा. जैसे उपवास करने, मन्दिर जाने, सन्ध्या पूजन करने का नियम लोगों का मरते दम तक नहीं टूटता, हुल्ले का यह क्रम नहीं टूटा. अगर हिसाब लगाया जाये तो तीस-पैंतीस वर्षों में उसने पुलिस के हजारों बेंत खाये, पचासों बार हवालात में पटका गया, सैकड़ों बार उसकी औरत ने जुर्माना देकर उसे छुड़ाया, पर उसने कभी नहीं कहा कि थानेदार को गालियाँ देना छोड़ दो.

यदि आप कभी उस कस्बे में गये हों तो आपने शाम को देखा होगा कि लोग सड़क पर आ जा रहे हैं और एक काला कमजोर कच्ची शराब के नशे में चूर थाने के आगे खड़ा-खड़ा थानेदार को चुनौती दे रहा है, गालियाँ बक रहा है और किसी का भी उसकी ओर ध्यान नहीं है. लोगों के लिए यह एक रोजमर्रा की चीज हो चुकी थी, जैसे कुत्तों का भौंकना, बिजली के खम्भों का एक जगह खड़े रहना, और पेड़ का हिलना आदि. लोग तो यह तक भूल गये थे कि वह गालियाँ देता क्यों है. जब कोई नया थानेदार आता तो वह बौखलाकर कार्रवाई करता. फिर उसे थाने के पुराने लोग समझाते कि साहब इसके मुँह क्या लगना यह तो जमाने से यही करता आ रहा है. इसे काटकर भी फेंक दो तो भी यह गालियाँ बकने से बाज नहीं आयेगा. थानेदार अगर थोड़ा विनोदी स्वभाव का हुआ जैसा कि मुश्किल से ही होता है, तो वह हुल्ले से उलझना छोड़ देता और अगर लंठ हुआ जो कि एकदम स्वाभाविक है तो वह हुल्ले को मारेगा भी, इसे बन्द भी करेगा, उसकी औरत से रुपये भी ऐंठेगा.

सनकी और जिद्दी आदमी कितना अच्छा लगता है जब उसकी जिद और सनक में उसका अहंकार नहीं होता. गरीब है कमजोर है और विपत्तियों में किसी सहारे के लिए हाथ नहीं फैलाता बल्कि सामना करता हुआ पिटता चला जाता है. नहीं चाहता कि कोई उसकी ओर ध्यान दे, आखिरी साँस तक अपनी जिद और सनक में रहता है. कितना मुश्किल होता है एक ऐसा आदमी जबकि बस्तियाँ आबादियों से भरी पड़ी हैं. कितने कम लोग इस तरह जीते हैं जिन्हें कुछ भी बटोरना नहीं है, न किसी को लूटना है. किसी से कुछ नहीं चाहिए. शिकायत नहीं, किसी पर हमला नहीं. बस जो अपनी भावना की एक लहर में जी रहे हैं. हुल्ले इसी तरह जिया और इसी तरह मरा.

एक थानेदार आया पांडे. नवाबी इसका ठाठ था. बहुत बड़ी तोंद पर बेल्ट लपेटे जब वह बस्ती में निकलता तो हाथ का बेंत, कमर की पिस्तौल, नुकीली मूँछें देखकर अच्छों-अच्छों के गले सूखने लगते. वह इतनी जोर से चिल्लाता कि अगर खरगोश खड़ा हो तो बिलट जाये. वह दो बीबियाँ अपने साथ लेकर आया था और यहाँ-वहाँ मुँह मारने के लिए साँप की तरह बस्ती में फिरता था. दिन भर खाने के बाद रात भर पीता था. उसके डर से बदमाश शरीफों की तरह और शरीफ गुलामों की तरह चलते थे. गलियों में भूँकने वाले कुत्ते उसे देखकर दुम दबाये नाली में घुसने लगते थे और पक्षी पेड़ों से जान छोड़कर भागते थे. बिल्लियाँ उसे देख लें तो मुँडेरों से फिसलकर नीचे गिर पड़ें. गायें गोबर कर दें. और कनखजूरे अपने कान में घुस जाएँ. उसने थाना ढाई लाख में खरीदा था और तीन साल में उसे दस लाख चाहिए थे. ऊपर से नीचे तक उसकी ऐसी पकड़ थी कि वह किसी की आँतें निकालकर फेंक दे तो भी कहीं सुनवाई न हो, अभी जब वह आया भी नहीं था बस्ती में, उनके आने की खबर से दहशत फैल गयी थी. पूरे इलाके में उसका हल्ला था. लोग डाकुओं से इतना नहीं डरते थे. आने पर उसका सभी ने स्वागत किया. स्वागत हुल्ले ने भी किया.

उस महाबली थानेदार ने गाली कभी सुनी नहीं थी इसलिए वह एकदम पागल-सा हो गया. वह इतनी जोर से चिल्लाया कि थाने की मजबूत दीवारें हिल गयीं और कमजोर दीवारें गिर पड़ी. दरवाजों और खिड़कियों के पल्ले भड़भड़ाने लगे और सड़क पर जो जहाँ था वहीं गिर पड़ा. हवा रुक गयी और बल्बों की रोशनी इतनी तेजी से बढ़ने लगी कि मानो उनमें आग लग गयी हो. उस सन्नाटे में हुल्ले की आवाज ऊँची होती गयी, 'निकल पांडे तेरी माँ की.'

थानेदार ने झपटकर हुल्ले की गरदन पकड़ी और उसे इतनी जोर से फेंका कि वह सीधा अपने कछवारे में गिरा. फेंककर वह उसे ढूँढ़ने लगा पर वह मिलता कैसे! मील भर दूर जो पड़ा था. उसकी हड्डी पसली बराबर हो गयीं थी पर उसने इतनी जोर से गाली दी कि थाने पहुँच गयी, 'निकल पांडे तेरी थानेदार...' सारे सिपाही सड़क पर दुकानों में नालियों में हुल्ले को ढूँढ़ने लगे. और थानेदार पैर चौड़ाये बेंत लिये बीच सड़क पर खड़ा हुआ फुत्कार करने लगा. उसका क्रोध इतना भयानक था कि चाँद पीला पड़ गया और तारे आसमान में छेद करके पीछे निकल भागे.

'थानेदार तेरी बहन...' हुल्ले की गालियाँ उसके भारी सिर पर गिरीं तो उसके मुँह से झाग निकलने लगा. उसने हवा में बेंत घुमाया, फायर किया और चिल्लाया, "कहाँ है साले सामने आ."

मील भर दूर कछवारे में यह चुनौती पहुँची तो हुल्ले ने खींचकर गाली मारी और चिल्लाया, 'इधर आ थानेदार के...' 'किधर! किधर!' थानेदार फनफनाता हुआ कई घरों के दरवाजे रौंदता छतों पर ऐड़ियाँ ठोकता लोगों की छातियों पर चलने लगा और गरजा, "किधर है तू!"

"इधर हरामी इधर कछवारे में..."

पूरा थाना कछवारे की ओर दौड़ा. थानेदार ने तीन डग में मील भर की दूरी नापी और काँटों की बाँगड़ में पड़े हुल्ले की गरदन पकड़कर उसे इतनी जोर से फेंका कि वह थाने में गिरा. सूने थाने में गिरते ही उसने कमर में खुसी शीशी की बाकी शराब चढ़ायी और चिल्लाया, "हरामी थानेदार पांडे साले मादर..."

आवाज कछवारे में पहुँची तो थानेदार ने कच्चे मकान को जूते की एक ठोकर मारी. मकान भरभराकर गिरा और मलबे में से एक औरत चिल्लाती निकली. थानेदार ने औरत देखी सिपाहियों से कहा थाने जाओ, मैं आता हूँ फिर वह औरत पर झपटा. काछिन बूढ़ी होकर भी मजबूत थी, वह मुकाबला करने लगी. पर थोड़ी

झूमा झटकी में ही वह समझ गयी कि बचेगी नहीं, शिकार होगी. वह छूटकर भागी पर थानेदार उसके चारों तरफ फैलकर उसे घेरने लगा. वह उसकी टाँगों के बीच से निकली पर थानेदार की पकड़ में उसका हाथ आ गया. काछिन ने छूटने के लिए इतनी जोर का झटका दिया कि उसका हाथ बाँह से उखड़कर थानेदार के हाथ में रह गया और वह भागकर कुएँ में कूद गयी.

थानेदार ने देखा कि औरत डूब मरी, औरत का हाथ ही रह गया और हाथ में सोने की एक चूड़ी है. उसने चूड़ी उतारकर जेब के हवाले की. काछिन के हाथ को और हाथ को बेंत की तरह हिलाता हुआ थाने की ओर चला.

सामने से हुल्ले चला आ रहा था. उसकी शराब उतर चुकी थी. उसने थानेदार को देखकर जुहार की और बढ़ने लगा तो थानेदार ने उसे काछिन का हाथ दिया और बोला, "ले जा यही बचा है."

बस्ती के एक स्वतन्त्रता सेनानी का इलाके भर में बड़ा नाम था, वे तो कभी के गत हो चुके थे मगर उनके लड़के-बच्चे थे और सरकारी पार्टी में उनका अच्छा असर था. खूब पैसा कमाने के बाद उन्हें यह बात खटकी कि उनके इतने महान पिता का कोई स्मारक नहीं है. वे लोग पांडे थे और फिर थानेदार भी पांडे थे. फिर उनका आपस में बड़ा मेल भी था. एक दिन उन्होंने थानेदार से अपने मन की बात कही. थानेदार ने सारी जिम्मेदारी अपने सिर पर ले ली. जगह की तलाश शुरू हुई तो पता चला कि वे सेनानी हुल्ले के बाप के दोस्त थे, दोस्त तो नहीं थे पर अकसर हुल्ले के कछवारे में बैठकर कुछ विचार-विमर्श किया करते थे. तय पाया गया कि हुल्ले के कछवारे को उनके स्मारक में बदल दिया जाये. हुल्ले की जमीन से लगे हुए पांडों के बड़े-बड़े खेत थे. हुल्ले का कछवारा सड़क किनारे था. हुल्ले के पास जब यह खबर भेजी गयी तब वह प्लास्टर बाँधे खाट पर पड़ा था और एक किसान उसके लिए चिलम भर रहा था.

उस रात की घटना के बाद से हुल्ले बाहर नहीं निकला था. उसने औरत गँवा दी थी. सिर्फ उसका मुर्दा हाथ सूखा पड़ा था. जिस हाथ से वह हुल्ले के कछवारे में काम करती थी, उसे छुड़ाने के लिए, पुलिस के आगे रुपया फेंकती थी हुल्ले को सम्भाले हुए थाने से बाहर लाती थी. वही हाथ खाट के नीचे पड़ा था.

पांडों के आदमी ने कहा, "इसके बदले में तुम्हें कहीं और जमीन मिल जायेगी" भैया ने कहा है वहाँ कुआँ भी खुदवा देंगे.

"नहीं, हम यह कुआँ नहीं छोडेंगे. इसमें जनी है."

तभी कुएँ में से आवाज आई मत छोड़ना... 'मत छोड़ना.'

"...नहीं छोड़ूँगा कभी नहीं छोड़ूँगा."

कुएँ में से फिर आवाज आयी 'मत छोड़ना. मत छोड़ना.'

पांडों का आदमी आवाज से डर गया. और बिना कुछ बोले जल्दी से भाग गया. शाम को हुल्ले ने किसान से पगड़ी बँधवायी, बंडी पहनवायी और कलारी की तरफ घिसटता चला गया. सड़क पर किसी ने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया. दीवाली का दिन था. खूब रोशनी थी. लोगों ने नये कपड़े पहन रखे थे. दुकानों में लक्ष्मी पूजन हो रहा था और हलवाइयों के यहाँ लोगों की भीड़ लगी थी.

कलारी तक के रास्ते में हुल्ले दस बार बैठा होगा. किसान उसके साथ था और उसे सहारा दे रहा था. कई दिनों बाद उसने दारू पी, उसे शरीर में ताकत महसूस हुई और वह थाने की ओर घिसटता चल पड़ा. वह लड़खड़ाकर गिरने को होता तो किसान उसे थामने लगता, पर वह झटके से उसके हाथ हटा देता. थाने के आगे जाकर उसने चिल्लाकर थानेदार को ललकारा और गालियों की झड़ी लगा दी.

थाने के आँगन में थानेदार कुछ मुअज्जिजों के साथ बैठा जुआ खेल रहा था. उसने बाहर देखा और चिल्लाया, "पकड़ो और यहाँ लाओ."

दो सिपाही हुल्ले को उसकी गालियों समेत घसीटकर भीतर ले गये. थानेदार कुर्सी से उठा और उसने अपने भारी बूट से हुल्ले की छाती कुचल दी. हड्डी चरमराई सी आवाज हुई और पूरी बस्ती का फ्यूज उड़ गया. सिर्फ दिये टिमटिमाते रह गये. थाने में अंधकार छा गया. थोड़ी देर में मेज पर दो मोमबत्तियाँ जल उठीं. इसे घसीटकर बाहर फेंक दो, थानेदार आदेश देकर फड़ पर जा बैठा और अपने पत्ते सम्भालने लगा.

सिपाहियों ने हुल्ले को घसीटा तो उसकी चरपट छाती वहीं फैल गयी. जितना बन सका वह बाहर फेंक दिया गया. किसान ने उसे अपने गमछे में बाँधा और कछवारे की ओर चल पड़ा, तभी लाइट आ गयी.

दूसरे दिन बस्ती के लोगों ने एक मोर देखा. मोर की चोंच में काछिन का सूखा मुर्दा हाथ था. मोर कछवारे से निकला और चौपड़ा की ओर बढ़ने लगा. उसके सुनहरे पंख फैले हुए थे. लोग उसके पीछे लग गये. जब वह थाने के सामने पहुँचा तो रुक गया और नाचने लगा. उसके नाचने के लिए बारिश होने लगी. लोग भीगते हुए उसे देखते रहे. थोड़ी देर नाचने के बाद वह चौपड़ा की ओर बढ़ा. उत्सुक लोग उसके पीछे-पीछे चौपड़ा तक गये. उसने चौपड़ा का एक चक्कर लगाया और चोंच में औरत का हाथ दबाये हुए लोगों के देखते-देखते चौपड़ा के पानी में डूब गया. थोड़ी देर बुलबुले उठते रहे फिर पानी शान्त हो गया.

हुल्ले को मरे बरसों गुजर गये हैं. उसकी जमीन पर पांडों के पिता का स्मारक बन गया है. स्मारक को घेरे सुन्दर सघन बगीचा है. कुएँ की जगत सीमेंट की हो गयी है. बहुत दिनों तक तो उस कुएँ से किसी ने पानी नहीं लिया फिर सबकुछ भूल-भाल गये. बगीचे में पिकनिकें होती हैं तो लोग उसी कुएँ का पानी पीते हैं.

एक दिन कुएँ से पानी खींचा जा रहा था तो बाल्टी बहुत भारी लगी. खीचने वाले ने झाँककर देखा तो बाल्टी में एक बालक को देखकर वह चकरा गया. गनीमत कि, वह घबराया नहीं और उसने सम्भालकर बाल्टी ऊपर खींच ली.

सब उसे घेरकर खड़े हो गये. वह एक साँवला लड़का था जिसकी बड़ी-बड़ी स्वच्छ आँखें थीं.

"क्या तुम कुएँ में गिर थे?"

"मैं नहीं, मेरी माँ गिर गयी थी."

"तुम्हारी माँ गिर गयी थी?...तुम्हारा बाप कौन है?"

"हुल्ले काछी...!" बताकर लड़का मुस्कराने लगा. कौन हुल्ले काछी?

वे लोग हुल्ले काछी को नहीं जानते थे. ▣

◆ कहानी ◆

पत्थर

●

नवीन सागर

जिला कचहरी के सामने बस मिली जो खेतों, उजाड़ों, गाँवों को छोड़ती घंटे भर में वहाँ के बस स्टैंड पर पहुँची. उतर के थाने के बगल से जैसे ही मुड़े कि बायें जूतों की दुकान दिखी. दुकान पर जो सज्जन काली बंडी पहने बैठे दिखे उन्हीं की कहानी यहाँ कहता हूँ. कुल नाम उनका खरयाजी, रंग उनका काला और चेहरा उनका ऐसा कि लगे पहले भी कहीं देखा है. मुस्कान लगाव भरी और आँखें हर चीज को पहली बार देखने-सी चमक से भरी हुई. मुँह में तम्बाकू और हाथ तम्बाकू के बटुए को खोलते बन्द करते राम-राम करने के लिए जुड़ते-उठते हुए. बालों में खूब तेल और माथे पर चन्दन की टिपकी. धोती कमीज. उम्र पैंतालीस-पचास. खाते-पीते बाल-बच्चेदार. निजी मकान. माँ-बाप के अकेले जो इन्हें अकेला छोड़ के बरसों पहले जा चुके. तीन लड़कियाँ. एक लड़का अभी छोटा. पत्नी सीधी और खुद भलेमानुस. इन्हीं खरयाजी की कहानी कहता हूँ.

शुरू से ही खरयाजी को लोग इतने अच्छे लगते रहे कि वे दुकान पर बैठे उन्हीं को देखें, हर आदमी से बात करने का उनका मन. मेलों ठेलों में खूब जाते और लोगों के बीच में फँसे उनके धक्के खाते हुए पुलक उठते और उन्हीं में धँसते चले जाते. दुकान से घर लौटते तो रास्ते में पचास जगह रुकते, चबूतरों पर बैठते-उठते हुए बमुश्किल घर पहुँचते मुँह-हाथ धोते और चबूतरा धोने लगते. उस पर बैंच, कुर्सियाँ, एक खाट और एक तरफ बड़ी दरी डाल देते. मुहल्ले के लोग आने लगते और थोड़ी ही देर में दरी पर ताश जम जाते. कुर्सियों पर दो एक बुजुर्ग आ बैठते और बैंच शतरंज खेलने-देखने वालों से घिर जाती. चबूतरा बहुत बड़ा और उस पर दो तरफ से रोशनी—सड़क के खम्बे की बिजली और खरयाजी के पौर की देहरी पर लटकता बल्ब.

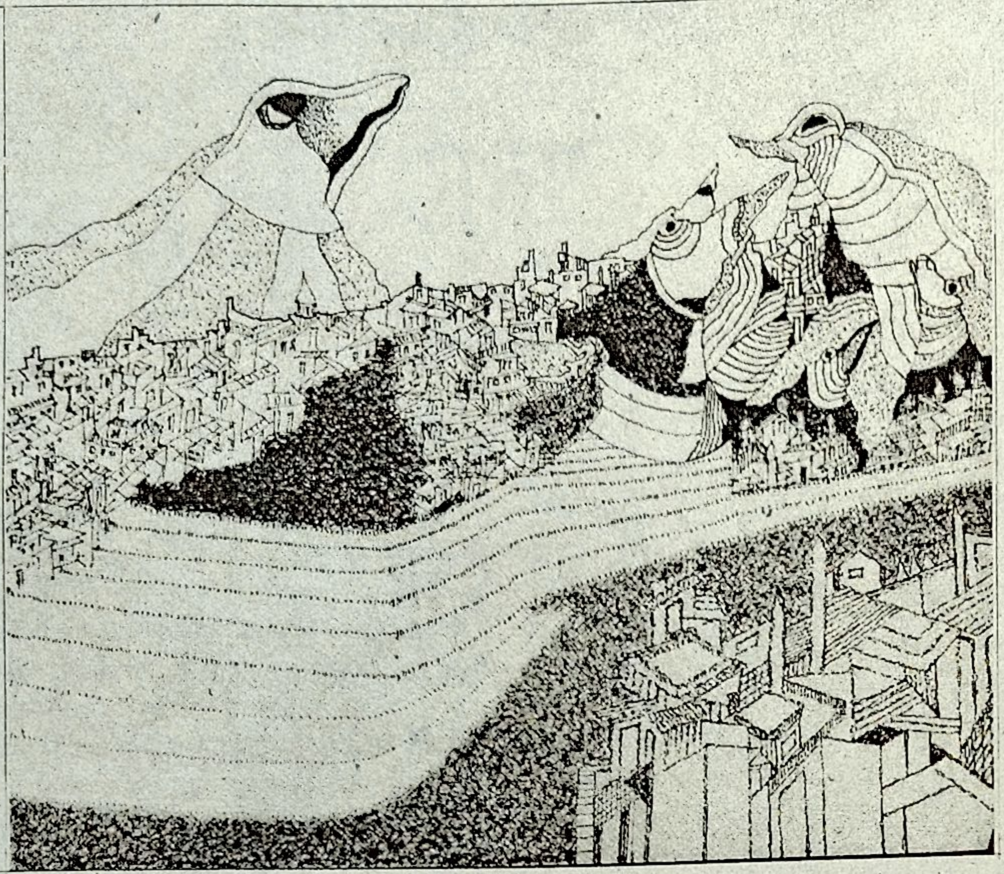
खरयाजी बुजुर्गों से बातें करते हुए बीच-बीच में पानी के लिए भीतर को आवाज देते. कभी उठके ताश या शतरंज के फड़ पर खड़े हो जाते खूब बोलते-हँसते लोगों को ध्यान रखते हुए खुश नजर आते. वे बीमार पड़ जाते तो भी चबूतरा आबाद रहता और वे भी थोड़ी देर के लिए ओढ़-लपेटकर बाहर जरूर निकलते. त्यौहारों पर तो चबूतरे पर उत्सव ही उत्सव.

खरयाजी ऐसी बातें करते—'दद्दा, गाय विष्टा खाती है मन्दिर के सामने घूरे बना लिये हैं. माँ-बाप को लात मारते हैं. आप समझते हैं आप ही यह सब भोग रहे हैं. अरे सब भोग रहे हैं.'

खरयाजी ऐसी बातें करते—'आप हफ्ते भर से नहीं दिखे. मुझे लगा मुझसे कोई गलती हुई. फिर मैंने पता किया. आप आज न आते तो मैं सुबह आपके यहाँ पहुँच जाता.'

वे खाना जल्दी-जल्दी खाते और बाहर को लपकते. वे मकान के बिल्कुल बाहरी कमरे में लेटते और यदि उन्हें सोता या लेटा देखा जाये तो वे बाहर को बहते से लगेंगे. वे सड़क पर अकेले हैं तो लोगों की ओर लपक रहे हैं और दुकान पर बैठे हैं तो सँकरी सड़क पर देहातियों की भीड़ से घिरे मगन. एक बार वे अपने मामा के गाँव गये. शाम को गाँव में घुसे कि सूरज एकदम डूब गया और चन्द्रमा आके आसमान में यहाँ से वहाँ भागने लगा. उसका रंग पहले तो पीला पड़ा फिर काला-सा पड़ गया. वे तो चकरा गये और उन्हें लगा आसमान सिर को आ रहा है. एक मकान के छप्पर से लुढ़कती हुई बिल्ली नीचे ऐन उनके आगे गिरी. मुँह से फसूकर छोड़ती वह मर गयी. अपशकुन सा लगा. डरते-डरते आगे बढ़े तो दूर सियार रोने लगे. कौआ काँव-काँव करता निकल गया. सारे घरों के द्वार बन्द. न कोई भीतर न बाहर ही कोई. सामने मामा का घर. चबूतरे पे चढ़के साँकल बजायी. किवाड़ खुल गये. और एक लम्बा हड्डियों का ढाँचा सरीखा बूढ़ा आदमी दिया लिये खड़ा दिखा. बोला, 'क्या है इतने पीछे क्यों आये हो?' फिर उस बूढ़े ने अपना नाम बताया. वह नाम मामा की बैठक में टँगी वंशावली में बहुत पीछे. वे काठ के हो गये. कनपटियाँ उनकी जलने लगीं. तभी द्वार बन्द. वहाँ से भागे और जल्दी ही गिर पड़े. ऐसी बातें उनके साथ अकसर हो जाया करतीं. वे एक मेले में गये. बहुत बड़ा मेला. जहाँ तक देखो लोग ही लोग. खरयाजी उस ठेलमठेल में फिरते-फिरते एक सिरफिरे के फेर में आ गये. उसने इनसे कहा कि आँखें बन्द करो. इन्होंने आँखें बन्द कर लीं. बहुत देर तक तो ये आँखें बन्द किये रहे पर जब होश आया कि सन्नाटा-सा छा गया है तो आँखें खोलीं. देखा कोई नहीं. न वह सिरफिरा न मेले के वे अपार लोग. सुनसान और अँधेरा.

पिछली गर्मियों की बात है. खरयाजी ने उस दिन घर पर ठंडाई छनवायी, कई लोगों को बुला भेजा और खुद भी अँधेरा होते ही दुकान से उठ आये. वे जब अपने घर की गली के मोड़ पर पहुँचे तो अचानक उनके माथे से एक बड़ा पत्थर आ टकराया, फौरन खून की धार लग गयी. खरयाजी सम्भल भी नहीं पाये कि कान के पास से एक पत्थर सन्न से निकला दीवार से टकराया और तीसरा पत्थर उनके कान के ऊपर सिर में लगा. वहाँ से भी



खून बहने लगा. सबकुछ पलक झपकते ही हो गया. गली में तब सामने से एक गाय आ रही थी और पटवारी के चौंतरे पर दो लोग बैठे चिलम पी रहे थे. दोनों पटवारी के यहाँ कहीं से आये थे तो वे समझे झगड़ा मच गया. वे भीतर को भागे तभी एक एक लड़का साइकिल पर तेजी से आता गली में मुड़ा और उकड़ूँ बैठे खरयाजी से टकराते समय साइकिल के साथ उन्हीं पे बिखर गया.

पत्थर किसने मारे और क्यों मारे! खरयाजी का कोई दुश्मन नहीं. कभी किसी से बे ते तक नहीं हुई. जायदाद का किसी से विवाद नहीं, पैसे का गन्दा लेन-देन नहीं, पार्टी बन्दी में वे कहीं शामिल नहीं, राजनीति से उदासीन, निन्दारस से अनजान, औरतों के मामले में हद दर्जे के शरीफ, जरा सा धन्धा जरा सी कमाई. धन्धे में किसी से कोई होड़ नहीं. जूतों की उनकी अकेली दुकान. किसी से वादा करके कभी मुकरे नहीं किसी को ताना कभी मारा नहीं. किसी को गाली कभी दी नहीं किसी की नाराजी मोल ली नहीं. हँसते रहे लोगों में आते-जाते रहे. न दंद में न फंद में फिर भी ऐसा! एक नहीं तीन पत्थर, मामूली नहीं बड़े निशाना साधके, यहाँ-वहाँ का नहीं सिर का और वह भी अचूक!

लोगों को बड़ा ताज्जुब. तिवारी डॉक्टर की दुकान पर मुहल्ले वालों के चकराये हुए चेहरे झुके हुए चिन्तित. उधर मुहल्ले में उस तरफ की छतों की छानबीन जिस तरफ से पत्थर. पन्द्रह-बीस घरों में कोई भी ऐसा नहीं जिस पर शक जाये. कोई ऐसी छत नहीं जिस पर पत्थर हों और कोई ऐसा बाशिन्दा नहीं, जो मारने वाले को खोज न रहा हो. तो क्या हमला भूतों ने किया? लोगों ने खरयाजी से कहा पुलिस में रिपोर्ट करना चाहिए. पट्टियाँ बाँधे आँखें बन्द किये वे चुपचाप लेटे रहे. उन्हें गहरा सदमा लगा है डॉक्टर ने कहा और लोग भी उनका चेहरा देखकर डर गये. चेहरा मानो अनजान और बहुत दूर, चेहरे पर मानो एक जाना पहचाना चेहरा बेजान. लोग अपने काम-धाम में लग गये. खरयाजी ने बिस्तर पकड़ लिया. घर में उनका ठिकाना भीतरी कमरे में बन गया बाहर का उनका कमरा उजड़ गया. कोई उन्हें देखने जाये तो कुछ बोलें नहीं, किसी चीज की जरूरत हो तो घर वालों से माँगें नहीं. दर्द उठे तो कराहें नहीं, दवा खाना भूल जायें और खाना इतना कम और ऐसे खायें कि क्या जरूरत. पन्द्रह बीस दिन में घाव भरे.

इस दौरान उनके बच्चे शाम को चबूतरा धो डालते, खाटें कुर्सियाँ बैंच वगैरह बाहर निकालते, दरी बिछाते. लोग थोड़े हिचके हुए पर आदत के मारे जमा होते. खेलते बातें करते भीतर जाकर उन्हें देखने वाले सहमे हुए से लौटते. एक शाम खरयाजी चादर लपेटे बाहर आये दो लोगों ने लपक के उन्हें सहारा देना चाहा पर उनकी उदासीन मन्थर चाल के आगे ठिठके रह गये. वे कुर्सी पर कुछ देर बैठे रहे. बोले किसी से कुछ नहीं. एक बार मुख पर हल्की मुस्कान झलकी और खो गयी. उनके एक परम मित्र भुल्ले से उनकी कुछ बातें हुई. बातें भी क्या उन्होंने भुल्ले की बातें सुनके इतना भर कहा... 'क्यों आखिर! और वह सामने क्यों नहीं आया. वह तो कोई नहीं या फिर हर कोई नहीं फिर हर कोई.'

कहते हैं कि आदमी बड़े से बड़े सदमे से उबर आता है.

कहते होंगे पर खरयाजी का क्या करें! ठीक हो गये, दुकान जाने लगे पर हँसना-बोलना उन्हें नहीं आया. गरदन झुकाये गुजर जाते. ग्राहकों से हँसी-मजाक का खेल नहीं. उचाट-उचाट. चबूतरे पर लोगों का जमघट तो होता पर खरयाजी अकसर घर के भीतर ही रह जाते, बाहर आते भी अगर तो ऐसे मानो सूने में बैठे हों. जल्दी ही उठ जाते. बातों में शामिल नहीं सुन भी रहे भरोसा नहीं. किसी ने गली में रोका तो उसकी सुन ली कुछ पूछा तो उसे देखते रह गये. कोई घर आया उसका सत्कार हो गया पर उदासीनता वैसी ही बनी रही.

आखिर लोग खीझ गये. उनके बारे में धीरे-धीरे बुरी भली बातें होने लगीं. कुछ लोगों ने कहा कि वे बहुत डर गये हैं और उन्हें हर आदमी पर शक है. किसी ने कहा एक जरा सा झटका नहीं सह पाये. यानी वह प्रेम भाव सब पाखंड था. किसी को आशंका हुई कि सिर पर चोट लगने से दिमाग पर उसका असर हुआ है और यह एक तरह का पागलपन है. उनके बच्चे सहम गये और अपने पिता से उन्हें डर लगने लगा. उनकी शान्त सौम्य पत्नी का चेहरा दुःख और चिन्ता से मलिन पड़ गया और वे पड़ोसिन के आगे बात-बात पर रोने लगीं.

पर कोई क्या करे कि जाती हुई गर्मियों की शाम फिर वही हुआ. खरयाजी घर की गली में मुड़े ही थे कि पत्थर सन्नाता हुआ उनके माथे से टकराया, दूसरा सर्र से निकल गया और तीसरा सिर पर लगा वे गिर पड़े. खून की धारें लग गयीं. एक लड़का साइकिल समेत तेजी से मुड़ा और उनसे टकरा के उन्हीं पर बिखर गया. गली में कोई नहीं एक गाय सामने से उदास आती हुई. पटवारी के चौंतरे पर चिलम पीते लोग भीतर को भागे कि बचो झगड़ा मच गया.

तिवारी डॉक्टर के यहाँ पट्टी हुई. मुहल्ले वाले चकरा गये. इसलिए नहीं कि दुबारा ऐसा हुआ बल्कि इसलिए कि छानबीन में पाया गया कि मुहल्ले भर की छतों पर पत्थर ही पत्थर हैं जैसे हमला करने की तैयारी. पर किसी भी घर में ऐसा कोई नहीं जो कबूले कि उसने...और शक भी किसी पर नहीं. खरयाजी के मित्र भुल्ले की छत पर भी पत्थर! भुल्ले माथा पकड़कर बैठे. खरयाजी घर के भीतरी कमरे में पट्टियाँ बाँधे कम्बल से ढँके और भुल्ले गरदन झुकाये कहते मेरी छत पर भी पत्थर! मेरे अलावा घर में सब जनियाँ, कौन करेगा ऐसा. फिर मुझसे किसी की क्या दुश्मनी. मानो पुलिस में रिपोर्ट करो. पर खरयाजी ने कोई रिपोर्ट नहीं की वे पहले से भी चुपचाप हो गये. उन्हें देखो वे जीवन से पूरी तरह उखड़े. आँखें खोले छत पर टकटकी बाँधे हैं. रात-रात भर अनिद्रा रात भर सपने. हर सपना उलझा हुआ अँधेरा बेआवाज दूर डूबता हुआ.

चबूतरा एक तरह से उजड़ गया. धुला-पुँछा, दरी बैंच कुर्सी खाट बल्ब सबकुछ वैसा ही पर लोग नहीं, अगर लोग हैं तो इक्का दुक्का, न ताश न शतरंज. एक दिन खरयाजी चादर लपेटे बाहर आ बैठे. दो लड़के दरी पर बैठे ताश खेलते हुए उन्हें देखते ही लज्जित हुए और खेल बन्द हो गया. खरयाजी उन्हें देख के तनिक मुस्कराये और फिर सिर झुका के बैठे रहे. लोग आये क्यों नहीं, सबकी छतों पर पत्थर मिले सब क्या सन्देह के घेरे में आकर दूर रह गये? कौन जाने खरयाजी क्या सोचते बैठे उन दो लड़कों का चुपचाप जाना देखते रहे फिर उठके भीतर को जाते रो पड़े, और जोर से रो पड़े. घर में उनके रोने की आवाज दीवारों में घिरी. वे भीतर और भीतर के कोठे में जाते हुए. बाहर चबूतरे का बल्ब बुझा. गली से कुछ लोग उस अँधेरे में आँखें फाड़-फाड़ के देखते हुए गुजरे.

कई दिनों बाद वे दुकान गये. पैदल नहीं लड़के ने साइकिल के कैरियर पर बिठाया. चलने-फिरने में उन्हें दिक्कत नहीं पर एक कदम भी उठाने की इच्छा नहीं. चलने के लिए एक के बाद एक पैर उठाना जरूरी. और उनके लिए कुछ भी जरूरी नहीं. रास्ते पर लोगों की राम-राम पर गरदन झुकाये हुए. दुकान पर भी ऐसे ही. सावन के कारण बाजार में भीड़ बहुत. देहातियों के झुंड के झुंड दुकानों को घेरे, ढीली गाड़ियाँ, उनींदे बैल, राखी के रंगों की जगह-जगह झिलमिल. खरयाजी दुकान पर अपने पटे पर बैठे. बैठते ही उन्हें क्या हुआ कि ग्राहक भौंचक, उनके माथे से खून की धार! न किसी ने मारा न कुछ घाव न छेद. धार के रुकने का नाम नहीं. लोग दौड़े उन्हें उठा के हाथ ठेले पर लिटाया और तिवारी डॉक्टर की दुकान पर. भीड़ लग गयी. डॉक्टर चकरा गया खून पोंछा तो और खून जहाँ से निकले वहाँ कुछ नहीं पुरानी चोट का निशान. उसकी समझ में कुछ नहीं आया. दूसरा डॉक्टर बुलाया गया पर वह भी क्या करे. थोड़ी देर में खून अपने आप रुका.

दूसरे दिन फिर हुआ. वे साइकिल पर बैठे अभी दुकान तक पहुँचे भी नहीं कि माथे से खून की धार! इस बार जिला अस्पताल ले जाया गया. बड़े डॉक्टर हैरान कि कुछ भी नहीं है न जाने खून कैसे निकला ऐसा केस पहले कभी आया ही नहीं.

चार दिन बाद फिर वही हुआ. वे अकारण ही मन्दिर के आगे साइकिल से उतर के खड़े हो गये. बहुत दुबले पुराने और भूली हुई चीज सरीखे तुच्छ. वहाँ खड़े उन्हें बहुत देर हो गयी. लड़का साइकिल टिका के एक ओर बैठ गया. तभी उनके माथे से खून बह निकला. ज्यादा नहीं बहा. लड़के ने रुमाल से खून पोंछा. वे लड़के से बोले तुम घर जाओ और खुद एक अँधेरी गली में खो गये. लड़का कुछ भी समझ नहीं पाया और घर लौट गया.

बहुत रात तक खरयाजी घर नहीं लौटे. मुहल्ले में लोगों को पता चला तो खोजबीन शुरू हुई. भुल्ले बाबू अपनी मोटर साइकिल निकाल लाये. पूरी बस्ती में रातभर वे भटके. कई घर खटखटाये, स्टेशन, बस स्टैंड पर पूछताछ की पर कोई नतीजा नहीं. थाने में सूचना दी. तब तक सवेरा हो गया. राव साहब की बगिया से एक लड़का घबराया हुआ बाहर निकला और चिल्लाने लगा. सुबह घूमने वाले इकट्ठा हो गये. खरयाजी के मुहल्ले भी खबर पहुँच गयी. राव साहब की बगिया खरयाजी की प्रिय जगह. वे रोज सुबह वहाँ के कुएँ पर नहाते और पत्थर के गोल चबूतरे पर ध्यान करते. उसी चबूतरे पर दायीं करवट लेटें दिखे. उनके माथे से बहा उनका खून चबूतरे के नीचे गड्ढे में. कुछ झाँकने पर क्या दिखा. उनके चेहरे की जगह एक चेहरा दिखा. पूछते हैं और क्या दिखा! ▣

◆ कहानी ◆

घोड़े का नाम घोड़ा

नवीन सागर

यह दुनिया अजीब आफत की जगह है. कैसे-कैसे सिर गये, कैसे-कैसे जवान खत्म हो गये, कैसे-कैसे बाग उजड़ गये, कैसी-कैसी महफिलें कहानियाँ बन गयीं, कैसे-कैसे फूल मुर्झा गये, कैसे-कैसे लोग गुजर गये, कैसी-कैसी महफिलें उखड़ गयीं और कैसे-कैसे काफिले कूच कर गये. अजीजों ने क्या-क्या जिल्लतें झेलीं और क्या-क्या लोग थे जो मौत के घाट उतर गये. इन आँखों ने क्या-क्या कुछ देखा और इन कानों ने क्या-क्या कुछ सुना!
यह दुनिया एक बड़ी कहानी जैसी है, जिसका एक टुकड़ा हमने बयान किया. बाकी टुकड़ा कोई दूसरा बयान करेगा. —मीर

मुझे घोड़ों से बहुत प्यार है. पर वे ज्यादातर मेरी कल्पना के घोड़े हैं. सचमुच के घोड़ों को देखकर तो मुझे दुख ही होता है. ताँगे में जुता घोड़ा कितना निरीह! रेस दौड़ता घोड़ा भी एक दयनीय चीज! सर्कस में या खेलों में खिलाड़ियों को पीठ पर लादे वे जब करतब करते हैं तो अस्तबल की गन्ध में फैली उनके चुपचाप सिसकने की आवाज आती है. ताज्जुब की बात है कि आज तक ऐसा कोई घोड़ा नहीं दिखा जिसका कोई मालिक न हो. जानवरों में शायद इससे ज्यादा अभागी कोई कौम न होगी. घोड़ों को कितने युद्ध लड़ने पड़े, जबकि युद्ध से उनका कोई लेना देना नहीं था. पुराने जमाने में करोड़ों घोड़े इस धरती के युद्ध क्षेत्रों में मारे गये. अब लड़ाइयों में उनकी जरूरत नहीं रही तो वे कहाँ गये! ताँगों, बग्घियों, रथों के साथ घोड़े कहाँ गये? जो हमारे काम का नहीं वह धीरे-धीरे धरती से गायब होने लगता है. धरती उनकी भी माँ है पर किसी को भी माँ का रोना सुनायी नहीं देता.

मैंने पहली बार घोड़ा तब देखा, मैं जब छोटे में अपनी बुआ के घर गयी. कस्बाई स्टेशन पर फटे-चिरे ताँगों का झुंड था. उनमें कमजोर और लाचार घोड़े जुते थे जिन पर मक्खियाँ उड़ रही थीं. ताँगे वालों के चेहरे गर्दिश की मार में बुझे हुए से कुहरे में डूबे थे. मैंने पहली बार ताँगा देखा. कब क्या पहली बार देखा यह मुझे याद नहीं जैसे मैं नहीं बता सकती कि मैंने चाँद को पहली बार कब देखा और उसे देखकर मुझे कैसा लगा पर घोड़ों को मैंने पहली बार ताँगों में जुता हुआ देखा और मैं भूली नहीं हूँ कि उन्हें देखकर मुझे अजीब-सा लगा-जैसे वह मरघट देखा था जो मेरे स्कूल के रास्ते में पड़ता था. मैं जिस ताँगे में बैठी उसका घोड़ा इतना मरियल बेजान कि ताँगेवाला उसे चाबुक से मारता कोंचता जैसे-तैसे मेरी बुआ के दरवाजे तक ला पाया. उतरकर मैं घोड़े के पास से गुजरी तो मुझे लगा वह मरा हुआ है कभी गिरेगा नहीं, जैसे ताँगे और ताँगेवाले समेत वह कोई पूरा भूत पीछे छूट गया.

मैं एक बार अपने पापा के साथ एक चित्र प्रदर्शनी देखने गयी. वहाँ मैंने घोड़े का एक चित्र देखा. कलाकार ने उसे मानो बेहोशी में बनाया था. वह खुद को भूला हुआ था और रंगों में उसकी आकांक्षा का घोड़ा एक आभास की तरह अनायास उभर आया था. उस डूबते-उभरते घोड़े के पाँव हवा में उड़ रहे थे और उसकी अयाल ऐसी बनी थी जिससे उसकी रफ्तार का भान होता था. मैं उसे अपलक देखती रह गयी जैसे मैं उसकी रफ्तार में खिंचकर उड़ रही हूँ. मेरी धड़कन तेज हो गयी. मैंने पापा का हाथ पकड़ लिया. वह पहला घोड़ा था जो मुझे आजाद लगा. मेरी इच्छा हुई कि दीवारों पर टँगे सारे चित्र सूने होते और उस एक चित्र का वह घोड़ा अपार वेग से उड़ता हुआ हर चित्र में कौंधता. मैं उसे अबाध देखती और वह अचानक दरवाजे के पास वाले कैनवास से निकलकर बाहर ओझल हो जाता...!

प्रदर्शनी से बाहर निकलकर मैंने पापा से कहा, "कोई दिन ऐसा आयेगा पापा जब सब आजाद हो जायेंगे? जब सारे घरों के पिंजरे और जंजीरें खोली जायेंगी जब सारे ताँगों से घोड़े छोड़े जायेंगे सारे बैल, गायें और बकरियाँ और हाथी और चिड़ियाघरों सरकसों के सारे जानवर.

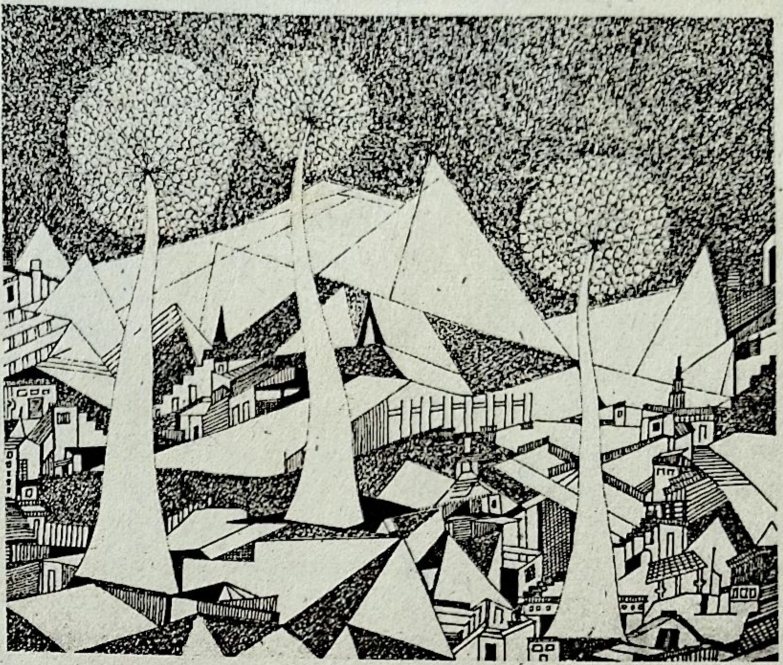
पापा हँसकर रह गये.

मैंने कहा, "पापा! क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जो आजाद नहीं हैं उनके पंख निकल आयें और वे सबकी पकड़ से बहुत ऊपर उड़ जायें! कुत्तों के सुअरों और भेड़ों और शेरों के और हाथियों के भी पंख...!" कहते-कहते मैं अपनी कल्पना से रोमांचित होकर खड़ी रह गयी. कैसा लगेगा सारी धरती से जब ये सताये हुए एक साथ उड़ान भरेंगे और लोग गरदनें और हाथ उठाये आसमान की तरफ देखते हुए थोड़ी दूर तक दौड़ते रह जायेंगे! पक्षी जब उड़ेंगे और कभी लौटेंगे नहीं, पेड़ जब उनके दुख में उनके घोंसलों के साथ धरती में समा जायेंगे!

पापा मुझे खोया देखकर मेरा कन्धा थपथपाते हुए बोले, "बड़ी होकर सब समझ जाओगी."

मैं झल्ला उठी. मैंने कहा, "क्या समझ जाऊँगी बड़ी होकर!" मैं क्या आदी हो जाऊँगी! नहीं बड़ा मुझे नहीं होना. पर मेरा बड़ा होना रुका नहीं. मैं आज पन्द्रह बरस की हूँ और जिसे देखो वही आँखें गोल करके कहता है, "अरे गुड़िया कितनी बड़ी हो गयी"

जबकि मुझे पता है कि मैं छोटी हूँ. पशु-पक्षी मुझसे अभी डरते नहीं हैं. कुत्ते मुझ पर भौंकते नहीं हैं, बिल्लियाँ मुझे देखकर म्याऊँ करती हैं मानो पास आ रही हों. किसी दिन गिलहरियाँ मेरे पास बैठी रहेंगी और चिड़िया मेरे कन्धों पर फुदकेंगी. बन्दर तो मुझे बहुत प्यार करते हैं. बुआ के घर के पास मन्दिरों, पेड़ों और खंडहरों के एक झुंड में बन्दरों का कुनबा रहता है. मैं जब गर्मियों में छत पर जागती हूँ तो लाल मुँह का बन्दर मेरे बालों में कुछ खोजता है. मैं जरा भी नहीं डरती वे मुझे जरा भी नहीं डराते. मेरी इच्छा होती है कि मैं बन्दरों के कुनबे में शामिल हो जाऊँ और उनसे कहूँ कि चलो.



चित्र : नवीन सागर

पर मैं इतनी बड़ी तो अब हो ही गयी हूँ, कि जानती हूँ कि बन्दरों के साथ जा नहीं सकती. बुआ के यहाँ से छुट्टियाँ बिताकर लौट आती हूँ तो यहाँ कभी किसी मदारी की रस्सी से बँधी बन्दरिया दिख जाती है या सरकस में साइकिल चलाता हुआ मलंग बन्दर कोई. घोड़ा तो एक नहीं दिखता. यहाँ ताँगे बहुत कम हैं सो भी पुराने शहर में. कभी क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जिस तरह सड़क पर आजाद मैं जा रही हूँ उसी तरह बगल में घोड़ा आजाद गुजर जाये जो किसी का न हो! मैं उसकी रफ्तार, उसके व्यग्र पुट्ठे, भाप छोड़ते उसके जीवन्त नथुने, हवा में उड़ती अयाल देखना चाहती हूँ. मैं चाहती हूँ उसके पंख हों बहुत सुन्दर, सुडौल और वह बादलों में खोता हुआ मुझे दिखे!

कहते हैं हर कल्पना और इच्छा पूरी होती है. यह प्रकृति आत्मा की धीमी से धीमी पुकार सुनती है. कोई संसार के किसी गहन कोने में सपना देखता है और वह सपना न कुछ में से आकर सच हो जाता है, उसकी शक्ल थोड़ी बदल जाती है. सपनों का जीवन में ठीक-ठाक अक्स नहीं उसकी झाँई पड़ती है. मैं जैसा घोड़ा चाहती थी वैसा तो नहीं पर कुछ उसकी याद सरीखा एक घोड़ा मुझे मिल गया. मैले हाथ-पाँव और फटे कपड़ों वाला एक लड़का दो घोड़े उँगली में लटकाये था. कपड़े के वे घोड़े बहुत सुन्दर थे. रंग हरा, पंख लाल, पूँछ पीली और मुँह भी पीला. गोटा किनारी और झिलमिल सितारों से टँके हुए वे घोड़े इतने अच्छे लगे कि मैंने उस लड़के को अपने पास बुला लिया. उसे पहचान गयी. वह अकसर मेरे घर के पिछवाड़े कचरे में से कागज प्लास्टिक लोहा वगैरह बीनने आता था.

उसने घोड़े मेरी ओर बढ़ा दिये. मैंने उन्हें हाथ में लेकर प्यार से छुआ और खुश होती हुई बोली, "तुमने बनाये हैं?"

वह बोला "हाँ! और मेरी माँ ने इन्हें सजाया है."

"क्या रोज बनाते हो?"

"हाँ, रोज बनाता हूँ."

"कितने बेच लेते हो?"

"कभी पाँच कभी दो. कभी एक भी नहीं."

"कितने का बेचते हो?"

"दस रुपये की जोड़ी."

मेरे पास चूँकि पाँच रुपये थे इसलिए मैं थोड़ा सकुचा गयी.

वह बोला, "ले लो."

मैंने कहा, "मैं एक ले सकती हूँ"

वह विनती करता-सा बोला, "दोनों ले लो, नहीं तो जोड़ी टूट जायेगी."

मैंने कहा, "जोड़ी टूट जायेगी तो क्या अकेला घोड़ा तुम्हारे पास रोयेगा?"

वह बोला, "एक आपके पास भी रोयेगा."

मैंने कहा, "मैं उसके आँसू पोंछ दूँगी."

वह मुस्कुराने लगा तो देखा उसके आगे के दो दाँत नहीं हैं.

मैंने पूछा, "तुम्हारे दो दाँत कहाँ गये?"

वह बोला, "मैं जब सो रहा था चूहे ले गये."

"अच्छा!" मैंने कहा, "बाकी दाँत क्यों छोड़ गये?"

वह हँसकर बोला, "वे जल्दी में थे फिर कभी आकर बाकी भी ले जायेंगे."

इस बीच मैं बराबर घोड़ों को देखती रही. उनमें से एक, जो दूसरे की तुलना में ज्यादा सुडौल और सुथरा था और जो मुझे अपनी ओर बड़ी ही आत्मीयता से देखता लग रहा था उसे मैंने साइकिल के कैरियर पर खड़ा कर दिया और पाँच रुपये बढ़ाकर दूसरा घोड़ा वापस कर दिया.

लड़का बोला, "इसे भी ले लीजिये. हम जोड़ी तोड़कर नहीं बेचते. एक आपकी साइकिल के कैरियर पर बैठा-बैठा गाना गायेगा दूसरे को आगे बिठा लीजिये, घंटी बजायेगा." मुझे हँसी आ गयी. मैंने कहा, "तुम बड़े चतुर हो जी!" तभी उसने घोड़े की एक टाँग से घंटी दबाकर बजायी और मेरी ओर देखकर मुस्कराने लगा. मैंने उसे एक चपत जड़ी और घर की राह ली.

मेरे दो छोटे भाई हैं, बड़ा और छोटा. बड़ा तो सीधा-सादा दुबला-पतला बुद्धू है जबकि छोटा बन्दर-सा मलंग ढीठ और खुराफाती. मेरी चीजों से छेड़छाड़ किये बिना उसका खाना हजम नहीं होता. मेरे भरे हुए गिलास को लुढ़काने से लेकर मेरी नेल-पॉलिश अपने हाथों पाँवों में पोत लेने तक वह क्या कुछ नहीं करता! उससे उलझे बिना रहना चाहती हूँ उसे माफ करके जीना

चाहती हूँ और वह है कि मेरे पीछे पड़ा रहता है. बिल्कुल मेरे जैसे उसके नाक-नक्श हैं पर उसके चेहरे पर शरारत का ऐसा भाव है जो उसे मुझसे एकदम भिन्न बना देता है. जब घोड़ा लेकर घर में घुसी तो वह न सम्भाल सकने लायक लम्बे बाँस से एक टिड्डे को मार रहा था. मेरे घोड़े को देखते ही चिल्लाया, "मम्मी, देखो गुड़िया कहीं से घोड़ा उठा लायी." फिर बाँस फेंककर मेरी ओर लपका और पलक झपकते घोड़ा उसके हाथ में था. उसकी आँखें चमकने लगीं और उसने मेरी ओर देखा, "मेरे लिए लायी हो न दीदी?"

मैंने कहा, "जी नहीं! अपने लिए लायी हूँ."

"तुम इतनी बड़ी इस घोड़े से खेलोगी! किसने दिया?"

"मैंने खरीदा है और इसे मैं अपनी डैस्क पर रखूँगी."

छोटा हँसने लगा और बोला, "तुम अगर इसे डैस्क पर रखोगी तो तुम्हारा मुँह इसी घोड़े जैसा हो जायेगा."

"किसका मुँह घोड़े जैसा हो जायेगा?" पूछता हुआ बड़ा कहीं से एकदम आया.

बड़े का भोला सशंक चेहरा देखकर मुझे हँसी आ गयी. वह सचमुच समझा कि घर में किसी का मुँह घोड़े जैसा होने वाला है. वह ऐसा ही है. यदि कोई उससे कहे तुम तो कुत्ते की पूँछ हो टेढ़े के टेढ़े रहोगे तो वह चौंककर पीछे देखेगा और कहेगा, "कहाँ है पूँछ! कहाँ है टेढ़ा!"

छोटा बोला, "ये जादू का घोड़ा है बड़े. अगर कोई इसे रोज देखे तो उसका मुँह घोड़े जैसा हो जायेगा."

सुनते ही बड़े ने अपना मुँह पकड़ लिया और दूसरी ओर देखकर बोला, "पापा से कहूँगा कि ये लोग ऐसी-ऐसी चीजें लाते हैं."

मैं बोली, "नहीं-नहीं, ये तो कपड़े का घोड़ा है जादू का नहीं. छोटा तुम्हें उल्लू बना रहा है."

पर बड़ा नहीं माना. वह भीतर जाते-जाते कह गया, "मैं इस घोड़े को घर में नहीं रहने दूँगा."

छोटा बोला, "दे दो गुड़िया. दे दोगी तो तुम्हें दीदी कहा करूँगा."

"क्या करोगे इसका?"

"सवारी करूँगा और क्या करूँगा."

"दो दिन में तोड़ दोगे."

कुछ कहने के बजाय अचानक वह घोड़े सहित भीतर भागा.

मैंने उसका पीछा किया. वह अम्मा के पीछे छिप गया. अम्मा जब से मोटी हुई हैं उनके पीछे छिपने की जगह निकल आयी है.

वे बोलीं, "ये झगड़े की जड़ लायी ही क्यों?"

पर मैंने घोड़ा छीनकर ही दम लिया. उसे अपनी डैस्क पर रखकर मैंने छोटे को चेतावनी दी, "अगर मेरा घोड़ा छुआ तो मार-मारकर तुम्हें गधा बना दूँगी."

मैंने बाथरूम में नहाते हुए बड़े की आवाज सुनी, "क्यों अम्मा! किसी लड़के को बहुत पीटा जाये तो वह गधा बन जायेगा?"

अम्मा हँसने लगीं और बोलीं, "तू पूरा गधा है भोला कहीं का."

रात को पापा जैसे ही लौटे बड़े ने उन्हें बताया कि घर में ऐसा घोड़ा लाया गया है जिसे देखने से घोड़े जैसा मुँह हो जायेगा. पापा हँसने लगे. छोटे ने मेरी शिकायत करते हुए ऐलान किया कि घोड़ा वह लेकर रहेगा. जबकि इस बीच मुझे उस घोड़े से प्यार हो गया था. उसके छोटे से मुँह पर सुन्दर मुस्कान थी. उसकी छोटी-सी पूँछ देखने में एक अजीब गुदगुदी थी, उसके छोटे-छोटे पंख उड़ने-उड़ने को जान पड़ते थे और उसकी आँखें ऐसी दिखती थीं जैसे मुहल्ले के छोटे-छोटे प्यारे बच्चे मुझे देखते हैं. मेरी डैस्क पर वह ऐसा लगता जैसे हमेशा से था. मैं दो-टूक बोली, "साफ बात है पापा! मैं घोड़ा किसी को नहीं दूँगी."

"ठीक है. छोटे के लिए दूसरा घोड़ा मँगा देंगे."

छोटा बोला, "नहीं. मैं दूसरा नहीं लूँगा. मुझे यही चाहिए." फिर वह महीनों यही रट लगाये रहा.

रात में बत्ती बुझायी तो उसकी आँखें चमकने लगीं. उसके रंग आपस में घुलने-मिलने लगे. पहले तो मुझे डर लगा फिर मैं कौतुक से उसे देखने लगी. वह डैस्क से उड़ा, उसने कमरे का एक चक्कर लगाया, और फिर मेरे सिरहाने आकर अधर में रुक गया. नहीं सपना नहीं था. मैंने उसकी पीठ पर झिझकते हुए हाथ रखा तो उसने गरदन घुमाकर मुझे देखा, उसके देखने से मैं सिहर उठी और उसे देखते-देखते कब सो गयी पता नहीं चला. पूरी नींद रंगों, ऊँचाइयों, खाइयों, दूरियों और सन्नाटों के लम्बे सपने से बुना हुआ चादर बन गयी. सुबह जागी तो देखा वह डैस्क पर बैठा है और मुझे मानो रात की याद में देख रहा है... नहीं, मैं यह घोड़ा किसी को नहीं दूँगी. मैंने उसे छुआ तो वह सिहर उठा.

कैसा जादू है कि जिन दिनों सूरज आग बरसाता है, तेज लू चलती है डामर की सड़कें पिघलकर बहने लगती हैं, पानी भाप बनकर उड़ जाता है, नदी तालाबों के तल दिखने लगते हैं. उन्हीं दिनों झुलसती धरती के भीतर से बेशुमार रस फूटता है. हरे पेड़ों रंगीन फूलों से दुनिया भर उठती है और रसीले फलों से डालें झुक जाती हैं. धरती मानो सूरज को अपने नर्म शीतल हाथों

रात को पापा जैसे ही लौटे बड़े ने उन्हें बताया कि घर में ऐसा घोड़ा लाया गया है जिसे देखने से घोड़े जैसा मुँह हो जायेगा. पापा हँसने लगे. छोटे ने मेरी शिकायत करते हुए ऐलान किया कि घोड़ा वह लेकर रहेगा. जबकि इस बीच मुझे उस घोड़े से प्यार हो गया था. उसके छोटे से मुँह पर सुन्दर मुस्कान थी. उसकी छोटी-सी पूँछ देखने में एक अजीब गुदगुदी थी, उसके छोटे-छोटे पंख उड़ने-उड़ने को जान पड़ते थे और उसकी आँखें ऐसी दिखती थीं जैसे मुहल्ले के छोटे-छोटे प्यारे बच्चे मुझे देखते हैं. मेरी डैस्क पर वह ऐसा लगता जैसे हमेशा से था. मैं दो-टूक बोली, "साफ बात है पापा! मैं घोड़ा किसी को नहीं दूँगी."

से छूती हो. मैं इन दिनों पेट में बहुत सारा पानी भरकर धूप में निकलती हूँ. जैसे मुझे तेज बारिश और कड़ाके की सर्दी अच्छी लगती है वैसे ही तेज धूप से मुझे प्यार है. गर्मियों में इस कॉलोनी में दुपहर की सड़कें एकदम सूनी रहती हैं. घटिया किस्म के कूलरों की खड़खड़ाहट और आइसक्रीम वालों की घंटियों के सिवा सन्नाटा रहता है. बच्चे जरूर कभी-कभी इस घर से दौड़कर उस घर में घुसते हुए दिख जाते हैं. या कचरा बीनने वाले मुफलिसों की टोलियाँ दूर किसी घूरे पर या मकानों के पिछवाड़े नजर आ जाती हैं.

मैं पसीने-पसीने घर में घुसने को थी कि एक चारेक साल की लड़की बोली, "दीदी नमस्ते." साँवले रंग की उस बच्ची के गाल बहुत फूले हुए थे और उन पर सुनहरे रोयें थे. मैंने उसे पहले कभी देखा नहीं था. जबकि कॉलोनी का कोई बच्चा ऐसा नहीं है जो मेरे पास आता-जाता न हो. मेरे मम्मी पापा तो तंग आ चुके हैं क्योंकि मैं होऊँ घर में न होऊँ थोड़ी-थोड़ी देर में कोई न कोई बच्चा बरामदे में गाता हुआ-सा आवाज देता है, "गुड़िया दीदी...! गुड़िया दीदी है?"



चित्र : नवीन सागर

मैंने उस बच्ची को झट गोद में उठा लिया. पूछा, "कहाँ रहती हो?"

बोली, "हम नये आये हैं वहाँ रहते हैं." उसने मेरे घर के पीछे की ओर उँगली दिखायी और बोली, "मेरे पापा और मेरी मम्मी भी हैं और दादी मर गयी."

मैं उसे भीतर ले आयी.

उसने पूछा, "दीदी आपका नाम क्या है?" मैंने कहा, "मेरा नाम दीदी है और तुम्हारा?" वह बोली, "मेरा? मेरा रूपल श्रीवास्तव." इस कठिन नाम का उसने इतना साफ उच्चारण किया कि मुझे आश्चर्य हुआ.

मैंने उसे खाने को बिस्कुट दिया तभी उसकी नजर घोड़े पर पड़ी. एकटक उसे देखती रही और बोली, "मुझे वह घोड़ा चाहिए."

घोड़ा उठाकर मैंने उसे दे दिया. उसने एकदम पूरा बिस्कुट मुँह में भरा और घोड़े को छाती से चिपकाये जाने लगी. मैंने पूछा, "कहाँ जा रही हो?" बोली, "घर जाऊँगी दीदी." और वह दौड़कर बाहर निकल गयी. मैं उसे रोकने को दौड़ी पर वह रुकने वाली नहीं थी. उसने एक बार पलटकर देखा और शायद मुस्करायी.

बच्ची वह बहुत प्यारी थी पर वह तो मेरा घोड़ा ले गयी! सब, कुछ पल भर में घट गया. जिस घोड़े के पीछे पिछले छह महीनों से छोटा मोर्चा लिये हुए था और जिसके कारण उसने कई हंगामे किये थे और मैंने कई सख्तियाँ, वह घोड़ा इस तरह अचानक चला गया कि मैं सन्न रह गयी.

इतने में बाहर से किसी ने पुकारा. जाकर देखा तो वही बच्ची. उसके साथ उसकी माँ थी फूली-फूली-सी. उसके हाथ में घोड़ा था. मेरी ओर घोड़ा बढ़ाती हुई बोली, "माफ कीजिये इस बच्ची की आदतें जरा खराब हैं." मैंने रूपल के गाल पर थपकी दी और उसे गोद में उठा लिया. "बड़ी प्यारी बच्ची है आपकी." उसकी माँ बोली, "हम लोग आज ही यहाँ आये हैं. यह जाने कब आँख बचाकर निकल आयी और आपका घोड़ा ले गयी." मैंने कहा, "तो क्या हुआ! खिलौना ही तो है." वह बोली, "बच्चों की ऐसे में आदतें बिगड़ती है." मैंने बैठने को कहा पर बहुत काम होने के कारण वह अपनी बेटी को लेकर चली गयी. रूपल ने जाते-जाते मुझे मुस्कराकर देखा और बोली, "कल आऊँगी." पर वह शाम को ही आ पहुँची और फिर रोज आने लगी.

उसका आना दूसरे बच्चों से अलग था. वह सिर्फ घोड़े के लिए आती थी. नटखट और बातूनी. बेझिझक चली आती, खा-पी लेती और घोड़े के साथ सो जाती. एक दिन मेरी दो सहेलियाँ आयीं रूपल तब कमरे के एक कोने में घोड़े से खेल रही थी. सबका नाम जानने की उसमें अजीब प्यास थी. सहेलियों को देखते ही बोल उठी, "इनका क्या नाम है?" दोनों ने अपना नाम बता दिया तो बोली, "मेरा रूपल है—रूपल श्रीवास्तव." और इसका क्या नाम है? मेरी सहेली ने घोड़े का नाम पूछा. रूपल बोली, "इसका? इसका घोड़ा श्रीवास्तव." ऐसी वह मजेदार थी. पर निगाह तो उसकी मेरे घोड़े पर थी. वह पहले ही दिन से इस कोशिश में थी कि घोड़ा उसे मिल जाये. उसने घोड़े को जो नाम दिया उसे सुनकर मुझे लगा कि घोड़ा उसे दे दूँ पर ऐसा हुआ नहीं.

कोई सोचेगा कि उस मामूली से कपड़े के घोड़े में ऐसा क्या था कि न छोटे को दे सकी और न इस बच्ची को. आज मैं भले उस घोड़े को खिलौना कह दूँ पर उन दिनों तो वह मेरे लिए एक धड़कती हुई सच्चाई था. वह जब मेरे पास रहा मैंने अजीब सपने देखे जिनमें लम्बी-लम्बी यात्राएँ कीं और ऐसे संसार घूमे जो कहीं नहीं हैं. अगर उन सपनों को सुनाना शुरू करूँ तो समय रुक जाये और अगर उन संसारों का वर्णन करूँ तो शब्द चुक जायें. कोई शायद ही विश्वास करे कि मैं जब उसे एकटक देखती रह जाती तो उसमें जान आ जाती. वह भी मुझे प्यार से देखता और अपनी मूक वाणी में मुझसे बातें करता. मेरा हृदय भर आता और मुझे सबकुछ इतना सुन्दर लगने लगता कि मैं विभोर हो जाती. फर्श पर रेंगने वाले किसी भी कीड़े को अपनी उँगलियों से ऐसे छूती कि वह कीड़ा भी राग से भर उठता और मेरी ओर ऐसे दौड़ता जैसे मैं उसकी कोई हूँ. फर्श पर अपना गाल टिका देती, ठंडे फर्श पर

और अकारण रोने लगती. आँसुओं से भीग जाती और ऐसा आनन्द मुझे होता कि क्या कहूँ. सोचती हूँ मेरी उन उमड़ती भावनाओं का मेरे घोड़े से कोई गहरा नाता था—नहीं! घोड़ा मैं किसी को यहाँ तक कि रूपल को भी नहीं दे सकती थी. वह घोड़े पर रीझ गयी है और मैं उस पर, लेकिन मैं उसे दूँगी नहीं. ऐसा सोचकर खुद को मजबूत बनाती थी और उस शून्य से बच निकलती थी जो हर लगाव की सघनता के पीछे से झाँक उठता है. मैं खुद को यकीन दिलाती थी कि मैं घोड़े के बिना रह नहीं सकती. जिससे मैंने घोड़ा खरीदा था वह लड़का मुझे कई बार दिखा. मुश्किल से बारह साल का. मैला-कुचैला पर दीन-हीन नहीं. मुस्कान सुन्दर और आँखें स्वच्छ. हँसकर बात करता था. एक दिन मैंने उसे रोका और रूपल से कहा कि जो घोड़ा लेना हो ले लो. लड़के के पास चार घोड़े थे. मगर वह बच्ची मेरे कमरे की तरफ उँगली करके बोली, "मैं तो वो लूँगी."

लड़के ने बहुत बातें बनायीं मैंने भी समझाया पर उसने हठ नहीं छोड़ी. हारकर लड़के ने मुझे सलाह दी कि मैं अपने लिए नया ले लूँ. पर यह मुमकिन नहीं था. लड़का अफसोस करता-सा मुस्कुराया और चला गया.

मुझे कभी पूरे न होने वाले सपने पालने हैं. खुद के घेरे से हर बार बाहर जाना है. कल्पना और भावना की सच्चाइयों में जीवन को धीरे-धीरे समझते हुए गुजरना है. इस सबके लिए मुझे यह घोड़ा चाहिए. जिसे कचरे के ढेर में से पैदा हुए उस लड़के ने बनाया और जिसे उसकी माँ ने किसी झोपड़ी के अँधेरे में सजाया, पंख लगाये और जिसकी आँखों में प्रेम और आजादी की चमक भरी. यह घोड़ा, जो संयोग से मुझे मिला किन्तु जिसकी प्रतीक्षा मुझे कब से थी. इससे मेरे सम्बन्ध की यह दुनिया मेरी है. मैं इसी तरह की बातें सोचा करती. मन में ऐसी भावनाएँ और ऐसे विचार उठते कि पकड़ में नहीं आते. मैं क्या से क्या हो गयी! अपनी सहेलियों की फिल्मी और विज्ञापनी रुचियाँ मुझे पहले से भी ज्यादा तुच्छ लगने लगीं और उनकी बातें ऐसी जैसे प्लास्टिक के फूलों को देखकर लगता है. उनका रहन-सहन और उनकी आकांक्षाएँ मुझे अरुचि से भर देतीं और उनसे बातें करने के लिए मेरे पास कुछ भी न रह जाता. मैं कभी जब आवेश में अपने हृदय की बातें करती तो वे ऊबने लगतीं और पीठ पीछे मेरे बारे में उल्टी-सीधी बातें करतीं. धीरे-धीरे उनका आना कम होने लगा. इससे अम्मा को चिन्ता हुई. अकेले रहने और कुछ न कुछ सोचते या करते रहने की जो आदत मुझमें घर कर रही थी उसे पापा ने भी लक्ष्य किया और मुझे बताया कि यह खेलने-खाने की उमर है. छोटे ने पूरी कॉलोनी में मेरे बारे में फैला दिया कि गुड़िया दीदी गम्भीर हो गयी है.

यह सही है कि मुझे अज्ञात से दुख थे. अँधेरी और रहस्यमयी पीड़ाएँ. जो जैसा था उसे वैसा मैं सहन नहीं कर पा रही थी. लेकिन कॉलोनी के छोटे-छोटे बच्चे अभी भी रोज मेरे पास आते थे किसी का पैंट खिसक रहा है, कोई नहाकर आया है उसके गाल सुबह के फूलों जैसे ठंडे हैं, कोई रोता आया है और जो कुछ उसके साथ हुआ है उसे बताने के लिए गले से अजीब आवाज निकाल रहा है, कोई सिर्फ नमस्ते करके भाग गया है और कोई जिद कर रहा है कि मैं उसके घर चलूँ. इन बच्चों की सफेद स्वच्छ आँखें हैं और वे इतना प्यार चाहते हैं कि जितनी चॉकलेटें और गेंदें. अम्मा! मैं कहीं जाना चाहती हूँ पर मेरी समझ में नहीं आता कि कहाँ! मुझे लगता है मैं कुछ करने को हूँ. क्या कुछ यह पता नहीं चलता. क्या ऐसे में पागल भी हो सकती हूँ!

अम्मा हँसकर कहती, "पागल तो तुम हो ही."

"नहीं अम्माँ! सच बताओ क्या मेरी बातें पागलों जैसी हैं?"

"ये तो नहीं पता. पर तुम जो ये घोड़े से खेलती हो ये देखकर कोई भी तुम्हें पागल कहेगा."

"मैं घोड़े से खेलती हूँ?"

"खेलना ही है. जब देखो तब उसे गोद में लिये बैठी हो और उसे देख रही हो कभी हँसना कभी रोना ये क्या है?"

"अम्मा! तुम मुझे छिप-छिप के इतना गलत देखती हो?"

"न देखूँ तो क्या करूँ! चिन्ता लगी रहती है. अरे, खेलो-खाओ सबसे हँसों बोलो ये क्या कि जब देखो तब वह बेजान घोड़ा है और तुम हो!"

अम्मा हर बात को बढ़ा-चढ़ाकर बताती हैं. यह सच है कि घोड़ा था और मैं थी, पर मैं न उसे गोदी में लिये बैठी रहती थी और न ही दिन-रात उसे निहारा करती थी.

इस बीच जाने कैसे रूपल भी मेरे लिए जरूरी होती गयी. मेरा मन होता कि वह मेरे ही पास रहे. किसी दिन अगर वह न आती तो मैं छोटे को बुलाने भेज देती. फिर भी न आती तो उसके घर पहुँच जाती. उसकी माँ को यह तो अच्छा लगता कि कोई उसकी बच्ची को इतना प्यार करे पर शायद उसे मेरी आसक्ति अच्छी नहीं लगती थी. उसके हाव-भाव में कुछ ऐसा था कि मुझे उसके घर जाते हिचक होने लगी. रूपल को उनके पास उतना अच्छा नहीं लगता जितना मेरे पास. शायद उसे चोट पहुँचती थी और इसीलिए मेरे आगे बच्ची पर अपने अधिकार की वह बड़ी ही गहरी छाप छोड़ने लगी. बच्ची मेरे पास आती और अकसर उसके पीछे-पीछे वह चली आती. बच्ची पलंग के नीचे छिप जाती और चाहती कि मैं उसकी माँ से झूठ बोल दूँ.

एक दिन रूपल बोली, "दीदी इस घोड़े से मेरी शादी कर दो." मुझे हँसी आ गयी तो खुद भी ताली बजाकर हँसने लगी और घोड़े को गोद में लेकर बोली, "कर दो दीदी फिर ये मेरे घर रहेगा." घोड़े को हथियाने की यह युक्ति सुनकर मुझे हँसी आ गयी. मैंने बच्ची को प्यार से चूम लिया "शादी की उमर हो जाये तुम्हारी तब कर देंगे."

बच्ची सुनकर बोली, "कर दो दीदी. मैं अब बड़ी हो गयी हूँ."

"अपनी मम्मी से पूछ लिया है कि तुम घोड़े से शादी कर रही हो?"

"बाद में पूछ लेंगे" वह बोली.

"अच्छा तो फिर कर लो शादी."

वह घोड़ा लिये बाहर को भागती हुई बोली, "कर ली." और फिर सीधी अपने घर जाकर रुकी.

शाम को रूपल की माँ घोड़ा लौटाने आयी. तो मैंने इनकार किया. मेरे इनकार करते ही रूपल घोड़े को चिपकाये भाग खड़ी हुई. हम दोनों उसकी फुर्ती देखकर हँस पड़े.

रूपल के प्रेम में पड़कर मैंने घोड़ा उसे दे तो दिया पर मुझे लगा जैसे मैं कुछ अकेली-सी रह गयी हूँ. फिर भी मुझे कोई दुःख कोई पछतावा नहीं था कि मैंने उस बच्ची को अपनी सबसे प्रिय चीज दे दी. दुख था तो सिर्फ इस बात कि धीरे-धीरे रूपल का आना कम हो गया. वह सिर्फ घोड़े के लिए ही मेरे पास आती थी. इस खयाल से मुझे ठेस लगी. एक बार मैं उसके घर गयी. मुझे देखते ही रूपल ने दौड़कर घोड़ा पेटी के पीछे छिपा दिया. उसे डर था कि मैं घोड़ा माँग लूँगी. मैंने मुस्कुराकर सोचा बच्चे कितने भोले और स्वार्थी होते हैं.

मैं घर आकर रोने लगी. उन दिनों मेरे पास ऐसा कोना था कि छिपकर रो सकती थी. पर अम्मा को न जाने कैसे मेरा रोना पता चल जाता था. वे दिलासा देती हुई बोलीं, "तुम तो पागल हो."

कहते हैं एक चीज से खाली हुई जगह पता नहीं चलता कब दूसरी चीज से भर जाती है. लेकिन मेरे साथ ऐसा न हो सका. मेरे लिए सबकुछ उदासी में डूबता चला गया. सबने समझा लड़की बड़ी हो रही है. बड़ी मैं हो भी रही थी. बाहर से चुपचाप घर में लौटती. घर में चुपचाप. मेरा चेहरा अम्मा जैसा हो रहा था उन्हीं जैसा लम्बा पीला और सोचता हुआ-सा. लोग कहने लगे थे, थोड़ी और बड़ी होकर हूबहू अपनी माँ जैसी लगेगी. मैं बड़ी हो रही थी ऐसी उम्र से गुजरती हुई जब खिलौने दूर स्मृतियों में डूबना शुरू होते हैं. घोड़े के बिना मैं अपनी खिड़की से टिकी मानो अकेली बची थी. आहत. रूपल उसे भी ले गयी और खुद को भी! मैंने सोचा, यही जीवन है और मुस्कुरा उठी.

महीनों गुजर गये. वह बच्ची दूर की एक कॉलोनी में रहने लगी. जाते समय वह मुझसे मिलने आयी. मैंने उसे गोद में उठा लिया तो वह बोली "दीदी आप आना." फिर उसने मुझे चूम लिया और गोद से उतरकर भाग गयी.

रूपल का जाना मानो मेरा मेला उठने की शुरुआत थी. दो सहेलियों का असमय विवाह तय हो गया और वे अपने अँधेरे कमरों में जीवन के अगले दौर की प्रतीक्षा में सहमी-सी रह गयीं, बाजू वाला परिवार मकान खाली कर गया. तीन प्यारे-प्यारे बच्चों को लेकर कहीं चला गया. भाइयों ने मुझसे लड़ना कम कर दिया और दीदी कहने लगे.

तभी पापा का तबादला हो गया.

जब घर का सामान बाँधा जा रहा था मुझे सहसा लगा कि सामान में वह घोड़ा भी होना था. मैं विकल हो गयी. मगर खुद को जब्त किये सामान को देखती रही.

मुझे रूपल से मिलकर जाना चाहिए. मैंने निश्चय किया और उसका पता डायरी के पन्ने से एक पुर्जे पर उतारकर घर से चल पड़ी.

कुछ घटनाएँ बहुत दूर लगती हैं और कुछ बहुत पास. जैसे रूपल को गये डेढ़ दो साल गुजर गये पर मैंने जब उसके दरवाजे पर दस्तक दी तो मुझे लगा कि जैसे अभी वह कल ही मुझसे विदा लेने आयी थी.

बच्ची घर पर नहीं थी. उसकी माँ मुझे पहचान नहीं पायी. फिर मैंने बताया तो उसने आश्चर्य से कहा, "अरे गुड़िया! तुम इतनी बड़ी हो गयी हो...?" मैंने बताया कि मेरे पापा का तबादला हो गया है हम लोग जा रहे हैं सोचा रूपल से मिलती चलूँ. हम लोग कल यह शहर छोड़ देंगे. मुश्किल से आपका घर मिला.

तभी बच्ची आ गयी. वह भी मुझे शायद ही पहचानी हो. झिझककर मेरे पास खड़ी हो गयी. मैंने उसे प्यार किया और पूछा, "घोड़ा श्रीवास्तव कहाँ है?"

उसकी माँ हँसने लगी. बच्ची भी मुस्कुरा उठी. शायद उसे याद आया हो या न आया हो कि उसी ने घोड़े को यह नाम दिया था.

यह लड़की झेंपने कब से लगी? मैंने पूछा तो उसकी माँ प्रशंसा से मुस्कुरायी और बोली, "अरे! बिल्कुल नहीं झेंपती. क्यों री! गुड़िया दीदी की याद नहीं जिन ने तुझे घोड़ा दिया था!" बच्ची मुस्कुरायी और बोली, "याद है ये गुड़िया दीदी हैं." मैंने उसके गाल पर थपकी दी मानो वह कोई और बच्ची थी और मैं चकरा गयी कि कौन हूँ! सहसा मैंने घोड़े के बारे में पूछा तो रूपल की माँ ने अटाले में से उसे चीजों के नीचे पीछे कहीं से निकाला. घोड़े की बुरी दशा थी. वह अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाया क्योंकि टाँगें फैलकर लुन्ज हो गयी थीं. उसकी सज्जा चिथ गयी थी और कई जगह से भूसा नजर आता था. मैंने उसे अपनी उँगलियों से छुआ तो काँप रही थीं. इस बीच रूपल कहीं खेलने चली गयी. मुझे इतनी पीड़ा हुई कि मुश्किल से मैं उठकर जाते हुए मुस्कुरा उठी और बोली "चलती हूँ."

घर लौटकर मुझे सबकुछ बहुत सूना लगा. घास-फूस के खिलौने का इसके सिवा और होता भी क्या? खिलौना कहकर मैंने खुद को बहलाया और चुपचाप रोने लगी.

दूसरे दिन हम लोगों ने वह शहर छोड़ दिया. पापा का तबादला बुआ वाली उसी बस्ती में हुआ था जहाँ के ताँगों और घोड़ों का जिक्र मैं कर चुकी हूँ. वहाँ आने-जाने के लिए ताँगों के अलावा रिक्शे भी हैं जिन्हें या तो बच्चे या फिर बूढ़े लोग खींचते हैं. वहाँ की गलियाँ अपने ढंग की चौड़ी नालियाँ हैं. चबूतरे दिन भर बेकाम लोगों से आबाद रहते हैं. वहाँ बहुत कम लोगों के पास रोजगार है. सब लोग सबसे मानो घृणा करते हैं. उनके जीवन में इतना दुख है कि उनके हृदय पथरा गये हैं.

यह सब तो मैंने यहाँ रहते हुए बाद में जाना कि मिनमिनाती हुई बस्ती के भीतर बहुत मार्मिक और बहुत भावुक कोने अँतरे हैं जो अँधेरे में डूबे साँय-साँय करते हैं. जिस दिन हम यहाँ पहुँचे यहाँ के मकान में घुसते ही मुझे एक घोड़ा मिला टाँड पर छूटा हुआ अकेला. जाने वालों के ध्यान से उतरा. पर ताज्जुब की बात है कि जैसा घोड़ा मेरा था हू-ब-हू वैसा ही पंखों वाला और रंगीन. मगर उसकी आँखें नहीं थीं. आँखों की जगह छोटे-छोटे गड्ढे थे.

यह देखकर मुझे अजीब-सा डर लगा.

दूसरे दिन की स्वच्छ सुबह मैंने उसकी आँखें बनायीं. बनकर पूरी हुई तो मैंने देखा ये तो ठीक वही आँखें हैं जो उस लड़के की थीं जिससे मैंने वह घोड़ा लिया था और जो पीछे छूट गये शहर की किसी झोपड़ी में बैठा हुआ अब भी पंखों वाले घोड़े बनाता होगा.

▣

तीसमार खाँ

नवीन सागर

(यह कहानी अभी तक अप्रकाशित थी)

नगरपालिका बनी तो सरकार ने प्रशासनिक अधिकारी भेजा. अधिकारी युवा था. लम्बे बाल रखता था और गजलें गाता था. बोलता कम था. उसकी आँखों का भाव अच्छा नहीं था.

जब से यहाँ नगरपालिका बनी है, बस्ती भर के महत्वाकांक्षी लोग वार्ड मेम्बर और चेयरमैन बनने के सपने देख रहे हैं. मगर महादेव महाराज सपने से बहुत आगे निकल गये हैं. उन्हें लोग और वे खुद भी चेयरमैन कहते हैं. उनका एक नाम एम पी शायर भी है. वे तत्क्षण बना-बनाकर गजलें गाते हैं. उनकी पकड़ में जो भी शब्द आ जाये उसे गा देते हैं.

नगरपालिका के नये प्रशासनिक अधिकारी ने पहले महीने में बस्ती के लोगों से कोई वास्ता नहीं रखा. गम्भीरता अख्तियार कर ली. धीरे-धीरे लोगों को उसकी गम्भीरता से चिन्ता होने लगी. ऐसा न हो कि कुछ उल्टा-सीधा करने लगे. आढ़तियों को विशेष चिन्ता हुई. वजनकसी का बारह लाख रुपया नगरपालिका को इन आढ़तियों से लेना है. नगरपालिका अधिकारी यदि अपनी पर आ जाये तो खड़े-खड़े वसूली कर ले. लिहाजा आढ़तियों ने अधिकारी के आगे-पीछे घूम के ईओ साब ईओ साब करके उसे मिलनसार बनाया. फिर तो दो-चार महीनों में ये हालत हो गयी है कि बस्ती के बड़े व्यापारी, ठेकेदार और गुंडे ईओ साब के खास दोस्त बन गये. चूँकि ईओ साब का गला अच्छा था और वे गा भी लेते थे इसलिए स्थानीय रसिक और गवैये भी उनके साथ उठने-बैठने लगे. 8 महीने के भीतर मजबूत उच्चस्तरीय सम्पर्क का ताना-बाना बहुत मजबूत हो गया. सेठों के लड़के, ढोरों आर मनुष्यों के सरकारी डॉक्टर, खाद्य निगम के अधिकारी, इन्टर कॉलेज के युवा अध्यापक, वकील, बैंक मैनेजर, नेता और भूतपूर्व राज परिवार के युवजन, ईओ साहब की मैजोरिटी बन गये. यानी सोसायटी की टीम संगठित हो गयी. ये लोग पार्टियाँ करने लगे, जिनमें जम के शराब पी जाती, मुर्गा कटता और आधी-आधी रात तक आढ़तियों की बगिया में जलसा चलता. हफ्ते में एक पार्टी हो जाना मामूली बात थी. इन पार्टियों में कभी-कभी थानेदार भी शरीक हो जाता. सहज ही प्रश्न उठता है कि ईओ साहब को धुरी बनाकर इतने आकार प्रकार वाले लोग क्यों इकट्ठा हो गये. बस्ती में ऐसा ग्रुप इससे पहले क्यों नहीं बना. ये प्रश्न कुछ लोगों के मन में उठे ही थे कि उत्तर भी मिलने लगे. तम्बाकू वाले सेठ के लड़कों ने सड़कों की मरम्मत का ठेका लिया. नेता कुन्दनलाल हरिजन मोहल्ले की गलियों में मुरम डालने को ठेका ले भगे. आढ़तियों की दुकानें सड़क की तरफ पसरने लगीं. मकानों में बाहर की तरफ टट्टियाँ बनने लगीं. वजनकसी का मामला बुरी तरह दब गया. पार्टियाँ और भी खर्चीली होने लगीं. जमीनों और मकानों के जो मामले नगरपालिका में विचाराधीन थे, उन पर ऐसे निर्णय लिये जाने लगे कि बड़े लोगों को सन्तोष का अनुभव होने लगा. सड़कों और गलियों की मरम्मत के बाद पैदल चलना और भी दूभर हो उठा. दफ्तरों में बैंक, अस्पताल और थाने में मैजोरिटी की तूती बोलने लगी. सरकारी नौकरों को जनता का कोई संकोच नहीं रह गया.

सुखी और सन्तुष्ट, लोभी और उदंड, पाखंडी और हिंसक लोगों की यह मित्र मंडली उस छोटी सी बस्ती पर छा गयी. बाजार और बस स्टैंड पर शाम को ये लोग मँडराते रहते. किसी रपटा होटल में बैठ जाते और हँसी ठठ्ठा, गाना-बजाना और चुटकुलेबाजी करते रहते. कभी ट्रक में भरकर आसपास के देहातों में चले जाते और रात भर बेड़नियों का नाच देखते. कभी शहर चल देते सिनेमा देखने और कभी कोई फड़कती आर्केस्ट्रा पार्टी को बुलवाकर बड़ा ही उत्तेजक कार्यक्रम करवा डालते. उन लोगों में ऐसे शिकारी भी थे जो बस्ती के दरिद्र कोनों में से स्त्री पदार्थ का शिकार कर लाते और बाँट लेते. मगर रासरंग में वे इतने भी नहीं डूब गये थे कि जेबें भरने का समय न निकाल पाते. वे दिन भर पैसा कमाते. पारस्परिकता के कारण उन्हें आसान रास्तों से भरपूर पैसा मिल जाता.

और बस्ती इतनी मुर्दा कि उस मँडली के उन्माद से आक्रान्त भी रहती और उसके आगे दाँत भी निपोरती रहती. देश में पायी जाने वाली विभिन्न रूप रंगों वाली राजनीतिक पार्टियों की शाखाएँ यद्यपि वहाँ थी मगर उनमें ज्यादातर वहीं लोग थे जो इस मंडली के प्रादुर्भाव है. कुछ नेता गण भी मंडली में थे. इसलिए इस मंडली के कारगुजारियों पर उँगली उठाने वाला कोई न था, एक महादेव महाराज को छोड़कर. लेकिन उसे पागल करारा जा चुका था. लोग उससे मजाक करते. पागल कहते. उसकी बातें बनावटी गम्भीरता से सुनकर हँसी में उड़ा देते. उठाईगीरा, बदमाश, नाकारा, नरोलची और इसलिए अविश्वसनीव मानते. बच्चों से लेकर बूढ़े तक उसे देखकर चंचल हो जाते. कोई उससे कहता फड़कती गजल सुनाओ, कोई कहता फाग सुनाओ, मन से बनाकर सुनाओ, मान लो तुम देश के राष्ट्रपति हो गये हो और जनता को सन्देश दे रहे हो, मान लो तुम जज हो गये तो और पिछले साल वाले हरिजन हत्याकांड पर बीस पेज लम्बा फैसला पढ़ रहे हो, मान लो तुम भगवान कृष्ण हो और गोपियों से घिर गये और घिरकर उनके अंगों का खुलासा कर रहे हो. मान लो तुम... यानी जिसके मन में जो आता फरमाइश कर डालता. और महादेव महाराज फौरन शुरू हो जाते. उसे सब आता था, पक्का गाना, कच्चा गाना, गजल बनाना, फागेगारियाँ बनाना, और सबकुछ फौरन बनाना, भाषण देना, कव्वाली गाना, नाचना. बस्ती में न सिनेमा थियेटर था न मनोरंजन का कोई और जरिया इसलिए महादेव महाराज पर काफी बोझ आ पड़ा. वह सुबह जो घर से निकलता तो फिर रात एक दो बजे से पहले न लौटता. बीच में खाना खाने पहुँच गया तो

पहुँच गया. घर में सिर्फ माँ थी. पिता मर चुके थे और दो भाई बाहर नौकरियाँ करते थे. पाँच सात बीघा जमीन थी उस पर माँ हाड़ तोड़ती और कभी-कभी महादेव भी पसीना बहा आता. आय का यही एक जरिया था. महादेव एक बार में पन्द्रह-बीस रोटियाँ खाता था जबकि अनाज की हमेशा कमी बनी रहती थी. इसलिए आये दिन वह अधपेट रह जाता और खूब पानी पीता रहता. फिर वह तन्दुरुस्त था. उसकी आवाज भारी और तेज थी ठीक पिता की तरह. उसके पिता गायक थे और इलाके भर में संगीत सभाओं में जाते थे. उनका आलाप आज भी लोगों के दिलो-दिमाग में गूँजता है. महादेव भी कभी-कभी अपने पिता की तरह आलाप लेता है. मगर गाँजे और बीड़ी के कारण उसकी साँस जवाब दे जाती है.

पिछले चार महीने से महादेव महाराज नगरपालिका का चेयरमैन है. सचमुच का चेयरमैन नहीं. हँसी-मजाक का. एक दिन बस्ती के कुछ खुड़पेंचियों ने महादेव महाराज को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह चेयरमैन है. लोगों ने उसे लोकप्रियता की दुहाइयाँ दीं और एक अच्छे चेयरमैन की आवश्यकता पर जोर दिया. महादेव ने तमककर स्वीकृति दे दी. वह उठ खड़ा हुआ और हुंकार भर के बोला, ठीक यदि ऐसा है तो यही सही. मैं हूँ चेयरमैन इस नगरपालिका का. अब सम्भल जाओ ईओ साब.

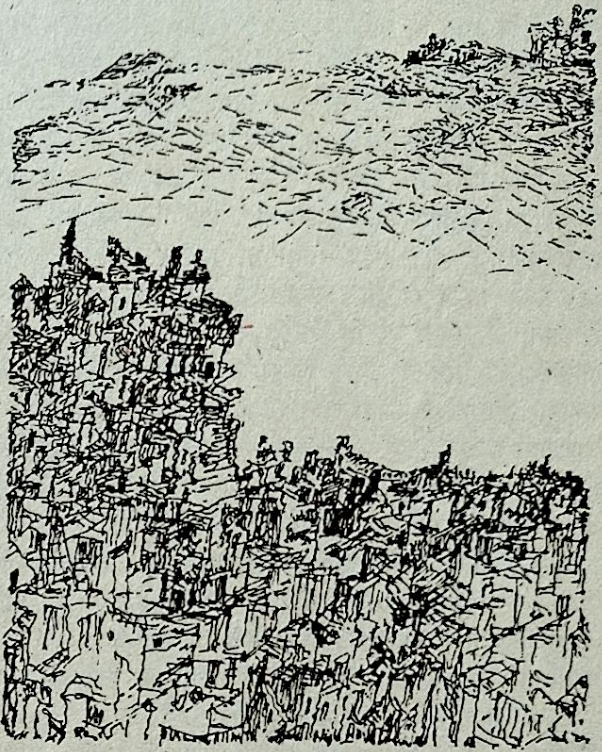
लोगों ने उसे मालाएँ पहनायीं ढोल वाले को बुलाया और बस्ती भर में महादेव महाराज को लिये-लिये घूमे. महादेव मालाएँ पहने ढोल वाले के पीछे चला आ रहा है. दुकानदारों और राहगीरों का हाथ जोड़-जोड़कर अभिवादन कर रहा है. उसके चेहरे पर यथोचित गर्व और उत्तरदायित्व की भावना है. उसके पीछे खुड़पेंचियों का झुंड है जो चेयरमैन महादेव की जयजयकार कर रहा है? लोग हँस रहे हैं. बस्ती एक नया तमाशा देख पुलकित हो रही है.

लोगों के लिए भले ही यह मजाक रहा हो मगर महादेव के लिए सच था. वह पूरी गम्भीरता से स्वयं को चेयरमैन अनुभव करने लगा. बस्ती भर के लिए पितृत्व की भावना से उसका हृदय भर उठा. वह टूटी-फूटी सड़कों, गिरे अधगिरे मकानों, मलबों, घूरों और पीड़ित प्रताड़ित लोगों को चिन्ता से देखने लगा. अब घर से निकलता तो उसके बाल खूब तेलिया और कायदे से ओंछे हुए होते. उसका फटा और तंग कुर्ता पाजामा धुला हुआ होता. वह मन्थर और बोझिल चाल से चलता. लोगों से बड़प्पन भरी आत्मीयता से मुस्कराकर नमस्ते करता दोनों हाथ जोड़कर.

एक दिन ईओ साब को बाजार में रोककर बोला, मैं कुछ कहता नहीं हूँ इसका यह मतलब नहीं कि आप काला पीला कुछ भी करते रहें. शेर की माँद में तो शेर भी कायदे से घुसता है आप तो लगते कहाँ हैं? जो लोग सुन रहे थे सब ठहाका मारकर हँस पड़े. ईओ साब ने हाथ जोड़ लिये. बोले, "कोई गलती हुई क्या इस सेवक से चेयरमैन साहब."

'कहकर ईओ साब भी हँस पड़े.'

महादेव का पारा चढ़ गया. उसने त्योरियाँ चढ़ायीं, आँखें निकालीं और चिल्ला पड़ा, "मजाक करते हो मुझसे. मैं डेढ़ मिनट में ठंडा कर दूँगा हरामखोर कहीं के." यह बात ईओ साब को



चित्र : नवीन सागर

अखर गयी. वे दो कदम बढ़कर बोले, "आप होते कौन हैं मुझसे बकवास करने वाले."

"मैं. मैं चेयरमैन हूँ समझे. जनता जनार्दन ने मुझे चेयरमैन बनाया है." महादेव गरजा.

"बनाया होगा, मुझे तो सिर्फ इतना पता है कि आप अव्वल दरजे के हरामी हैं."

"सुन बे ईओ तू हरामी तेरा बाप हरामी और सुन तेरी औलाद हरामी. और सुन मैं तुझे अभी खड़े-खड़े जिन्दा गाड़ दूँगा साले.

महादेव महाराज का इतना कहना था कि लगै-लगै लोग जुट पड़े. ईओ साब हालाँकि मना करते रहे. मगर उनके खैरख्वाह न माने. वह शायद पहला मौका था जब महादेव महाराज पिटा हो. वह भौंचक रह गया. उसे मारने वाले वे ही लोग थे जो उसके पास घंटों बैठे उसका मजाक उड़ाते रहते थे, उससे गाना सुनते रहते थे, और उसे अपनी पार्टियों-महफिलों में आमन्त्रित करते थे. जो उसे पूरी बस्ती की तरह चेयरमैन कहते और मानते थे. उन्होंने मारा. महादेव को बहुत धक्का लगा. वह नहीं पिटा या, उसके भेष में उसके शरीर में आखिर बस्ती का चेयरमैन पिटा था. चेयरमैन भूख हड़ताल पर बैठेगा. मन में संकल्प आया और महादेव वहीं सड़क के किनारे पालथी मारकर प्रतिकार की गम्भीर मुद्रा में अड़कर बैठ गया.

ईओ साब अपने साथियों सहित चले गये. और वहाँ अच्छा खासा ठठ्ठा लग गया. जो सुनता कि महादेव महाराज पिट गया और भूख हड़ताल पर बैठा है वही तमाशा देखने भागा चला आजा. देखते न देखते पूरी सड़क लोगों से भर गयी. महादेव महाराज लोगों को देखकर भाव विह्वल हो गया. आखिर चेयरमैन पिटा है

कोई और नहीं. मैं नहीं पिटा हूँ इन लोगों की भावना पिटी हैं, ऐसा विचार मन में आते ही महादेव उठ खड़ा हुआ और बिना खखारे जोर से बोला, "सज्जनो. आप लोगों ने भावना में पड़कर मुझे चेयरमैन बनाया. मैं अयोग्य था मगर आप लोगों की भावनाएँ की इज्जत करता था. इसलिए मैं चेयरमैन बन गया. जब बन गया तो मुझ पर नगर को अच्छा बनाने का भार आ गया. अब जहाँ देखो वहाँ लूट मची है. जितने सरकारी लोग हैं उनने सेठों और गुंडों से साँठगाँठ कर ली है और जनता को लूट रहे हैं. आढ़तिये नगरपालिका का पन्द्रह लाख रुपये दबाये हैं अब मगर ये पैसा मिल जाता तो जनता का कितना काम निकलता. और सोचो ये वजनकसी का पैसा ये बनिये किसानों से तभी ले लेते हैं जब उनसे माल खरीदते हैं. यह जो ईओ साहब यहाँ आया है बनियों से माहवारी पाता है. इसने जनता जर्नादन के पन्द्रह लाख रुपयों का सौदा कर लिया है. सड़कें देखिये, ठेका हो गया कागजों पे सुधर गयी और देखो तो पहले से ज्यादा बुरी हो गयीं. इस ईओ के जमाने में कितने गरीबों के मकान की जमीन सेठों ने दबा लिये हैं सबको पता है. अस्पताल में बड़ों के लिए सबकुछ है और छोटों के लिए कुछ नहीं. थाने में अलग धन्धा चल रहा है. स्कूल में अलग चल रहा है. ईओ ने जो टीम बनायी है वह क्या-क्या कहर ढा रही है. मैं चेयरमैन हूँ यह सब देखा नहीं जाता..."

लोगों ने हो हो किया फिर भगदड़ मच गयी. पुलिस के चार सिपाही भगदड़ से बने रास्ते होकर महादेव के पास पहुँचे और उसे धकेलते हुए थाने की तरफ ले चले. पीछे-पीछे चलते लोग हो हो करते, कभी चेयरमैन जिन्दाबाद के नारे लगाते और हँस पड़ते.

इस घटना के कुछ ही दिन बाद जनार्दन छुट्टियों में घर गया. बस से उतरकर वह लल्लू होटल में बस्ती के हालचाल पूछने के बाद ही घर जाता है. होटल में लल्लू मक्खियाँ उड़ा रहा था. उसे देखते ही सम्मान से खड़ा हो गया और शिकायती चेहरे से हँसते हुए बोला, "इस बार इतने दिनों बाद आये भैया."

जनार्दन ने उसके कन्धे पर हाथ रखा और हँस पड़ा. "और यहाँ क्या हालचाल रहे." लल्लू ने ईओ मंडल का बखान किया फिर चेयरमैन की पिटाई की घटना सुनायी.

"महादेव महाराज थाने में भी पिटा. लेकिन एक बात माननी पड़ेगी दूसरे दिन से वह ईओ साब के पीछे पड़ गया. रोज कच्चा चिट्ठा खोलता फिरता है. गाना छोड़ दिया है. कहता है अब गाना तभी होगा जब इस कलंक को मिटा दूँगा. चेयरमैन हूँ पहले बस्ती को सम्भालना है फिर गाना कव्वाली देखी जायेगी."

जनार्दन यह सुनकर दुखी हो गया. महादेव महाराज को सार्वजनिक करने का काम जनार्दन ने ही किया था और वह भी औरों की तरह महादेव को मनोरंजन का साधन बनाये हुए था मगर उससे लगाव भी था. महादेव के भीतर कलाकार और एक ईमानदार और सहज मनुष्य का अनुभव उसे तो था. वह औरों की तरह घृणित नहीं मानता था और न ही उसे यह डर रहता था कि महादेव कभी पैसा न माँग बैठे. उसे पता था कि वह पैसा कभी माँग ही नहीं सकता. महादेव लोगों से प्यार चाहता था और उसके बदले में वह कुछ भी कहने करने के लिए तैयार रहता था. वह लोगों के शब्दों के पीछे ताक झाँक किये बिना ही यह मान बैठता कि वह चेयरमैन है वह देश का सबसे बड़ा शायर है तानसेन से बड़ा गायक है. उसके पास करोड़ों रुपया है एक बहुत बड़े मन्त्री की लड़की उससे शादी करने की जिद ढाती है. इसी तरह की ढेर असम्भव बातें. महादेव पर जो थोप दिया जाये वह उसी को अपनी निधि अपनी वास्तविकता मान लेता था. लोग उसे और अजूबा बनाते रहने के लिए उस पर कुछ भी पोत देते फेंक देते लपेट देते और वह सबकुछ स्वीकार करता जाता. और कैसी विडम्बना है कि वह कपोल कल्पित बातों को अपने विश्वास में अंगीकृत करता जाता. उसकी इसी अन्धी गम्भीरता, इसी बुद्धिहीन भावलीला को देखकर लोगों के पेट में बल पड़ जाते. वे उससे खेलते जाते और विकृत से विकृत नये खेल ईजाद करते जाते. जनार्दन ही ऐसे खेलों का प्रथम संयोजक था. उसने छह माह में महादेव को बस्ती के कोने-कोने में गवा नचा दिया. रपटों की बैठकों का उसे जरूरी हिस्सा बना दिया. उसे यह विश्वास दिलाया कि वह मामूली आदमी नहीं है और वह कुछ करने के लिए पैदा हुआ है, लोगों को उससे बहुत उम्मीदें हैं. उसी महादेव की पिटाई का सुनकर जनार्दन को बहुत बुरा लगा. उसने खुद को इसके लिए दोषी अनुभव किया और उसका वह विश्वास भी टूट गया कि महादेव से लोग सचमुच प्यार करने लगे हैं. वह पिटता रहा और लोगों ने कुछ नहीं किया जबकि वह खुद को लोगों की भावना का चेयरमैन मानकर उनके लिए पिट रहा था.

जनार्दन क्षुब्ध हो गया. घर की ओर जाते हुए उसे बस्ती के लोगों को देखकर क्रोध आता रहा. वह किसी जगह नहीं रुका. लोगों से फिर मिलने का कहकर सीधा घर पहुँचा. माँ ने जल्दी ही पानी गरम कर दिया. उसने खूब नहाया. मन कुछ हल्का हुआ. खाने का मन नहीं था मगर माँ की जिद से उसने थोड़ा सा खाया और माँ से बातें करने लगा. माँ हँस पड़ी. बोली दीपक के घर जाने का मन है जाओ पहले हो आओ.

वह सचमुच दीपक से मिलने की बेकरारी में बैठा था. माँ की उदारता से पुलकित होकर वह उठ खड़ा हुआ. दीपक का घर पास ही था. और चूँकि दोपहर का समय था इसलिए तय था कि वह फैक्ट्री में नहीं, घर में ही होगा. दीपक के यहाँ हैन्डलूम का अच्छा-खासा काम था. हर साल खड्डियाँ बढ़ती ही जातीं थीं. उसका पिता और वह स्वयं भी मेहनती था. झगड़ों-झांसों से दूर वे अपने धन्धे में मन लगाये हुए थे. दीपक का एक ही दोस्त था जनार्दन और जनार्दन को भी उस बस्ती में दीपक के अलावा किसी से वैसा नहीं था. खूब बड़ा उन लोगों का दायरा था. अभी दो साल से जब से जनार्दन नौकरी पर गया तो दीपक का अपना एक नया दायरा बन गया हो. वह ईओ मंडल का बड़ा ही सम्मानित सदस्य है. चूँकि वह ईओ से या किसी दूसरे सरकारी आदमी से कोई लाभ नहीं लेता तथा उसका घर बहुत ही सुसंस्कृत और सत्कारी है इसलिए उसका विशिष्ट बेदाग स्थान उस मंडल में है. सब उसकी इज्जत करते हैं और उसकी बुद्धि का लोहा मानते हैं.

उसे पीने का शौक है. पार्टियों में शामिल होकर अपनी धाक जमाने का नशा भी उसे है. धन्धे की और घर की अन्दरुनी दुख के तनाव से वह इसी तरह मुक्त हो सकता था इसलिए न जाने

वह कैसे उस मंडल में शामिल हो गया. जनार्दन जब पिछली बार आया था तब दीपक के सम्बन्ध ईओ साब से बने ही थे और दो एक पार्टियों में वह अंधाधुंध पी चुका था. जनार्दन ने उसे धिक्कारते हुए कहा था ये लोग इस लायक नहीं हैं कि तुम इनके साथ पियो खाओ. मेरी समझ में नहीं आता तुम क्यों इन लोगों को इतनी लिफ्ट दे रहे हो. होगा साला ईओ फीओ.

यही इस बार हुआ. दोस्त से मिलते ही जनार्दन ने महादेव की पिटाई को लेकर ईओ को गाली दी. दीपक ने ईओ का पक्ष लिया. जनार्दन तिलमिला गया. वह बोला "दीपक तुम्हारा पतन शुरू हो गया है." "मैं उस टुच्चे महादेव का पक्ष नहीं ले रहा हूँ इसलिए मेरा तो पतन हो गया है और तुम ईओ को गाली देकर बड़ा ऊँचा काम रहे हो. तुम्हें मालूम है महादेव चेयरमैन बना फिरता है और चाहता है ईओ उसके अंडर में काम करे. है न मजाक. ऐसे आदमी को पागलखाने में डाल देना चाहिए लेकिन जब तक यह नहीं होता वह गली-गली जूते खायेगा ही. चाहे फिर तुम्हें बुरा ही क्यों न लगे."

दीपक का यह दो टूक लहजा जनार्दन को बहुत बुरा लगा. उसे आश्चर्य हुआ कि ये दीपक के विचार हैं. हालाँकि महादेव से वह हमेशा चिढ़ता रहा मगर ईओ जैसे लोगों का पक्ष लेना उसने हाल में ही शुरू किया होगा. जनार्दन नहीं चाहता था कि शुरुआत कटुता से हो. इसलिए उसने ठंडेपन से एक सवाल पूछा, "दीपक क्या तुम्हें यह नहीं लगता कि सरकारी लोग बस्ती में मुअज्जिसों और गुंडों से सम्बन्ध बनाकर लोगों को लूटते हैं. वे बस्ती की ताकत को अपनी ताकत बना लेते हैं. और फिर बस्ती का कचूमर बना देते हैं. इसलिए समझदार लोगों को इनका कवच और हथियार बनने से बचना चाहिए. तुम्हारी इस बारे में क्या राय हैं."

जनार्दन की बात सुनकर दीपक मुस्कराया और उसने उसी गम्भीरता से कहा, "जनार्दन बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है. यह तुम्हें पता ही होगा. और यह भी पता होगा जो जहाँ है वहाँ लूट रहा है. महादेव अपनी माँ को लूट रहा है. वह जमीन तोड़ती है और माँगती है तब महादेव का कुआँ भरता है. दरअसल तुम्हें यह पता नहीं हैं कि लोग जानवर हैं. एक से दिखने वाले अलग-अलग किस्म के जानवर. ताकतवर जानवर भोग कर रहे हैं. ताकतवर रहना पड़ेगा या मर जाना चाहिए. तुम्हारा इस बारे में क्या ख्याल है?"

जनार्दन उसकी बात सुनकर तिलमिला गया. यह उसका दोस्त कैसी बातें कर रहा है. क्या यह स्वयं को भी पशु मान चुका होगा? क्या यह मुझे भी ऐसा ही मानता होगा. यह जो चारों तरफ हो रहा है इसे लेकर क्या इसमें जरा भी बैचेनी नहीं होती होगी!

"दीपक तुमने जो कुछ कहा यदि यह सही भी हैं. यदि ताकत जीत रही है और यह जीत मनुष्य को पशुता की तरफ धकेल रही है तो हमारा तुम्हारा क्या फर्ज बनता हैं, मैं यह पूछ रहा था."

"अच्छा... जहाँ तक फर्ज का सवाल हैं मैं यह सोचता हूँ कि यह एक किस्म से खुद को धोखा देने वाली चीज है. जीतना ताकत की भूख है और जीतकर भोगने में है. ताकत को नहीं रोका जा सकता."

जनार्दन तमतमा गया, "कैसे नहीं रोका जा सकता. लेकिन सिर्फ तब जब इस ताकत में नहीं इसके विरुद्ध एक नयी ताकत में खुद को दे दिया जाये."

"एक बहुत ही अच्छी किताबी बात तुम कह रहे हो." दीपक ने ताली बजायी और फिर जनार्दन को एक धौल जमाते हुए बोला, "ये ऊँची बातें रहने दो अपना दिमाग नहीं चलता. कुछ और सुनाओ."

मगर जनार्दन खोया रहा. दीपक के तर्क उसे बहुत ही भयानक लग रहे थे. उसे लग रहा था जैसे उसकी कोई बहुत ही पवित्र चीज दुश्मनों की होकर उसे चिढ़ा रही हो. दीपक यह सब समझ रहा था. आखिर उसने उमड़ते हुए कहा, "भाड़ में जाये ईओ और महादेव और सब. साला अपन क्यों अपना दिमाग खराब करें. तुम यदि ये चाहते हो कि मैं ईओ मंडल में न रहूँ तो नहीं रहूँगा. मगर ये तुम्हारी खामख्याली है कि वहाँ मेरे न रहने से जनता का कोई बड़ा भला हो जायेगा. लेकिन तुम्हें लगता है कि मेरा वहाँ रहना ठीक नहीं है तो हटाओ सालों को इधर क्या."

दीपक ने यह बात बड़ी भावना से की थी. जनार्दन खुश हो गया, बोला, "ये तर्क तुम यों ही कर रहे थे न."

दीपक कुछ देर सोचकर बोला, "हाँ, तर्क मैं यों ही कर रहा था. मगर तुम्हारा ये महादेव को लेकर जो पागलपन है वह मुझे बेतुका लगता है."

दोनों मित्रों ने हल्के होकर अभी बातें शुरू की ही थीं कि ईओ साब चौरसिया और ठाकुर के साथ दीपक के यहाँ पहुँच गये. जनार्दन को तीनों ने विशेष सम्मान देकर प्रसन्नता व्यक्त की कि अच्छे मौके पर आये.

ईओ साब को देखते ही दीपक को याद आ गया कि आज पार्टी है. ईओ साब के लड़के का पहला ज़न्मदिन है. पार्टी गुप्ता की बगिया में है. दीपक बोला, "आप क्या मुझे याद दिलाने आये हैं?"

"नहीं आपको क्या याद दिलाना. पता चला कि जनार्दन भाई आये हैं. सोचा रिक्वेस्ट करता चलूँ." फिर जनार्दन की तरफ देखकर बोला, "जनार्दन भाई दीपक के साथ आपको भी आना है. आप नहीं आये तो मैं समझूँगा आप मुझसे नाराज हैं."

जनार्दन विचलित सा हो गया. ईओ से पहले कभी भेंट नहीं हुई थी. यह पहली मुलाकात थी. ईओ की विनम्रता और आत्मीयता उसे बहुत सहज लगी. वह एकदम युवा था. उसके बाल लम्बे और कद मझोला था. उसकी आँखों का भाव यद्यपि बुरा था मगर उनमें चँचलता नहीं थी. ईओ चला गया तो जनार्दन की ओर देखकर दीपक हँस पड़ा, "अब?"

जनार्दन थोड़ी देर चुप रहा फिर बोला, "अब क्या. तुम जाना मेरा तो सवाल ही नहीं उठता."

"तो यह तुम्हें उसी से कहना चाहिए था."

"तुम कह देना."

"मैं क्यों कह दूँ. अपनी बात खुद बोलना चाहिए."

"खुद तो मैं बहुत कुछ बोल सकता हूँ."

दीपक ने स्थिर हो जनार्दन की आँखों में देखा और बोला, "जनार्दन तुम अब नहीं बोल सकते. जब वह आया था सिर्फ तभी बोल सकते थे."

जनार्दन बोला, "तुम न जाने यार कहाँ की तोप समझते हो उस ईओ को. मैं अपनी में आ जाऊँ तो अभी पता चल जायेगा."

दीपक चुप रह गया. जनार्दन उत्तेजित और आहत होकर बकने लगता है. और ऐसा करते समय वह ओछा सा लगता है क्षुद्र सा दीपक को अच्छा नहीं लगता. इसलिए वह ऐसे मौकों को टाल जाना चाहता है. "अच्छा ठीक है मत जाना. मैं भी नहीं जाऊँगा" कहकर दीपक ने जनार्दन का हाथ पकड़कर उसे उठाया, "जनार्दन तुम दो चार दिन के लिए आये तो अब ये फालतू की बातें अपन छोड़ें. एन्जाय करें. तुम्हारे आने को सेलिब्रेट करें."

इसी बीच दीपक को बुलाने नौकर आ गया. फैक्ट्री में कोई नहीं था. पिताजी बाहर गये थे. दीपक ने जनार्दन को बहुत मनाया कि फैक्ट्री चल मगर वह नहीं माना. उसे बस्ती में घूम-फिरकर और लोगों से मिलने की इच्छा हो रही थी.

जनार्दन बाजार में कहीं इस दुकान में खड़ा हो जाता कहीं उस चबूतरे पर बैठ जाता. जो उसे देखता वही या तो राम-राम करता या उसके पास रुक जाता. थोड़ी देर बातें करता. बसस्टैंड पर वह इन्टरकॉलेज के मास्टरों के झुंड से मिलकर लल्लू होटल की ओर बढ़ ही रहा था कि महादेव महाराज ने उसे पुकारा "जनार्दन भाई" और आकर महादेव उससे लिपट गया. उसे अटपटा लग रहा था क्योंकि इससे पहले महादेव कभी उससे लिपटा विपटा नहीं था. मगर उसने उसकी पीठ थपथपायी.

"जनार्दन भाई. आपका यह महादेव अब चेयरमैन है." महादेव ने उचित ही गर्व किया और बोला, "आपको पता चला होगा कि मैंने गाना छोड़ दिया है. मगर आप आये हैं तो आज गाऊँगा. और ऐसा गाऊँगा कि तानसेन भी घबड़ा जाये."

दो चार लोग जो खड़े थे हँस पड़े. महादेव को कोई फर्क नहीं पड़ा.

"जनार्दन भाई. आपको सड़क पर चलने में परेशानी हो रही होगी. यह मेरे लिए शर्म की बात है. मैंने कहीं-कहीं कोशिश की है अपने हाथ से ठीक करने की मगर कहाँ तक ठीक करूँ? ये ईओ कागजों में दो बार ठीक करवा चुका है. लेकिन मैं उसे छोड़ूँगा नहीं."

जनार्दन उसके साथ लल्लू होटल में बैठ गया. कुछ और लोग भी आ बैठे. महादेव की लनतरानियाँ शुरू हो गयीं. उसने चेयरमैन के रूप में अपनी प्रतिष्ठा के कई किस्से सुनाये. बस्ती के बड़े लोगों के कर्मों का रोजनामचा खोला. ईओ मंडल की गतिविधियों का भीषण दृश्य खींचा और अन्त में जनार्दन से बोला, "जनार्दन भाई एक लेख लिख दो इस सब पर छपवा मैं लूँगा. अखबार का टंटा भी करना पड़ेगा."

जनार्दन ने लिखने का वादा किया. महादेव ने विदा होते समय यह वादा किया कि शाम को यहीं लल्लू होटल में बैठा मिलेगा और जम के गायेगा.

जनार्दन घर जाकर माँ के पास बैठ गया. उसका मन बुरी तरह उलझ चुका था. इसलिए बातों का कोई सिलसिला ही ढंग से नहीं बन पाया. आखिर माँ ने खाट बिछा दी और बोली, "थोड़ी देर सो लो."

जनार्दन आँखें भींचे पड़ा रहा. थोड़ी देर झपकी भी लिया. उतने में ही अजीब सा बदमजा सपना आया. सपना तो वह भूल गया. लेकिन सपने के प्रभाव से वह और भी उखड़ गया. सपने को याद करने की कोशिश करता वह पड़ा था, तभी दीपक आ पहुँचा. वह भी खाट पर पसर गया.

जनार्दन ने आँखें खोलकर अपने जागने का संकेत दिया और फिर बन्द कर लीं.

माँ ने चाय रखकर दोनों को पुकारा "उठो शाम को भी सोया जाता है." दोनों उठ बैठे और चाय पीने लगे. जनार्दन और दीपक साथ हों और इतनी देर तक चुप रहें, माँ को यह बड़ा ही अटपटा लग रहा था. फिर जनार्दन जब से आया था तभी से उखड़ा-उखड़ा था. बच्चों की बातें और अपने दफ्तर के लतीफे भी उसने नहीं सुनाये थे. दीपक भी अपने स्वभाव के विपरीत चुपचाप सा था. माँ को आशंका हुई कहीं दोनों लड़ तो नहीं पड़े.

"तुम दोनों में झगड़ा हो गया है क्या." माँ से न रहा गया तो वह पूछ बैठी.

"तुम दोनों में झगड़ा." जनार्दन बोला, "हम दोनों में क्यों झगड़ा होने लगा." दीपक हँसने लगा, फीकी हँसी. जनार्दन ने उसकी हँसी देखी और समझ गया अब यह चुप रहना चाहेगा.

चाय पीकर वे बाहर निकल गये. बाजार की तरफ थोड़ा चले फिर लौटकर दीपक के घर चले गये. घर के बाहर मैदान में कुर्सियाँ डालकर बैठ गये. दोनों चुप. आखिर जनार्दन बोला, "दीपक तुम्हें मेरी कोई बात बुरी लग गयी है." दीपक के पास कहने के लिए कुछ नहीं था. जनार्दन उत्तर की प्रतीक्षा में उसे देखे जा रहा था. दीपक देर तक कुछ नहीं बोला, "दीपक कुछ बोलो या मैं चला जाऊँ."

दीपक ने जनार्दन की ओर देखा और मुस्कराकर बोला, "मुझे तुम्हारी कोई बात बुरी नहीं लगी. तुमने ऐसा कहा भी क्या है. बस यूँ ही मन खराब है."

"फिर भी कोई बात तो होगी जिससे मन खराब हुआ होगा."

"कोई भी बात नहीं. न जाने क्यों ऐसा लग रहा है जैसे अब मैं तुम्हारे लायक नहीं हूँ. मेरा पतन हो गया है." कहकर दीपक ने करीब आते लोगों को देखा और कुर्सी से उठ खड़ा हुआ. पाँच सात लोगों ने आते ही दीपक को उलाहना देना शुरू कर दिया. वे सब नौकरीपेशा लोग थे. दो डॉक्टर और तीन मंडी समिति वगैरह के लोग.

"आप यहाँ बैठे हैं और वहाँ आपके बिना गिलास सूखे पड़े हैं. चलिये फौरन. और जनार्दन भाई आप भी. इनके बिना तो चल ही जायेगा. आपके बिना पार्टी ही नहीं होगी ईओ साब ने कहा है."

दीपक और जनार्दन एक दूसरे को देखने लगे. डॉक्टर ने जिसके बायें गाल पर मस्सा था, उत्साह में भरकर कहा, "चलिये, तो आप लोग! देखिये कैसा ऊँचा मामला है. जितनी जिसे पीना हो पिये."

दीपक बोला, "हम लोग नहीं जा सकेंगे."

पाँचों एक साथ चौंककर बोले, "क्या नहीं जा सकेंगे." फिर डॉक्टर बोला, "पता है आपको इस पार्टी को लेकर ईओ कितना सेंटीमेंटल हैं. फील कर जायेगा भाई."

दीपक बोला, "बताया न, हम लोग नहीं जा सकेंगे." जनार्दन भी अब कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और बोला, "दीपक तुम जाओ. मेरी तबीयत ठीक होती तो मैं भी चलता. आप लोग इसे ले जाइये." इतना कहकर जनार्दन तेजी से अपने घर की ओर चल दिया. दीपक उसके पीछे भागा. थोड़ा आगे उसे रोककर बोला, "तुम नहीं जाओगे तो मैं भी नहीं जाऊँगा."

जनार्दन ने दबी लेकिन भीषण आवाज में कहा, "तुम नहीं गये तो अभी शहर वापस चला जाऊँगा समझे. चुपचाप चले जाओ."

जनार्दन ने पलटकर देखा और जाते-जाते ताकीद कर गया "जाओगे नहीं तो ठीक नहीं होगा."

वे पाँचों कुछ भी न समझ सके कि मामला क्या है. दीपक को साथ लेकर वे चले गये.

जनार्दन घर जाकर एक अलमारी से जूझने लगा. उसमें उसकी किताबें और कागजात रखे थे. उसे उसने नीचे पटक लिया और फिर पलट-पलटकर देखने लगा. मगर उसका मन कहीं और ही था. कल जब ईओ पूछेगा कि क्यों नहीं आये तब क्या वह असली कारण बता पायेगा और यदि नहीं बता पायेगा तो क्या कहकर उसकी आत्मीयता का उत्तर देगा. उसने कैसे अपनत्व से कहा था और किस तरह उसने लोगों को यह कहकर भेजा कि जनार्दन भाई नहीं पहुँचे तो पार्टी नहीं होगी.

जनार्दन बिना कुछ बोले बाहर निकल आया. ईओ के साथ यन्त्रवत चल पड़ा. चलते-चलते बोला, "दरअसल मेरी तबीयत ठीक नहीं थी."

"वो सब ठीक हो जायेगी वहाँ. आप समझ नहीं सकते कि आपसे मिलने को सब लोग कितने बेकरार हैं. आपके बारे में दीपक बताता रहता है. इसी से सबको आपके साथ बैठने की बड़ी उत्सुकता है." ईओ बोला.

जनार्दन चलता रहा. बाजार आ गया. और बाजार की अन्तिम दुकानें भी आ गयीं फिर बसस्टैंड और लल्लू का होटल. वहाँ पहुँचते ही जनार्दन को याद आया महादेव महाराज प्रतीक्षा कर रहा होगा. और वाकई लल्लू होटल में हज़म्मा जुड़ा था. महादेव बाहर खड़ा पानी के कुल्ले कर रहा था. उसने जनार्दन को देखते ही हाथ हिलाया. जनार्दन ने हाथ हिलाकर उत्तर दिया और सीधा चलता रहा. महादेव को अजीब लगा. ईओ के साथ चले जा रहे हैं जनार्दन भाई. और वह तो सचमुच चले ही गये. जब तक वे दोनों मुड़ नहीं गये, महादेव महाराज सकते की हालत में उन्हें देखते ही रहे.

जनार्दन अब तेज कदम बढ़ रहा था. वह जल्दी से जल्दी वहाँ पहुँचकर पी लेना चाहता था. वरना उसका माथा फट जाता.

बगिया में गैस की चार-पाँच लालटेनें पेड़ों पर टँगी थीं. उनके प्रकाश में कई कुर्सियाँ बेंचें तखत और खाटें पड़ी थीं. बीच में एक तखत पर ढ़र गिलास रखे थे. बड़ी-बड़ी प्लेटों में सलाद भरा पड़ा था. चार बोतलें रखी थीं. एक ओर ईंटों के चूल्हे पर डेग चढ़ी थी. चूल्हे के आसपास तीन चार पल्लेदार काम में लगे थे. करीब बीस-पच्चीस लोग जिन्हें ईओ मंडल के नाम से जाना जाता था, कुर्सियों पर बैठे खाटों पर लेटे यहाँ वहाँ टहलते उन दोनों की प्रतीक्षा कर रहे थे. उनके पहुँचते ही उत्साह का संचार हो गया. ओमी ने बोतल खोली और गिलासों में डालना शुरू कर दिया. लोगों ने सिगरेटें सुलगा लीं. जनार्दन का एक से परिचय कराया जाने लगा. अधिकांश लोग उसे जानते ही थे. वे उससे मिलकर और उसे पार्टी में पाकर बहुत प्रसन्न हुए. इस बीच गिलास हाथों में आ गये और पीना शुरू हो गया.

जनार्दन को दीपक ने अपने पास बिठा लिया. जनार्दन के दायें तरफ कुँअर साहब बैठे थे. उन्होंने एक साँस में गिलास खाली कर दिया. जनार्दन ने भी जल्दी ही निबटाकर दूसरी बार ले ली और एकदम पी गया. लोग चुटकलों, गजलों के मूड में आ गये. बेहद गन्दे चुटकले चलने लगे.

जनार्दन कुँअर साहब की ओर मुखातिब होकर बोला, "कुँअर साहब सुना है आप कांग्रेस आई में हैं."

कुँअर साहब ने हामी में सिर हिलाया. "आप जैसे आदमी को जब मैं इस पार्टी में देखता हूँ तो मुझे बहुत दुख होता है. आप जैसे दमदार लोगों को तो किसी क्रान्तिकारी पार्टी में होना चाहिए. आखिर राजासाहब आजादी की लड़ाई में शामिल हुए थे न." कुँअर साहब इतने गम्भीर वार्तालाप के लिए शायद तैयार न थे. टालते हुए बोले, 'हाँ मगर अब जो है सो ठीक है."

"ठीक कैसे है कुँअर साहब, गरीब आदमी की तरफ से आप जैसे लोग नहीं लड़ेंगे तो कौन लड़ेगा?"

दीपक ने हस्तक्षेप किया, "इस मुद्दे पर अपन बाद में बात करेंगे. पहले उन लोगों की बात सुनो वे तुमसे कविताएँ सुनना चाहते हैं."

मस्से वाला डॉक्टर बोला, "हम लोग महीनों से आपके इन्तजार में हैं. सुनाइये."

फिर सब लोग उसके पीछे ही पड़ गये. जनार्दन को नशा चढ़ गया था इसलिए सारा दृश्य नजर आ रहा था और लोगों की आवाजें धीमी लग रही थीं. उसने गिलास बढ़ा दिया. लोगों ने उत्साह में खूब डाल दी. वह नीट पी गया. फिर सिगरेट सुलगाकर बोला, "तो आप लोग कविता सुनना चाहते हैं. अपनी तो याद नहीं है. एक बहुत बड़े कवि को सुनाता हूँ."

लोग उत्सुक हो उसकी ओर देखने लगे. जनार्दन का सिर चकराने लगा. उसे लल्लू होटल दिखा. महादेव महाराज देखकर सकते में. उसे देखते हुए जनार्दन गों-गों करते कुछ बोला. लोग हँस पड़े. तो उसने तैश में गरदन झटकी. दीपक ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा और बोला, "सुनाओ जनार्दन" जनार्दन बोला, "सुनो"

ओ मेरे आदर्शवादी मन
ओ मेरे सिद्धान्तवादी मन
अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया
उदरम्भरि बन...

यहाँ तक आते-आते जनार्दन की जीभ ऐंठ गयी. दूसरे ही क्षण उसने उल्टी कर दी. वह कुर्सी पर गिर पड़ा. फिर कुर्सी जमीन पर गिर पड़ी. वह धूल में औंधा पड़ा ओकने लगा. ▣

◆ कहानी ◆

लौटा तो कहीं नहीं

नवीन सागर

पहले खूब जाता था. जाने के लिए एक जगह नहीं थी. पूरी दुनिया खुली थी. और उसमें जगह थी कि कहाँ-कहाँ ज़ाऊँ. फिर जब गया तो बार-बार लौटा इतना उदास कि जाने की इच्छा हर बार थोड़ा मरी. दुनिया जितनी बड़ी थी उतनी ही छोटी हुई. अब कहीं जाना नहीं है. किसी से बात नहीं करनी है. कोई बात नहीं बची. बोलने का मन नहीं रहा. अकेला चुपचाप होता गया. मुझे बुलाओ मुझे बुलाओ करते-करते सुन्न हुआ. बच्चों की आवाज नहीं आती. कुसुम बुलाती है भीतर, मैं बाहर जाना चाहता हूँ. सतीश! सतीश! सुनो. वह नहीं सुनता. धीमी चाल से बाजार में फिरता है. मैं कहना चाहता हूँ दोस्त! मेरी आवाज कहाँ है?

नहीं, ऐसे बयान नहीं होगा. मैं ठीक से बताता हूँ. सुनो. दिन तो जैसे-तैसे दफ्तर की नींद में गुजर जाये शाम काटे नहीं कटती. सूरज डूब जाय और अँधेरा घिरने लगे तो मन भी जैसे घिरने लगता है. घर में रहते नहीं बनता. वही दो कमरे. वही चेहरे वही चीजें. दफ्तर से लौट के बरामदे में कुर्सी डाल के बैठ जाता हूँ सड़क देखने. कालोनी की बस भीतरी सड़क का दृश्य कभी नहीं बदलेगा. झुंड में लड़कियाँ घूमेंगी. मोटी महिलाएँ कुत्तों के साथ घिसटती रहेंगी. बूढ़े लोग गुटानें लिये धीरे-धीरे चलेंगे. थोड़ी देर बच्चों की धमाचौकड़ी हो जायेगी. सामने के लॉन में मिस्टर और मिसेज कपूर बेडमिन्टन खेलेंगे और फिर देर तक बैठे चाय पीते रहेंगे. मेरे पास कुसुम आ बैठेगी. हम बातें नहीं करेंगे, कुसुम मुझसे कहेगी कुछ बात करो. मैं कहूँगा क्या बात करूँ. मैं कुसुम से कहूँगा चुप क्यों हो कुछ बोलो. वह कहेगी क्या बोलूँ. कभी मेरी लड़की आ बैठेगी—हाई पावर का चश्मा लगाये ढीले-ढाले अंजर-पंजर लिये. मायूस रहा करती है. उमर अभी कुल बारह बरस है और इतना ऊब चुकी है कि मुझे उसकी जिन्दगी बड़ी लम्बी और बोझिल लगती है. बैठ जाती है कुछ बात नहीं करती. मेरा भी मन नहीं होता कि उसे कुछ कहूँ-बताऊँ. पहले सोचता था अपने बच्चों से खूब बातें किया करूँगा उन्हें दुनिया जहान के बारे में खूब बताऊँगा मगर अब यह सब व्यर्थ लगता है. लड़की से छोटा जो मेरा लड़का है उसकी एक टाँग छोटी है. यदि मैंने उसे छुटपन में पोलियो का टीका लगवा दिया होता तो वह भी बच्चों के साथ दौड़-पदौड़ करता. बच्चों में वह जाता है थोड़ी देर शामिल होने के लिए खड़ा रहता है और फिर लँगड़ाता हुआ लौटकर भीतर कमरे में बेआवाज बना रहता है. मेरे पास कभी बैठ जाता है मगर प्रश्न नहीं करता. बाहर देखता रहता है. आसमान देखने की उसे इतनी आदत है कि अकसर उसकी गरदन पीछे को हुई रहती है. वह कमरे में बैठा हो तो भी हुई रहती है और तेजी से घूमते या रुके हुए पंखे और छत को ही देखता रहता है. पढ़ाई-लिखाई में उसका मन नहीं लगता. खाने-पीने का शौक उसे नहीं है. स्कूल जाना नहीं चाहता है ज्यादातर अपनी माँ के पास बैठा रहता है.

मुझे इस शहर में रहते तीस साल हो गये. कई मुहल्लों में रहा और अब पिछले आठ बरसों से इस कॉलोनी में रह रहा हूँ. यहीं पढ़ा, यहीं नौकरी लगी, यहीं रिटायर होना और मरना है. जिस बरामदे में मैं बैठा हूँ एक दिन इसी में कहीं पर लिटा दिया जाऊँगा दफ्तर के लोग सड़क और बरामदे के बीच की इस ऊँची-नीची जमीन पर बैठ जायेंगे और अर्थी उठने की प्रतीक्षा करेंगे. कालोनी की जो ये खिड़कियाँ दरवाजे और छतें यहाँ से दीख रही हैं इनमें से स्त्रियाँ, जवान लड़कियाँ और बच्चे झाँककर देखेंगे. तीन किलोमीटर दूर का श्मशान जो यहाँ के लिए सबसे नजदीक है, वहाँ मुझे फूँककर लोग अपने-अपने घरों को चले जायेंगे. मेरा लड़का लँगड़ाता हुआ घर लौटेगा और गरदन पीछे को ढलका के ऊपर की तरफ देखेगा. लड़की हाई पावर के पीछे से देखेगी तो सबकुछ धुँधला जायेगा. कुसुम भीतर कहीं पड़ी रोती रहेगी. सरकारी लोग एक दिन आ के क्वार्टर खाली करवायेंगे. तीनों को कहीं जाना पड़ेगा. लड़का कहेगा कितनी दूर जाना है मैं लँगड़ा हूँ. दफ्तर में मेरा पे बिल नहीं बनेगा. सी.पी.एफ. की रकम लेने कुसुम जायेगी और दफ़्तर के लोग कहेंगे एन.पी. की विधवा आयी है. मैं जानता हूँ मैं किसी और ढंग से या कहीं और नहीं मरूँगा. युद्ध-भूमि में नहीं, गृह-युद्ध में नहीं, दंगे में नहीं पुलिस की गोली से नहीं, गुंडे के हाथों नहीं. पहाड़ से गिरकर नहीं, ज़हर खाकर नहीं, सड़क दुर्घटना में नहीं (मैं सदा बायें चलता हूँ, सूनी सड़कें पार करता हूँ. वाहन नहीं चलाता. न यात्राएँ करता हूँ) मैं किसी रोग से भी नहीं मरूँगा, क्रोध से भी नहीं. मैं इसी बरामदे में इसी चरर-मरर कुर्सी पर ऐसा ही बैठा मरूँगा. अपने मरने का तौर चुनने की सुविधा किसी को नहीं होती मगर पता तो किसी को भी चल सकता है कि वह कैसे मरेगा. मैं बैठा-बैठा जब मरूँगा तो कोई मेरे पास नहीं होगा. कुसुम साग छौंक रही होगी, लड़का बच्चों के झुंड की ओर पीठ किये घर आता होगा और लड़की अपना चश्मा किसी गन्दे कपड़े से साफ करती आँखें मिचमिचाये कमरे के बीचोबीच खड़ी होगी. मैं देर तक गरदन झुकाये बैठा रहूँगा और मेरे दिमाग की जो नस अकसर तड़का करती है वह फट जायेगी. मैं चला जाऊँगा. नहीं, समाप्त हो जाऊँगा.

पर अभी! मैं कहाँ जाऊँ किसके पास क्या बात करूँ? जिस शहर में बचपन और जवानी बीती हो उस शहर में कोई तो होना चाहिए. सड़क चलते किसी को पकड़ लूँ. किसी घर में घुस पड़ूँ. किसी मन्दिर में कीर्तन मंडली के बीच बैठ के तान खींचूँ.पैर लरजते हैं. घर से निकला कि पेट में हौल उठी और अशक्त हुआ. बाजार में फिरते-फिरते इतना लालची हुआ कि चीजों के दाम पूछे और चीजों को देर तक लिये खड़ा रहा. कोई मिला तो राम-राम की. दो मिनट कभी रुक लिये तो हालचाल पूछ डाले. सब ठीक चलता है. सबका पूछने पर कोई-कोई नया उत्तर नहीं देता. मेरे पास भी और कोई नया प्रश्न नहीं. आँखें कब से नहीं मिलीं. हँसते-हँसते एक दूसरे पर गिर जाने के जलसे अब नहीं. वहाँ कब गया था उस गाँव. आग तापते बूढ़ों को सुनते जवानों बच्चों में शामिल हुआ जब चाँद हमें देखता था और सितारे टिम टिम-टिम टिम कच्चा आँगन. आँगन में पेड़ खूब घना घिनौची. नीम की दातुन. दो-एक बुजुर्ग चूल्हे के इर्द-गिर्द स्त्रियाँ. द्वार पर दरी बिछा के धूप में पहाड़ों की रटंत. रोटी की गन्ध घर में भर जाये तो दालान में पटों पर लाइन से बाप-बेटे चचा-भतीजे पूरी पाँत-बैठ निपटे अकेला गिरा चित. यहाँ यह कौन सी जगह है सब कहाँ चले गये दृश्य तारीखें और सन् बदलते-बदलते इतनी दूर निकल आये कि दुनिया पहचानी नहीं जाती.

"चलो खाना खा लो."

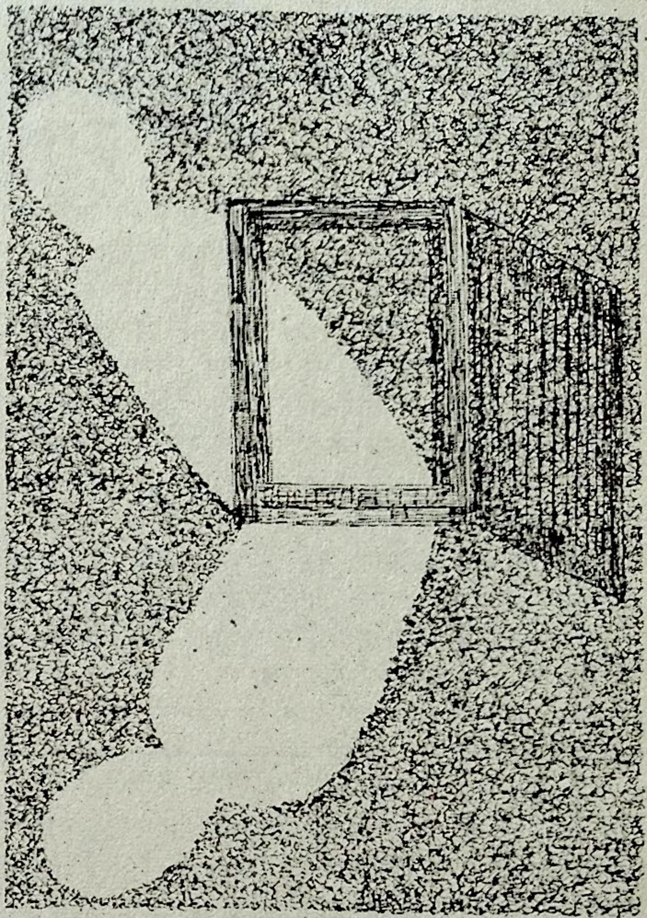
यह आवाज कितनी दूर से आती है और कुसुम कितने पास खड़ी है. "चलो खाना खा लो."

मैं कहाँ गया कि लौटा तो कहीं नहीं. मुझे शामिल करो मुझे शामिल करो.

"चलो खाना खा लो."

उठकर भीतर गया. कपड़े उतारे, लुंगी लपेटी पालथी मार के बैठ गया. बच्चे सो गये हैं. ये जितना ज्यादा सोयेंगे उतनी ही आसानी से गुजर जायेंगे पर सुबह उन्हें जागना पड़ता है. नींद के भीतर की भीतरी तहों के भीतर भी ये जागते होंगे सपनों की रील के आगे बैठ अपना नाटक देखना पड़ेगा. इन बच्चों को मिट्टी से ढँक दो ये मुझे दीखते हैं. कुसुम खाना ले आयी. मैं खाने लगा. आलुओं का झोल और उसमें तैरते जीरे तली में पड़े दो-एक टुकड़े. मैं खा रहा हूँ वह मुझे देख रही है. मैं इसी तरह रोज खाता रहूँ तो छिपकली की तरह एक दीवार और एक सँध चाहिए. दुनिया दूर-दूर तक पड़ी रहेगी और मैं दीवार से नीचे नहीं उतरूँगा. कभी गिरूँगा तो घबरा के फिर चढ़ जाऊँगा. मैंने खाया अब कुसुम खा रही है. हाथ में रोटियाँ और कटोरी में झोल. मैं लेटा हूँ उसकी ओर पीठ किये वह मेरी और पीठ करके सोयेगी और हमारे सपने आपस में गुँथकर सुबह की धूप में हमसे अलग पड़े बेतरह चिलचिलायेंगे.

यह मुझे इतने बरसों से सूझा क्यों नहीं. मैं अकेला बैठा रहा, दुनिया भर के खयाल आते रहे. सतीश का खयाल क्यों नहीं इस तरह से मुझे आया! नहीं आ सकता था भीतर ऐसी लपट जैसी आज उठी पहले कभी उठी नहीं थी. नहीं आ सकता था. हर बात का एक समय होता है. इतने बरसों का समय शायद इसके लिए जरूरी था. मैंने इस लपट में कितने दृश्य देख डाले. अपने और



चित्र : नवीन सागर

सतीश के कुछ चे जो कभी थे कुछ ऐसे जो आगे होंगे. मैं कमरे में चक्कर काट रहा हूँ. स्नायु इतनी उत्तेजना सहने के आदी नहीं हैं. खून इतनी रफ्तार से कभी दौड़ता नहीं है. मैं चक्कर काट रहा हूँ. कोई पक्षी कमरे में चक्कर काटे और खिड़की से एकदम बाहर निकल जाये मैं निकल पड़ा, सड़क पर दूर तक गया वापस हुआ. सोचना तेजी से चल रहा है. कुछ भी साफ नहीं है कि सोच क्या रहा हूँ. दिमाग तेज घूमता हुआ हृदय में उठती भावनाओं के पुर में बह रहा है.

दफ्तर से आकर कहीं जाने के लिए तैयार खड़ा हूँ तो कुसुम मंगल कामना में गले-गले तक डूबी खड़ी है. वह आज बरामदे में कुर्सी नहीं रखेगी और घर का दृश्य बदल जायेगा.

"मैं अभी आता हूँ. बाजार का एक चक्कर लगा आऊँ."

बाजार का एक चक्कर लगाने में आधा घंटा लगेगा. शहर के सारे बाजारों का चक्कर लगाऊँ तो सारे बाजार बन्द हो जायेंगे और मैं आधी रात गये लौटूँगा. लेकिन अभी मुझे उस एक बाजार से लौटना है जहाँ से सतीश लौटता है. साइकिल पर खाकी चीकट थैला लटकाये पैदल फिरता हुआ दिखेगा तो मैं लपक के उसके पास जाऊँगा. मैंने घर छोड़ा. कुसुम बरामदे में खड़ी मेरा जाना देख रही है. आखिर मैं जाता कहाँ हूँ सोचती होगी और हल्की उम्मीद में खुश होगी कि बाहर कोई जगह बन रही है जहाँ मैं जाया करूँगा. उसे नहीं पता कि आज मुझे ऐसा बन्दोबस्त करना है कि मेरा घर किसी के आने की जगह बनेगा. बरामदे में बातों और

कहकहों की एक छोटी से झील होगी जिसमें कुसुम और बच्चे चाहें तो नौका विहार करें चाहें तो डुबकियाँ लगायें और तैरें. हर हाल में इस सन्नाटे को तोड़ना है कि घर में भरा गट्ठरों अँधेरा शाम को रोज खदेड़ा जाय तो एक उजला दिन उसमें से निकल के दुनिया भर के दिनों में फिरे.

घर के बरामदे से सड़क दूर तक दिखती है. दूर सड़क से बरामदा नहीं दिखता कुसुम तो और भी नहीं दिखती. मैं मुड़ा बाजार की बत्तियाँ दिखीं तो तेज-तेज चला. मील भर के घेरे में पसरे बाजार के किस हिस्से में सतीश रुक-रुक साइकिल के लिए जगह बनाता चल रहा होगा. ऐसे पता नहीं चलेगा. एक तरफ से चलना शुरू करूँ और चारों तरफ देखता हुआ उसे अचानक देख लूँ. लपक के साइकिल के हैंडिल पर हाथ रखूँ– सतीश! पन्द्रह बरस से हम ऐसे ही मिलते हैं मिलने का वादा करके अपनी अपनी राह पकड़ते हैं. मैं कहता हूँ, तुम घर आना वह कहता है कभी तुम भी आना. मैंने इन पन्द्रह वर्षों में सिर्फ एक बार उसका घर देखा है. उसके पिता दरवाजे पर मरे पड़े थे थोड़े से लोग जमा थे और उस चीथड़ घर के भीतर खूब रोया जा रहा था. मैंने सतीश के कन्धे पर हाथ रखा था. वह मेरे घर दो बार आया. एक बार जब मेरी बहन गायब हुई और उसे किसी ने मार के फेंक दिया. एक बार दीवाली के दिन. थैले में दिये रखे था. उसके घर कोई नहीं था. सब कहीं गये थे और उसने बेखुदी में दिये खरीद लिये थे. उसका खयाल था कि दिये जलते हैं कुसुम जानती थी तेल जलता है और मैं जिस घानी में जुता हूँ वहाँ से लौटकर पसीने की बदबू से घर भर देता हूँ. दिये ले लिये और ताक पर उलटकर रख दिये.

उलटे दिये अँधेरा फैलता हैं. सतीश ने रास्ते भर सोचा होगा मेरे घर उसके दिये जल रहे हैं.

"सतीश!" वह एकदम दिखा एक बड़े भारी जनरल स्टोर के आगे जाते-जाते रुका हुआ भीतर की चीजों के रंग उनकी चमक और बल्बों की सजावट देखता हुआ.

"सतीश!" वह नींद से चौंका और मुझे देखकर साइकिल घसीटता मेरी ओर बढ़ा. मैंने हैंडल पर हाथ रखा. "सतीश मैं तुम्हें ढूँढ़ रहा था तुम नहीं मिलते तो तुम्हारे घर जाता."

सतीश ने चिन्ता से देखा. "नहीं-नहीं कुछ गड़बड़ नहीं है. आज तुमसे खास बात करनी है चलो इस बाजार से निकल के कहीं बैठते हैं."

हम बाजार से निकल के पुलिया पर बैठ गये. निकलते हुए हम चुप रहे. वह उत्सुक नहीं हुआ. उसे आश्चर्य भी नहीं था. वह अपने को चुपचाप मेरे हवाले करके साइकिल घसीटता रहा. पुलिया पर बैठकर दोनों ने थोड़ी देर सिर्फ साँसें भरीं. यहाँ से बाजार का शोर बहुत धीमा सुनायी पड़ता है. सड़क के दोनों ओर वाहन निकल रहे हैं. पुलिया के पीछे रुके हुए कीचड़ से उठ के सड़ाँध सड़क की धूल में एक जान हुई हमारी साँसों में जा रही है.

"सतीश! हम जैसे जी रहे हैं घरों में बन्द हो वे यदि ऐसे ही जीते रहे तो समझ लो इतनी जल्दी मरेंगे कि बच्चे स्कूल भी पार नहीं कर पायेंगे. मुझे तो समझ में नहीं आता कि यह हुआ क्या ठीक-ठीक याद भी नहीं आता कि कब से ऐसा हुआ. तुम मेरा मतलब समझ रहे हो न! चारों तरफ से कट गया. घर के बड़े बूढ़े तो मर खप गये अब जो लोग बचे हैं उनका पता मेरे पास है मेरा पता उनके पास है मगर न चिट्ठी-पत्री न आना-जाना"

खुशी के मौकों पर कहीं जाने की हैसियत नहीं और गमी के लिए कभी गया भी तो हारे थके चेहरों को देख के उलटे पाँव लौटा. जहाँ रहता हूँ वहाँ किसी के पास उठना-बैठना नहीं. मेरे घर कोई नहीं आता. यह सब अलग है सबसे कटकर भी अलग भीतर कुछ बचा रहता कोई इच्छा कोई सपना तो भी गनीमत थी. पर मैं क्या बताऊँ भीतर सब मर गया अकेला बैठा रहता हूँ सोचता रहता हूँ और सोचता भी क्या रहता हूँ अपने मरने की, कुसुम के मरने की बच्चों के मरने की. तुमने तो देखा है मेरे बच्चों को, कहीं से भी बच्चे नहीं लगते. इस उमर में हम कैसे थे तुम्हें याद होगा. आसमान सिर पर उठाये फिरते थे."

सतीश ने सिर हिलाया. उसे मैंने बचपन की याद दिलायी तो उसका शरीर तनिक हिला जैसे मेरे पास खिसका आता हो. फिर उसके कन्धे ढलक गये और वह बोला, "भगवान पर भरोसा रखो नवल, सब ठीक हो जायेगा."

इस मामले में भगवान के हस्तक्षेप की उम्मीद मैं नहीं कर रहा था. मैंने भगवान को कष्ट कभी पहले भी नहीं दिया. उससे मेरा निकट का सम्बन्ध भी कभी नहीं रहा. यदि उसने मुझे इस दुनिया में भेजा है तो उसकी यही मेहरबानी मेरे लिए बहुत है. मैं नहीं चाहता कि मेरे जीवन में अब वह कोई भी हस्तक्षेप करे. मैंने कुसुम के ठाकुरजी को भी घर में डेरा नहीं डालने दिया और धीरे-धीरे वह भी भगवान के बारे में भूल चुकी है. मेरे घर में उसे याद नहीं किया जाता, मदद के लिए नहीं पुकारा जाता और मैं यह भी नहीं चाहता कि वह मेरे घर आये या मेरे लिए कोई उसे पुकारे.

मैंने सतीश को झिड़का, "भगवान को रहने दो. मुझे पता है उसपे भरोसा रखने से सब ठीक हो जाता है. अभी तो मैं यही सोच रहा हूँ कि अपने किये क्या हो सकता है."

सतीश के झोले में अगरबत्तियों का पैकेट रखा होगा वह यहाँ लौट के तस्वीरों-मूर्तियों के आगे खुशबूदार धुआँ करेगा. क्या पहले मैं या वह कल्पना तक कर सकता था कि वह ऐसा करेगा.

"सतीश! हमारी समस्या ये है कि हम जीते हुए भी जी नहीं पा रहे हैं और इसका सबसे बड़ा कारण ये है कि कोई ऐसा नहीं जिससे हम बातें कर सकें. बातों में से इच्छाएँ निकलेंगी, उत्साह पैदा होगा और हम फिर से चल पड़ेंगे. आखिर यह कोई मामूली

सतीश! हमारी समस्या ये है कि हम जीते हुए भी जी नहीं पा रहे हैं और इसका सबसे बड़ा कारण ये है कि कोई ऐसा नहीं जिससे हम बातें कर सकें. बातों में से इच्छाएँ निकलेंगी, उत्साह पैदा होगा और हम फिर से चल पड़ेंगे. आखिर यह कोई मामूली बात नहीं है कि मैं अपने और सबके मर जाने की कल्पनाएँ करता हुआ दिन गुजारूँ

बात नहीं है कि मैं अपने और सबके मर जाने की कल्पनाएँ करता हुआ दिन गुजारूँ और एक शहर में रहते हुए भी हम दोनों एक-दूसरे से न मिलें. तुम साइकिल पर थैला लटकाये रोज बाजार में फिरते हो, खरीदते कुछ नहीं हो तो क्या तुम नहीं जानते कि तुम बाजार में नहीं फिरते हो घर से भागे फिरते हो और... सतीश ने लम्बी साँस खींची.

"और हाँ सतीश तुमने तैरा कब से नहीं है?" सतीश के चेहरे पर एक पल के लिए मुस्कान दिखी शायद उसने अपना ना-तैरना देखा है. "तभी से नहीं तैरा जबसे हम अलग हुए."

"यानी हम साथ रहते तो तैरते रहते. हम उसी शहर में हैं वही तालाब है और हम तैरते नहीं. पहले कोई दिन ऐसा नहीं जाता था जब हम दो-चार घंटे पानी काटते दूर-दूर तक न निकल जायें. तुम्हें याद है तुम कितने ऊपर से डाइव लेते थे और कितनी दूर उखड़ते थे."

सतीश के चेहरे पर फिर मुस्कान आयी. हाँ, उसे धीरे-धीरे सब याद आ रहा है. "मुझे नहीं लगता कि वो मैं ही था." कहकर सतीश थक गया. वह जाने के लिए बेचैन लगा तो मैंने अपनी बात खत्म की.

"तो सतीश अब तुम मेरे घर आया करो मैं भी तुम्हारे घर आया करूँगा. तुम्हारे पास साइकिल है इसलिए तुम आसानी से आ सकते हो, बरामदे में अपन बैठा करेंगे. खूब बातें होंगी. और मैं तो यह भी चाहूँगा कि छुट्टी के दिन अपन तैरने चला करें और दूसरे-दूसरे लोगों से मिला करें. अभी अपनी कोई खास उमर नहीं हुई है तैर सकते हैं. लोग तो बुढ़ापे तक तैरते हैं. मैं अड़तीस का हूँ तुम मुझसे एक साल बड़े हो उनतालीस के होगे और क्या. तो बोलो, कल से आया करोगे?"

"हाँ आऊँगा."

"आऊँगा नहीं, आना ही है. पहले भी हम एक-दूसरे से वादे करते रहे हैं. पूरे पन्द्रह बरस ऐसे गुजार दिये. अब यह नहीं चलेगा. आखिर हम बचपन से जवानी तक रोज साथ रहे हैं. एक-दूसरे को सहारा देंगे.तो बोलो आओगे?"

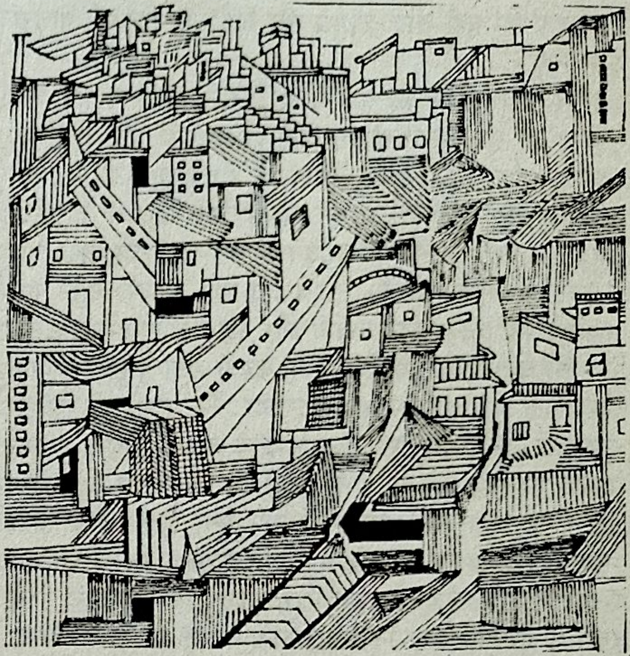
"कह तो रहा हूँ."

"देखो, तुम दफ्तर से लौट के घर तो सीधे जाते नहीं हो बाजार में मारे-मारे फिरते हो मेरे घर ही आ जाया करो फिर अपन चाहें तो बैठ के बातें करते रहें और चाहें तो घूमने निकल जायें."

"ठीक है." कहकर सतीश उठ गया. उसने साइकिल सँभाल ली और मुस्कराया, "चलूँ!"

सड़क पर विपरीत दिशाओं में जाना है. मैंने उसे मुड़ के देखा वह धीरे-धीरे चला रहा है, साइकिल पर चढ़े मैंने उसे कभी नहीं देखा. एकाध दिन कहूँगा कि साइकिल चलाकर दिखाओ कैसा लगेगा मेरा दोस्त जब रफ्तार से गुजरेगा.

मैं घर लौटा तो इतना खुश कि किसी और के घर में लौटा हूँ या कोई और मेरे घर में लौटा है. मेरे मन को ऐन मेरे चेहरे पर मुस्कराता देख कुसुम गौर से देखती है. और यहाँ गौर से देखना सुख-सन्तोष से देखना है. मैं लड़के के पास प्यार भरा बैठ गया हूँ. लड़की से मैंने पूछा कि साग उसने बनाया कि नहीं बड़ा अच्छा बनाती है. तो लड़की पास आ बैठी. कुसुम एक थाली में पीला



चित्र : नवीन सागर

भात ले आयी, एक प्लेट में अचार का बेगर है. थाली रखकर ऐसे बैठी कि चार के बीच रखी थाली में से चारों को एक साथ खाना है. "आज बच्चे तुम्हारे लिए रुके रहे, कहते थे बाबू के साथ खायेंगे." कुसुम ने बताया, "मुझे देर हो गयी बिचारे भूखे पड़े रहे. असल में सतीश मिल गया बातें होती रहीं. सतीश कल से रोज आया करेगा." बच्चों को किसी का आना अच्छा लगता है मैं रोज आता हूँ और मेरा आना तक उन्हें अच्छा लगता है. सतीश का नाम दोनों ने सुना है उन्हें पता है कि बाबू के ये दोस्त अच्छे तैराक हैं तालाब पार कर सकते हैं और पहले कभी इन्होंने समुद्र पार करने की ठानी थी, मैंने सतीश से कहा है कि अपन फिर से तैरा करेंगे छुट्टी के दिन तो तैर ही सकते हैं. कभी-कभी तो मुझे लगता है कि हम दोनों का जीवन ऐसा इसलिए हो गया कि हमने तैरना छोड़ दिया. मेरी अन्तिम बात मेरे सहित किसी की भी समझ में नहीं आयी. मुझे सबकुछ व्यर्थ लगा. मेरी खुशी कितनी बेतुकी और भड़कीली है. मैं उठकर बरामदे में जाऊँ पीछे-पीछे कुर्सी आये और बैठकर मेरा सड़क की ओर देखना हो. बच्चे सो जायें कुसुम सो जाये और ऐसी लम्बी रात हो कि बैठा ही रहूँ. मैं घबरा उठा. बैठे-बैठे अँधेरा देखने की दुर्भावना के भीतर से मैं बाहर को भागा अपनी खुशी में घुस के उस तरफ पीठ कर ली. सब खा रहे हैं. कुसुम कुकर में से भात निकालती जाती है, सबने खूब खाया. थोड़ा सा भात बच रहा. कुसुम ने बार-बार मुझे देना चाहा बोली, "तुम बहुत कम खाने लगे हो." मैंने कहा, "नहीं तो, सारा मैंने ही तो खाया है तुम और ये दोनों तो बस चुगते रहे." लड़के ने पेट उघाड़ के बताया, देखो. लड़की ने बहुत खा लेने के हाव-भाव दिखाये. हम लेट गये. दोनों बच्चे मेरे इर्द-गिर्द. कुसुम दीवार से टिक के बैठ गयी. मैंने पुरानी-बातें दुहरायी. सतीश और अपनी दोस्ती की बातें बताते-बताते मैं भावना में बह गया. मैं बहुत देर तक बोलता रहा. बच्चे सो गये और कुसुम ऊँघने लगी.

मैं बोलता रहा यहाँ तक कि मुझे नींद आ गयी. फिर भी बोलना रुका नहीं.

सतीश के आने का यह पहला दिन है. मैं बरामदे में बैठा हूँ और वह साइकिल घसीटता चला आ रहा है. यहाँ से सड़क इतनी दूर तक दिखती है कि बिजली के पाँचवें खम्भे के नीचे मैंने उसे देखा. वह उसी चाल से चल रहा है जैसी चाल से बाजार में फिरता है. पहले खम्भे तक पहुँचने में उसे बहुत देर लगी और मैं उससे भी अधिक देर तक उसे देखता रहा. आखिर उसने पास आकर अपनी झुकी गरदन उठायी और मुझे देख मुस्कराया. उसके लिए मैंने चारपाई बिछायी है. आओ, कहता हुआ मैं खड़ा हो गया और उसके बैठ जाने के बाद बैठ गया. मैंने कुसुम को जोर से बताया तो दोनों बच्चे बाहर निकल आये. सतीश पालथी मारकर चारपाई पर बैठा है उसने दोनों बच्चों की नमस्ते का उत्तर दिया लेकिन वह बच्चों को अपने पास नहीं बुला पाया जबकि बच्चे इसके लिए इतना तैयार थे कि कुछ और करने के लिए तैयार नहीं थे. वे थोड़ी देर खड़े रहे फिर भीतर जाने लगे तो कुसुम उनके बगल से गुजरती बाहर निकली. उसने सतीश को नमस्ते किया. सतीश ने उसकी ओर देखकर हाथ जोड़ दिये और अपनी पालथी पर एक दो बार आगे-पीछे को हल्के से डोला. "स्टूल ले आओ." मैंने कहा तब तक लड़की स्टूल लेकर निकली और लड़का दरवाजे तक आकर रुक गया. कुसुम स्टूल पर बैठ गयी, "जीजी को नहीं लाये आप?" कुसुम ने सतीश की पत्नी को जीजी कहा.सतीश बोला, "मैं दफ्तर से घर नहीं गया सीधा आ रहा हूँ." "बच्चे ठीक-ठाक हैं?" "लड़की तो अब शादी के लायक हो गयी होगी?" "हाँ शादी लायक तो वो कब की हो गयी." "उसी मकान में रह रहे हैं कि बदल दिया."

"उसी में रह रहा हूँ," सतीश ने बताया. कुसुम चुप हो गयी. जैसे क्या पूछे. लेकिन हाँ, यह और रह गया. "आप कभी आते क्यों नहीं? ये आपको कितना याद करते हैं." सतीश मुस्कराया, "आया तो हूँ अब रोज आया करूँगा." कुसुम ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए स्टूल छोड़ा और व्यस्त भाव से भीतर चली गयी.

"दफ्तर से निकल के कहीं अटक गये थे क्या?"

"हाँ, जरा बाजार चला गया था."

"कुछ खरीदना था?"

"नहीं खरीदना कुछ नहीं था, यों ही जाना था."

मैंने हँसकर कहा, "तुम भी यार अजीब आदमी हो, जब कुछ खरीदना नहीं था. तो बाजार जाने की क्या तुक थी. मैं कब से राह देख रहा हूँ."

वह गला साफ करने के ढंग से हँसा और बोला, "बाजार जाने की आदत पड़ गयी है धीरे-धीरे छूटेगी."

"तुम करते क्या हो बाजार में?"

"कुछ नहीं, बस यों ही."

"तुम्हें अच्छा लगता होगा."

"क्या पता," कहते हुए उसने अपने चेहरे पर हाथ फेरा और पालथी पर डोलते हुए बोला, "और सुनाओ."

मैंने कहा, "और सब ठीक है तुम सुनाओ." सतीश ने दोनों हाथों को आपस में फँसा के उन पर चेहरा टिका लिया. तभी मेरा ध्यान उसकी खोपड़ी पर गया. अरे! यह कब हुआ. मैंने पहले कभी ध्यान क्यों नहीं दिया. तभी कुसुम एक थाली में चाय के दो प्याले और नमकीन लेकर आयी. नमकीन की प्लेट चारपाई की पाटी पर रख दी और हमने प्याले ले लिये. "सतीश, मैंने ध्यान ही नहीं दिया कि तुम चश्मा लगाने लगे हो. कब से लगा है?"

उसने चश्मा ठीक किया, "इसे सात साल हो गये."

चाय खत्म हुई तो मैंने सतीश से आग्रह किया कि आराम से लेट जाओ. वह नहीं लेटा, बोला ऐसे ही बैठना अच्छा लग रहा है. कुसुम आ बैठी. मैंने बच्चों को पुकारा. वे दरवाजे पर आ खड़े हुए. "तुम लोग कह रहे थे ना कि चाचा से तैरना सीखोगे, अब खुद कहो चाचा से."

सतीश मुस्कराकर बच्चों की ओर देखते हुए बोला, "जरूर सिखायेंगे."

"सतीश तुम उसके बाद कभी तैरे ही नहीं क्या?"

"मौका ही नहीं पड़ा."

"कभी मन नहीं होता?"

"क्या पता!" कहकर सतीश ने घड़ी देखी और बोला, "अब चलूँ." मैंने कहा, "और बैठो." वह उठते हुए बोला, "देर हो जायेगी," मैं भी खड़ा हो गया. उसने मिलाने के लिए हाथ बढ़ाया तो मुझे बड़ा अटपटा लगा. इससे पहले मैंने उससे कभी हाथ नहीं मिलाया होगा. मैं उसे साइकिल तक छोड़ने गया. कुसुम और बच्चे बरामदे में खड़े रहे. अब मैं कुर्सी पर बैठा हूँ और उसे एक-एक खम्भा पार करते बहुत देर से देख रहा हूँ. किसी दिन ऐसा न हो वह इतना धीरे चले कि खम्भों को कभी पार ही न कर पाये और मैं देखता रहूँ. कहकर गया है कि देर हो जायेगी जब वह घर पहुँचेगा तो किसी को नहीं बतायेगा कि उसे देर हो सकती थी.

अगले दो दिन बड़े खराब गये. मुझे बुखार रहा. बुखार में मेरा बदन टूटता है और बहुत बड़बड़ाता हूँ. कमरे में कितनी भी रोशनी रहे मुझे पीला अँधेरा-सा लगता है. भले ही कमरा सूना हो मैं परेशान रहता हूँ क्यों इतनी आवाजाही हो रही है और वे कौन लोग हैं जो बार-बार निकलते हैं. सतीश दोनों दिन आया. स्टूल पर घंटे दो घंटे बैठा रहता और फिर "चलता हूँ" कहकर चला जाता. कुसुम उसे दिन भर का हालचाल बताती. वह सुनता और गरदन झुकाकर आँखें मूँद लेता. थोड़ी देर में आँखें खोलकर झोले में से अगरबत्ती निकालता और निहायत घटिया खुशबू वाला धुआँ कमरे की हवा में घुल जाता, मैं नाक के पास हाथ से हवा को भगाता ऐसे में वह बड़ी चिन्ता से मेरी ओर देखा करता.

ठीक होकर आज मैं बरामदे में बैठा हूँ तो बड़ी राहत मिल रही है. जैसे महीनों बाद बैठना हो रहा हो. सतीश के आने का समय हो गया है. उसके आने का समय और आना निश्चित है. वह आयेगा ही, ऐसा नहीं होगा कि वह न आये या आने में बहुत देर कर दे. वह दफ्तर से निकलकर बाजार से होता हुआ आता है. इसमें उसे करीब डेढ़ घंटा लगता है. मैंने कुसुम को पुकारा और पूछा, "कितना बजा है." उसने बताया सात. यानी डेढ़ घंटा पूरा हो गया, वह आता ही होगा." मैंने सड़क के पाँचवें खम्भे के पार अँधेरे में देखने की कोशिश की. नहीं, अभी नहीं आया. हो सकता

है उसे कोई काम लग जाये. क्या काम हो सकता है? नहीं, उसे कोई काम नहीं लग सकता है. बीमार हो सकता है. नहीं, वह बीमार नहीं ही पड़ता होगा, पड़ता होगा तो उसे मालूम नहीं पड़ता होगा हो सकता है उसका एक्सीडेंट हो जाये. नहीं, उसका एक्सीडेंट कैसे होगा. वह तो साइकिल चलाता ही नहीं है बस लिये रहता है. उसे साइकिल के बिना चलते मैंने इतना पहले देखा है कि याद नहीं आता वह कैसे चलता था. यह सोचते-सोचते मुझे दिखा कि वह तीसरा खम्भा पार कर चुका है और धीरे-धीरे निश्चित ही मेरी ओर बढ़ रहा है. मैं क्यों डरकर एकदम खड़ा हो गया और भीतर को लपकते-लपकते धम्म से कुर्सी पर गिरा. वह आ रहा है. शहर की बिजली चली जाये तो भी वह यहाँ पहुँच लेगा. अँधेरे में धीरे-धीरे चलता हुआ घर के सामने आकर पुकारेगा, नवल नवल. बिजली नहीं गयी. वह आ पहुँचा और मुस्कराया. साइकिल टिकाकर सीधा मेरे पास आ खड़ा हुआ और मेरे माथे पर हाथ रखकर आश्वस्त हुआ, "तबीयत ठीक है."

मैं कुछ न बोला. "कुछ खाया पिया?" उसने पूछा तो मैंने हाथ हिलाकर नाहीं कर दी. उसने झोले में से एक मुसम्मी निकाली और मेरी ओर बढ़ा दी, चूस लो इसे. मैंने मुसम्मी लेकर गोद में रख ली. वह चारपाई पर पालथी मार के नहीं बैठा, पाटी पर बैठ गया जैसे जाने के लिए बैठा हो. कुसुम दाल का पानी लेकर आयी मैं चम्मच से पीने लगा. मैं पी चुका तो सतीश ने कटोरा चारपाई के नीचे खिसका दिया.

"बड़ी कमजोरी आ गयी है." आखिर मैं बोला.

"हाँ, तुम्हें तेज बुखार रहा."

"तुम दोनों दिन में बहुत बोर हुये होगे."

"नहीं."

"बोलने में सिर तड़कता है."

"काहे को बोलते हो?" कहकर सतीश ने झोले में से एक पोस्टकार्ड निकाला और चिट्ठी लिखने लगा. एक शब्द लिख देता और आँखें बन्द किये सोचता रहता फिर शब्द लिख देता और फिर सोचने लगता. जब वह इस तरह लिख रहा था मैंने देखा उसके कानों पर बहुत बड़े-बड़े बाल हैं. बायाँ कान छिदा हुआ है और उसमें गोल पतला तार पड़ा है. सतीश के ये कौन से कान हैं. मैंने उसके चेहरे को गौर से देखा. आँखें मूँदे गरदन झुकाये बैठा यह कौन है. मैंने उसके कन्धे, उसके हाथ और पतली टाँगें जैसे मैं पहली बार देख रहा हूँ. उसकी पूरी आकृति का एक साथ देखते हुए मुझे लगा कि या तो मैं पीछे को खिसक रहा हूँ या वह आगे को खिसक रहा है चारपाई समेत. मैंने बेचैन होकर पुकारा कुसुम कुसुम. वह आ गयी, वह क्यों आयी है? फिर मैंने कहा सतीश के लिए चाय तो लाओ. बन रही है. कहती वह गयी और थोड़ी देर में चाय लेकर लौटी. सतीश ने चिट्ठी पूरी की और पते की खाली जगह को देखने लगा. वह या तो पता याद कर रहा है या सोच रहा है कि पता लिखे कि नहीं. उसने पता नहीं लिखा और पोस्टकार्ड झोले में डाल लिया.

अब वह जा रहा है और मैं उसका जाना देख रहा हूँ. वह कल फिर आयेगा. वह धीरे-धीरे जा रहा है. मैं चिल्लाना चाहता हूँ. तेज चलो तेज. यानी बुखार का असर अभी गया नहीं. यह मुझे क्या हो रहा है. सिर में चक्कर है. शरीर ठंडा पड़ रहा है. और कुसुम मेरी बाँह पकड़े मुझे भीतर ले जा रही है.

कुसुम मेरा सिर दबा रही है. उसने पूछा, "तुम सतीश से बातें क्यों नहीं करते? बेचारे उतनी दूर से आते हैं और तुम मुँह ही नहीं खोलते."

मैं चिल्ला पड़ा, "तुम्हें दिखता नहीं बीमार हूँ तीन दिन से कुछ खाया-पीया नहीं." कुसुम सहमकर रह गयी.

ये मुझे क्या हुआ. मैं आज बरसों बाद जिस तरफ जा रहा हूँ उस तरफ घर नहीं है. यह सड़क मेरे घर को घेरे खड़े मुहल्लों पार्कों सड़कों और बड़ी-बड़ी इमारतों के घेरे को घेरती हुई गोल घूमती है. मैं इस पर कितना भी चलूँ घर से फासला कम नहीं होगा. मैं घर से जितना दूर हूँ उससे ज्यादा दूर नहीं जाऊँगा. मैं घर नहीं जा रहा तो उसके चारों ओर घूम रहा हूँ. घर में सतीश बैठा होगा चारपाई पर पालथी मारे. कुसुम खड़ी होगी बार-बार कहती, 'हमेशा सीधे घर आते हैं आज न जाने कहाँ गये इतनी कमजोरी में." सतीश उठने को होता होगा तो कहती होगी, 'बैठिये आते हीं होंगे कहीं अटक गये होंगे." सतीश क्या सोचता होगा क्या पता पर गया वह नहीं होगा. कुसुम उसे जाने नहीं देगी कि मुझे इस बात पर नाराजगी होगी. क्यों जाने दिया. उसका यह डर ठीक है मुझे नाराजी होगी. आखिर मैं इस सड़क पर फालतू नहीं घूम रहा हूँ कोई कारण है और जो कारण है वह उस बात की तरह परेशान कर रहा है जो याद तो है पर मौके पर याद नहीं आ रही है. जो भी हो. सतीश बैठा होगा और यदि मुझे इस सड़क पर होने का कारण याद नहीं आ रहा है तो मुझे घर जाना चाहिए आखिर वह बैठा होगा. ऐसा न हो कि उसे देर हो जाये या देर होने के डर से वह चला जाये.

मैं घर की तरफ मुड़ा. चाल तेज हो रही है. मैं आगे को लपकता हुआ चल रहा हूँ. इस बात की चिन्ता नहीं कि लोग देखते होंगे. यह इस चाल से कहाँ क्यों जा रहा है. अपनी टाँगों से बरसों बाद इतना कठिन काम ले रहा हूँ वे चकरा गयी हैं. अब मैं मुड़कर उस सड़क पर आ गया हूँ जहाँ से घर पीले धब्बे-सा दीख रहा है. धब्बा तेजी से मकान की शक्ल ले रहा है.मैं तीसरे खम्भे के नीचे से लपकता देख रहा हूँ सतीश चारपाई पर पालथी मारे बैठा है. उसे देर नहीं हुई बिल्कुल वहीं बैठा है. कुसुम दरवाजे पर खड़ी है. शायद उसने मुझे पहचान लिया है. उसने सतीश को बताया है सतीश ने गरदन उठायी है.

"मैं आ रहा हूँ." मैं वहीं से चिल्लाया और आप ही झेंप गया. इसमें चिल्लाने का क्या बात थी! पहुँचकर हाँफता हुआ कुर्सी पर बैठ गया और बोला, "आज मैं ऐसा उलझ गया हूँ कि बस." सतीश ने समझने के स्वर में कहा, "कह जाते, ये लोग परेशान तो न होते." कुसुम बोली, "भाई साहब कब से बैठे हैं."

"मुझे भी यही लग रहा था पर क्या करता ऐसा फँस गया कि निकल ही न पाया." सतीश ने पूछा, "कहाँ फँस गये थे."

"मैं क्या बताऊँ बिल्कुल फालतू के चक्कर में. खैर छोड़ो तुम आज खाना खाकर जाओगे." सतीश जैसे अपने आपको देखते हुए बोला, "मैं?" "हाँ, तुम! कुसुम नीबू का सत है?" "हाँ, नीबू का सत है." "तो बस कढ़ी बना दो सतीश को कढ़ी बहुत

पसन्द है." सतीश मना करता रहा पर कुसुम भीतर चली गयी और कढ़ी बनाने लगी. सतीश ने टाइम देखा, "नौ बज रहे हैं जाते-जाते ग्यारह बजेंगे, मुझे देर हो जायेगी." "हो जाने दो देर. " सतीश बेचैनी में कसमसाया और फिर ढीला बैठ गया.. अब बड़ा लम्बा समय पड़ा है जिसमें हम दोनों के बीच बातें होनी हैं. मैंने उस पड़े हुए लम्बे समय को दूर तक देखा तो देखता ही रह गया, "सुनाओ," सतीश बोला. "तुम सुनाओ."

मैं उठकर भीतर चला गया. थोड़ी देर कमरे के बीचोंबीच खड़ा रहा. कुसुम ने मेरी ओर देखा. मैंने चेहरा घुमा लिया. दीवार पर लगे कैलेंडर की ओर देखा. फिर मैंने आईने में अपना चेहरा देखा. मेरी दो आँखें हैं उनके बीच से निकली चौड़ी नाक जरा टेढ़ी हो गयी है. नीचे गालों की उठी हड्डियाँ, चौड़ा जबड़ा और दाँत हैं. मैंने मुँह खोला जीभ है और फिर अँधेरा है. देर तक गौर से अपना चेहरा देखा तो यह किसका चेहरा है और कौन देख रहा है. इस हालत में पहुँचते ही मैं आईने के आगे से हट गया. वह चेहरा वहीं रहा आईने में. मैंने झाँक के उसे फिर देखा तो वह मुझे दिखा और मेरे देखते-देखते आईने में से हटा और मैं खाली आइने को देखता खड़ा हूँ. कुसुम मेरे पास से गुजरी आईने में से नहीं गुजरी. मैंने घूँसा तान के आईने पर मारा. झनझनाहट की आवाज के साथ वह नीचे आ गिरा और कुसुम घबरायी मुझे देखने लगी. सतीश दरवाजे पर आ खड़ा हुआ, क्या हुआ. मैं उसे पार करता हुआ कुर्सी पर आ बैठा, क्या हुआ! मैंने कहा, कुछ नहीं आईना टूट गया इसलिए ऐसा लग रहा है कि कुछ हुआ.

"और सुनाओ सतीश."

"सब ठीक है तुम सुनाओ."

दोनों चुपचाप बैठे सड़क की ओर देख रहे हैं. मैंने कुछ बातें सोची पर बोलीं नहीं. बीच में दो-एक बार सतीश ने चौंककर कहा, क्या? उसे लगा मैं कुछ बोला. मैंने कहा, कुछ नहीं. उसके बैठने से मालूम पड़ रहा है वह अलग सोच रहा है मैं अलग सोच रहा हूँ. मैं किसी अनजानी बस्ती में किसी सड़क पर कई अनजाने लोगों के साथ चल रहा हूँ और हम बातें कर रहे हैं. अपना घर ठीक करना होगा. अँधेरा है. फिर तूफान चल रहा है. जहाँ तक देखो सटे हुए घर ही घर हैं. मैं भागकर अपने घर में घुस रहा हूँ. मैं भीतर से अपने घर को बचा रहा हूँ. सारे घर हिल रहे हैं मैं भीतर से अपने घर को बचा रहा हूँ और बाहर से चिल्ला रहा हूँ, बाहर आओ– आओ.

"आओ." भीतर से कुसुम ने पुकारा.

"सतीश, उठो खाना तैयार है."

हमने भरपेट कढ़ी चावल खाया. सतीश ने कढ़ी की तारीफ की. मैंने भी की. कुसुम की मेहनत सफल हुई वह मुस्कुराकर और कढ़ी लेने का आग्रह करने लगी. हमने और कढ़ी ली. इतना खाया कि जब उठे तो लगा पेटों पर कुछ भारी चीज बँधी है. सतीश बैठा नहीं, साइकिल उठा के फौरन चला गया.

दफ्तर में चिड़चिड़ाहट के मारे मेरा मन नहीं लगा. छुट्टी लेकर घर चला आया. सारी दोपहर सोता रहा. सुबह बहुत ज्यादा दाल रोटी खायी थी उसके नशे में गहरी नींद आयी. जब मैं जागा हूँ तो शाम घिर रही है मन भारी है जरूर बुरे सपने आये होंगे. बरामदे में कुर्सी रखने की आवाज आयी जैसे दिमाग में कुर्सी रखी गयी हो. कुसुम ने रखी है. फिर उसने चारपाई बिछायी. कुसुम ने कमरे में आकर मुझे स्नेह से देखा, अब अच्छा लग रहा है न! मैं बाथरूम चला गया. मुँह धो के निकला तो चाय खौल रही है और उसकी गन्ध कमरे में भरी है. अच्छी लगी. बच्चे बाहर से लौटे और कोने में बिछी दरी पर बस्ते खोल कर बैठ गये. कुसुम ने चाय दी और पूछा! मुरमुरे दूँ. मैंने मनाकर दिया. चाय पीकर मुझे बरामदे में बैठना है. अँधेरा फैल गया है और पाँचों खम्भों पर लाइन से बत्तियाँ जल रही हैं. मैं कुर्सी पर बैठा हूँ. कुसुम चारपाई पर. कितने बजे होंगे? मैंने पूछा तो कुसुम भीतर गयी और भीतर से ही बोली, पौने सात. यानी बस आधा घंटे के भीतर सतीश यहाँ पहुँच लेगा. मुझे एकदम गर्मी लगी मैं खड़ा हो गया. और मैंने स्लीपर फँसा लिये. सड़क पर निकल गया. उसी तरफ बढ़ा जिस तरफ से सतीश आता है. दूसरे खम्भे के पास पहुँचकर मैंने पीछे देखा सूने बरामदे में कुर्सी और चारपाई और पीला मद्धिम उजाला. कुसुम दरवाजे पर दिखी. मुझे न देखकर बरामदे में निकल आयी. उसने बच्चों को बुलाया दोनों निकल आये. अब वे बाहर की ओर देख रहे हैं. लड़के ने मुझे देख लिया उसने उँगली के इशारे से बताया. मैं लौट पड़ा. वे मुझे आता देख रहे हैं. मुझे इससे बड़ी उलझन हो रही है. अब वे मुझसे पूछेंगे कि कहाँ गये थे. लेकिन उन्होंने कुछ नहीं पूछा और भीतर चले गये.

मैं कुर्सी पर बैठा हूँ. कुसुम बार-बार देखेगी कि मैं हूँ कि गया. मैं बीच-बीच में भीतर की तरफ देख लेता हूँ. वैसे नजरें सड़क पर टिकी हैं. एक शब्द मेरे दिमाग में आया 'असामयिक निधन', कहो सतीश का असामयिक निधन हो गया हो वह अपने दफ्तर की कुर्सी पर मरा पाया गया हो या बाजार में किसी जनरल स्टोर के आगे खड़ा-खड़ा गिर पड़ा हो. यदि ऐसा हुआ होगा तो मुझे खबर देने कौन आयेगा. कहीं ऐसा न हो कि सतीश खुद आये. तभी वह पाँचवें खम्भे के नीचे ठीक मेरी ओर बढता दिखा. सतीश आ रहा है. खम्भो के बीच की जगह अँधेरी हैं. वह पाँचवे और चौथे खम्भे के बीच के अँधेरे में देर तक चलकर चौथे खम्भे के उजाले में साफ दिखा. वही है सतीश ही है. वह आ रहा है. मैंने कुसुम को आवाज दी. वह आकर खड़ी हो गयी. मैंने पूछा, क्या है? वह बोली, बुलाया था न! मैंने कहा, नहीं बुलाया नहीं था. वह चली गयी.

सतीश आज इतने धीमे चल रहा है कि इस तरह चला तो न जाने कब पहुँचेगा. लेकिन अब तो वह तीसरे खम्भे के नीचे से निकल रहा है. यदि इसी तरह चलता रहा तो कभी पहुँचे मगर पहुँचेगा जरूर तीसरे और दूसरे खम्भे के बीच उसे बहुत देर लगी.

वह दूसरे खम्भे के नीचे पहुँचा तो इतने धीमे चला कि अपने-आप रुक गया. वह गरदन झुकाये खड़ा है. थोड़ी देर खड़ा रहा फिर उसने साइकिल गोल घुमाते हुए मेरी ओर पीठ कर ली. वह अभी-अभी आ रहा था और अभी-अभी जा रहा है. इस सूनी सड़क पर उसका दृश्य कुछ इस तरह चल रहा है कि वह आ रहा है कि जा रहा है. उसकी पीठ कभी उजाले में दीखती है कभी अँधेरे में खो जाती हैं. उसका चेहरा पीठ की तरफ नहीं है.

▣

◆ पत्र ◆

नवीन सागर द्वारा पत्नी को लिखे गये पत्र

प्रिय छाया

प्यार ही प्यार

तुम्हारे बिना रहने का तरीका खोजना अब मेरी सीमाओं में नहीं रहा. तुम्हें छोड़ने का निर्णय लेने के बाद से लेकर अब तक लगातार पछता रहा हूँ. सारे रास्ते ट्रेन में लेटे-लेटे यही सोचता रहा कि तुम साथ होतीं तो यह होता—वह होता. घर पहुँचा तो इतना अजीब लगा कि बयान नहीं कर सकता. कमरे में अनायास चला गया बिना किसी काम के, शायद अचेतन मुझे तुम्हारी आकांक्षा में वहाँ ले गया था और वहाँ तुम नहीं थीं. कानों में भयावह सनसनाहट हुई और मैं एक क्षण के लिए काल-निरपेक्ष हो उठा. यह मेरे लिए विलक्षण अनुभव था. मैं उसका विश्लेषण कर रहा हूँ उसी दिन से. लेकिन उस दुर्लभ अनुभूति का—उस भयावह सनसनाहट का—उस काल-निरपेक्षता का अर्थ मेरी समझ में नहीं आ सका. हाँ, मुझे पछतावा था तुम्हें छोड़ने का, लेकिन उसके पीछे एक और बेतरह हाँफता हुआ पछतावा. यह किस बात का? और तब मैंने सोचा, यानी मुझे सोचना पड़ा कि यह हाँफता हुआ पछतावा तुम्हारे साथ किये गये मेरे अन्यायों का बिम्ब है. मैं सोचकर चौंका. तब मैं खिड़की में बैठ चुका था. फिर कई दृश्य. और मैंने निर्णय लिया कि ये दृश्य फिर से जिन्दा नहीं होंगे. इन्हें जिन्दा नहीं होने दूँगा. दरअसल अब मैं तुम्हारी आँखों को अभावग्रस्त नहीं होने दूँगा—चाहे वह प्यार का अभाव हो या चीजों का.

जब मैंने अपना अपराध निर्धारित किया—मेरा अपराध—मैंने तुम्हारी स्नेहिल आँखों को पहले सूखा और फिर अभावग्रस्त बनाया है. यह हत्या से भी बड़ा अपराध है. शायद इसी अपराध को गति देने वाले मेरे मन के किसी कोने में, तुम्हारी अनुपस्थिति से पैदा हुआ सन्नाटा चीख उठा था. उसी की वह सनसनाहट—उसी की थी वह काल-निरपेक्षता. तुम्हारे न होने का सन्नाटा, इतना गहरा सन्नाटा होगा, सोचा नहीं था.



कमरे ही में सोता हूँ, बहुत कम नींद आती है. बड़ा अजीब लगता है. आज तुम्हारा पत्र मिला. पिछले दो दिन कानपुर में गुजरे. कड़ाही लेने गया था. दो-तीन दिन में आ जायेगी. काम प्रारम्भ होने में अभी भी कम से कम एक सप्ताह लग जायेगा. इधर सबके नाम तुम्हारे पत्र आये. अकेला मैं ही वंचित रह गया. क्या बताऊँ कैसा लगा. तुम्हारी पत्र-लेखन-क्षमता की यहाँ खासी तारीफ हुई. मैंने भी सारे पत्र पढ़े थे वास्तव में तुम्हारी भाषा, एवं सबके चरित्रानुरूप फतवे काफी जानदार थे. लगता है तुम लेखिका हो रही हो.

आज तुम्हारे पत्र में एक बात बहुत ही सम्वेदनशील लगी, 'प्रतीक्षा में बहुत आशाएँ होती हैं, तुमने कभी महसूस किया!" 'प्रतीक्षा' को इससे अधिक सम्पूर्णता से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, वाह री छाया! इधर मैं भी फिर से लेखन की तरफ प्रवृत्त हुआ हूँ और उधर तुम्हारी पकड़ भी मजबूत हो रही है. अब तुम आओगी तो मुझे काफी बदला हुआ पाओगी. मैंने लिखना शुरू कर दिया है. शाम को बस स्टैंड पर जाना उसी दिन से सम्बद्ध है जिस दिन यहाँ आया था. पप्पी के सिवा किसी से नहीं मिलता-जुलता. पूरी शाम जो धीरे-धीरे रात हो जाती है, कमरे में गुजारता हूँ. सूने कमरे में. तुम आ जाओ छाया तो तुम्हारे साथ गुजारा करूँगा. अब तुम्हें कभी नहीं सताऊँगा/ सब काम करूँगा/लिखूँगा/और तुम्हें और बच्चों को प्यार करूँगा/माँ-पिता को अधिकाधिक सन्तुष्ट रखूँगा/छोटे भाई बहिनों का पूरा-पूरा खयाल रखूँगा.

बस अब तुम जल्दी से आ जाओ छाया.

बाबू चाचा के साथ आ सको तो ठीक रहेगा.

रघु भा.सा. के बारे में कोई समाचार नहीं है.

समता और पांडु को बहुत-बहुत प्यार, उन दोनों बच्चों की बहुत याद आती है. पप्पी के रिसेप्शन पर पप्पी व उनके सभी रिश्तेदारों ने, तुम्हें मोदीनगर छोड़ने पर मुझे गालियाँ सुनायीं. सबने तुम्हें व गुड़िया को बेतरह याद किया. अच्छा होठ बढ़ाओ...

तुम्हारा नवीन सागर

मेरी जिन्दगी छाया

प्यार ही प्यार

आज तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ जैसे जिन्दगी पा रहा हूँ.

21 ता. से लेकर आज तक बस में सफर करता रहा. पहाड़ों पर जाकर पढ़ता रहा, वह जो प्रकृति ने अपनी लिपि में लिखा है. हम उसे पढ़ लेते हैं. पढ़ते समय भी कुछ और पढ़ता रहता हूँ. उन झुके झुके आकाशों के नीचे सीधे खड़े पहाड़ों में हवाओं में एक संगीत सुनता रहता हूँ—कोई जाना सा कोई अनजाना सा. एक शक्ल होती रहती है हर साँस की उम्र के सीने पर.

तुम्हें मैंने तब-तब पत्र बड़ी बेचैनी से लिखा है, जब जब अपने-आपको कमजोर पाया है. आज मैं फिर परेशान हूँ. किसी किसी क्षण या दिन हम कितने खाली हो जाते हैं. बस एक मद्धिम हवा होती है समय की, जो बिना आवाज किये खरामा-खरामा गुजरती रहती है हमें छीलती हुई—रेतती हुई. अधिक सोचना बहुत खराब होता है. मैं अधिक सोचता हूँ और इस सोचने में 'जिन्दगी का फिजूल होना'

उग आता है—बड़ी तीव्रता के साथ. मुझे अपना सब किया हुआ निरर्थकता की गठरी सी लगता है जिसे मैं अपनी बगल में दबाये बढ़ रहा हूँ—एक शून्य की ओर. सारे मोह काफूर हो जाते हैं यहाँ तक कि खुद का भी तुम्हारा भी. और एक शान्त तरीके से खत्म हो जाने की इच्छा होती है. आज भी हुई थी.

बहुत ऊँचाइयों पर चढ़कर हमने दो बजा लिये थे. भूख लग रही थी और मैं अस्वस्थ हो चला था. लंच पैकेट से आधा खाया गया. मुझे बुखार आ गया था. (अब तुम सोचोगी नवीन को बुखार बहुत आता है—आता तो सबको है, लेकिन मैं हर बार तुम्हें लिख देता हूँ क्योंकि हर बार बुखार में मेरे अन्दर का एक कमजोर आदमी घबड़ा जाता है और मन होता है किसी को लिख दूँ. बस तुम्हें लिख देता हूँ, क्योंकि मैंने तुम्हारी नजरों में दुनिया का सारा प्यार देखा है. तुम जानती हो जब किसी बच्चे को चोट लग जाती है तो वो अपनी माँ के पास रोता हुआ जाता है. आँचल में छिप जाता है. इसी तरह से थोड़ा सा भी कष्ट मुझे तुम तक ले आता है जैसे तुम दवा हो.)

पिछला पत्र पाकर तुम हैरान हुई होगी. देखो, मैं 'शॉर्ट टेम्परामेन्ट' वाला आदमी हूँ तुम्हारा पत्र न पाकर आपा खो देता हूँ क्रोध सवार हो जाता है और गलत सलत कुछ भी लिख देता हूँ. देख छाया—क्षमा कर दिया कर. कौन है मेरा जिस पर अपनी गुस्से के दो चार क्षण उछालूँ और क्षमा माँगू?

देखो मैं 15 मार्च को सागर पहुँच रहा हूँ तुम 14 ता. को चिट्ठी पोस्ट करना. उसके पहिले नहीं. मुझे बुखार है इसलिए लिख नहीं सकता अक्षर और ज्यादा बिगड़ रहे हैं.

बहुत प्यार के साथ

तुम्हारा नवीन

जयपुर 12 मार्च

पत्र 6 ता. को किशनगढ़ में लिखा था. लेकिन अचानक अधिक तबियत खराब होने तथा खेतड़ी में अस्पताल में भर्ती हो जाने के कारण पत्र डाल नहीं सका था. अब लगभग स्वस्थ हो रहा हूँ. अक्षरों पर ध्यान मत देना क्योंकि अभी हाथों में पेन तक पकड़ने की ताकत नहीं है.

आदरणीया दीदी को मेरे प्रणाम कहना श्याम तो सतना ही में होगा.

तुम्हारा नवीन

सेवा में,
श्रीमती छाया सागर,
मुहालबजरीया,
चिरगाँव
(विषय—आपके पत्र न आने बाबत)

महोदया,

सेवा में नम्र निवेदन है कि आज दिनांक तक आपका पत्र नहीं मिला इसलिए यह आवेदन आपकी सेवा में भेजा जा रहा है. आपने जाते समय वादा किया था कि प्रति सप्ताह एक पत्र डाला करेंगी मगर प्रति मास एक पत्र डालने तक का तमीज आपमें नहीं आया. मैं पूरी विनम्रता से कहना चाहता हूँ कि यह मेरे साथ ज्यादती है और इसका हरजाना आपको देना पड़ेगा.

आपको विदित ही है कि मैं यहाँ अकेला निवास कर रहा हूँ उस भूत बंगले में आप लोगों की याद भी ऐसी लगती है जैसे भूतों की याद आ रही हो. साँय-साँय गरम हवा में नारियल के पेड़ के हरामी पत्ते खड़-खड़ करते हैं तो ऐसा लगता है कि बादल कागज के होकर उमड़-घुमड़ रहे हों. चूहे, बिल्लियाँ, छिपकलियाँ, छछूँदरें, पीलू जी एक गिरगिट जी मच्छर मक्खियाँ फतिंग तरह-तरह के कीड़े और यहाँ वहाँ फैली जूठन और जूठे बरतनों पर लाल चीटियाँ काले नुचंड चींटे, एक अदद मायूस सरदार और पानी कलकती नल की चार छह टोंटियाँ मिलकर ऐसा माहौल और ऐसी आवाजों का कोलाज पैदा करती हैं कि आपका यह मायूस निवेदक हर लम्हा और पस्त हुआ जाता है. ऐसे में आपके रंगरूट शब्दों की बेरौनक बारातों में सजी हसीन इबारत के लिए आँखें पहले तरसती हैं, फिर बरसती हैं और इतनी बरसती हैं कि दो चार दिन में गद्दा धूप में सुखाना पड़ता है और खारे पानी से कमरे धोने पड़ते हैं. बिल्लियाँ टट्टियाँ कर रही हैं यह गमगुसार उन्हें एकटक देखता है और इसकी बेबस आत्मा सड़ाँध के भभके में लाचार होकर फुसफुसाती है कर ले बेटी कर ले अब कोई तमन्ना नहीं रही अपनी. और दस पाँच बिलौटों को बुला ला उन्हें भी हगवा ले और फिर ढेर भर गू पर मलक बिल्ली रानी मलक. अब अपनी तो कोई तमन्ना नहीं रही. पीलू मेरी डबलरोटी खा जाता है. लेटा होता हूँ, कभी-कभी मेरे बाल खा जाता है. एक दिन दाढ़ी खाने लगा तो इस बेबस ने इतना ही कहा—बस कर पीलू बस कर दाढ़ी से तेरे खाकसार का गाबदू में विद्वान का थोबड़ा लगता है. लगने दे इसी के बल पे चार पैसा कमाके डबल रोटी लाता है लाने दे बेटा इसे बख्श. अरे भैया, पीलू जार जार रोये अपने रोंगटे खड़े हो गये दौड़ के नमकीन लाय पीलू ने चपचप खाया और गमगीन सो गया. खाट और तीन कुर्सियाँ जैसा आप छोड़ गयी थीं महाभाग! वैसी ही धूप में पड़ी हैं ऐसी हो गयी हैं जैसे मरी छिपकली को चीटियों ने खाकर ढाँचा खुली छत मुंडेर पे छोड़ दिया हो. वे मुझे देखती हैं हा हा करती हैं, खिसका दे रे दो डग खिसका दे भैये प्यारे बच्चे हमें तोड़ने के लिए गाँव में सेहत बना रहे होंगे. गृहस्वामिनी देखेंगी तो हम कैसे आँखें मिलायेंगी खिसका दे. मगर यह खाकसार जैसे इसे कुछ हुआ ही न हो सूनी आँखों से धूप में तड़पती कुर्सियों और खाट की पुकार सुनता है और कहता है क्षमा करो बेटियो अब अपनी कोई तमन्ना नहीं रही. तुम्हारे हाड़ माँस सूरज सुखा रहा है तो मेरे हाड़ माँस एक चन्द्रमा. तुम लोग हमें नहीं खिसका सकतीं हम तुम्हें नहीं. इस घर में सब अपनी-अपनी जगह तड़प रहे हैं. कोई किसी का नहीं स्वारथ की है दुनिया सारी कोई नहीं किसी का मनुआ कोई नहीं किसी का (सम्पादक—यहाँ लेखक का आशय उसकी धर्मपत्नी से है जिसे वह चाँद कहता है हालाँकि चाँद उसे कभी खूबसूरत नहीं लगा वह पता लगा रहा है कि लोगों को चाँद में क्या खूबसूरती नजर आती है.)

और बताऊँ—एक दिन यह चरण सेवक तखत पर लेटा था. तीन दिन बाद घर में घुसा था मकड़ियों को गलतफहमी हो गयी थी उन्होंने एनक्रोचमेन्ट कर लिया था और तखत पर अपना जाल फैलाकर कीड़े फँसाने लगी थीं अपन ने देखा कोई तमन्ना तो रही नहीं थी. जाल पर लेट गये. मकड़ियों ने देखा उन्हें अपनी बेतकल्लुफी पसन्द आयी वे मुस्कराकर गुनगुनाने लगीं. खुशी में दस बीस मक्खियाँ अकड़कर अपनी छाती पर, गाल पर चढ़ गयीं एक दाढ़ी सहलाने लगी, एक ने कान में सींक डाल दी, एक नाक में नसवार डालने लगी. गुनगुनाकर जाल बनाने लगीं. रंगोली सजाओ रे रंगोली सजाओ. अपन छह घंटे सोये तब तक अच्छा खासा जलसा होता रहा. आड़े तिरछे जाल बने उनमें तरह-तरह के कीड़े फँसे, दीवारों पर चारों तरफ छिपकलियाँ मुस्कुराने लगीं. एक डेढ़ पसुरिया की अति

उत्साही छिपकली तखत पर उतरकर नथुने फुलाने लगी. अपन उठे तो मकड़ियों का मेला भी उठ गया. वे यहाँ वहाँ छत से गिरे कूड़े सी बिखर गयीं. छिपकलियाँ उन पर झपट पड़ीं पीलू छिपकलियों को ठाठ तक खदेड़ आये.

पहले तो गनीमत थी. घर में एक अदद लट्टू जलता था और उसकी पीली रोशनी में पीलू आपका यह उजबक पड़ा रहता था. मगर आठ रोज पहले पोल से फ्यूज उड़ गया. आपने एक सड़ा सा लैम्प बनाया था वह आपके जाते ही रोता हुआ घर से निकला तो आज तक लौटा नहीं. सो अँधेरा है चार पाँच माचिसें ले गया हूँ चप्पल पहनने के लिए एक तीली जलायी. दरवाजा खोलने के लिए दूसरी. पानी भरने के लिए तीसरी, कपड़े उठाने के लिए चौथी, छत पर जाने के लिए पाँचवीं. तुम्हारी याद में कई बार तीली की लौ अँगूठा जला देती है. अँगूठा रोता है बचाओ बचाओ. अपनी कोई तमन्ना ही नहीं रही. जल साले जल. सारा झंझट अँगूठों ही का तो है न उस देवी ने चिट्ठी के नाम पर अँगूठा दिखाया होता न तेरी यह दशा होती जल नामुराद जल.

बहना के हाथ का किताबों को बंडल अलग रो रहा है हा-हा पहुँचा दे उस सड़ियल मास्टर के घर पहुँचा दे रे. मार्क्स की छाती पे माइग्रेशन का बोझ पड़ा है मार्क्स रो रहे हैं दस रुपये निकालकर बोझ हल्का कर दिया है मगर मार्क्स को तसल्ली नहीं पहुँचा दे रे माइग्रेशन पहुँचा दे (आगबबूला पुष्पा मत कर बहना गुस्सा आगबबूला पुष्पा मत कर बहना गुस्सा) बहना का नतीजा आने को है. रोल नम्बर ही नहीं. भिजवा दो थोड़ी सी आँखें खोल के रिजल्ट देख लूँगा.

गुड़िया का नतीजा उसके स्कूल में दम तोड़ रहा है मगर इस खाकसार की कोई तमन्ना ही नहीं रही.

ऐसा कर दिया हाल आपकी बेरुखी ने. दौड़ा कार्यक्रम—

10 जून की रात को चलकर 11 जून की सुबह पहुँच रहा हूँ चिरगाँव. चिरगाँव से 23 जून की रात को चलकर पहुँच रहा हूँ 24 की सुबह भोपाल. साथ में होंगे—श्रीमती छाया सागर, पुष्पा गहोई, शशी बेपरवाह, समता सागर, पांडु जी पांडु, राजा बाबू राजा.

कार्यक्रम फाइनल—कोई फेरबदल नहीं. मनीआर्डर विवरण—

इस बार सिर्फ 350/—भेज रहा हूँ क्योंकि 650 मिलेंगे. 200 किराया 350 एम ओ और 100 खाना पीना यात्रा इत्यादि. आपका प्रभु आपको सुबुद्धि दे और पत्र लिखने का ढाढ़स बँधाये.

अच्छा देवी जी

भवदीय
नवीन सागर

प्यारी छाया, प्यार

आज तेज अंधड़ ने जगाया. आधी रात तक 'गणदेवता' पढ़ता रहा था. यह बंगला उपन्यासकार ताराशंकर बन्दोपाध्याय का उपन्यास है. ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत. लगभग छह सौ पृष्ठ का. रात उमस थी. टी.वी. पर युवा कवियों की बूढ़ी कविताओं का उबाऊ उत्स देखकर मन खिन्न कर बैठा था. हाँ, एक कवयित्री ने एक समर्पण कविता कही थी. यदि उसे नारी की परम्परागत भूमिका के सन्दर्भ में मानते हुए देखें तो ठीक थी वरना वह एक अंधा समर्पण ही कहा जायेगा. जिसका ठीक विपरीत उपन्यास की लुहार-बहू पद्म में दिखा. वह देबू घोष के मकान के आगे मौलसिरी के नीचे झमाझम बारिश में खड़ी है. इससे पहले वह पतिहीन घर के सन्नाटे में किसी की आहट के सन्देह से बाहर निकली थी फिर यन्त्रचालित सी देबू के घर के आगे. देबू घोष—अन्याय के खिलाफ लड़ने वाला एक अहिंसक योद्धा, यदि उसमें धर्म की रूढ़ियों के प्रति पुरातन खिंचाव न होता, तो लोहिया के सपनों का युवक, वह हैजे के दौरान सेवा कार्य करते हुए अपनी पत्नी प्यारी बिलू और तोतले मुन्ने को खो देता है. वह अकेला है एकदम सूना और लुहार बहू पद्म भी उजाड़ अकेली. देबू उसकी सहायता करता. उसका पति भाग गया है. अफवाहें उड़ती हैं और रात अन्तर के सुदूर झंखाड़ों में अटकी कामना पद्म को देबू तक खींच लाती है. देबू उसे लौटा देता है और वह अपनी देह के भूखे जमींदार हरि घोष के घर दस्तक दे देती है... यहीं तक पढ़कर सो गया था. सारी रात बिलू और गुन्ना स्वप्न कथाओं की असम्बद्ध धाराओं में उमड़ते-घुमड़ते रहे फिर अंधड़ ने जगाया.

मैं खिड़की में बैठा हूँ—घने-काले बादल और गड़गड़ाहटों, अनन्त विस्तार के नीचे औद्योगिकीय हलचलों के बीच एक स्थिर बिन्दु सा मैं किन्तु अन्दर एक अजीब घुमड़न. सन् 24 का वह बंगाल क्या आज सन् 77 में भी पूरे मुल्क में हाँफ नहीं रहा है. क्या वही अन्याय की स्वयंभू बनने की अमानुषिक होड़ का हड़कम्प मुल्क की रगों को तहस-नहस नहीं कर रहा है? 50 वर्षों की इस राष्ट्रीय यात्रा का यह पड़ाव क्या पिछले पड़ाव से एक नोक पीछे पहुँच गया है? जमींदारों की जगह दैत्याकार कारखानों के मालिक गाँव के देबू घोष या हरेन या पाल, अनिरुद्ध को निगल नहीं रहे हैं. स्वरूप भर बदला है. इस त्रासदी का क्या कोई अन्त नहीं!

इस उपन्यास ने मुझे हिला दिया है. चिरगाँव के दो वर्ष मैंने जिस तरह गुजारे हैं उसका अपराध जानती हो मेरे अन्दर कितनी ग्लानि भर रहा है, जितनी किसी हाल की विधवा के साथ बलात्कार की ग्लानि. उफ. मैं राक्षस बनकर ठलुओं के साथ सस्ते संगीत में डूबा रहा और मुल्क की रगों में तैरती चीख पर हुस्न-इश्क के तराने फेंकता रहा. और वह देबू घोष अपनी प्यारी बिलू और मुन्ने की मौत के अवसाद में डूबने का जायज हकदार होते हुए भी लगान बढ़ोतरी के आन्दोलन के संगठन में जुट गया. श्मशान के बाजू की पगडंडी से गुजरते हुए बिलू की चिन्ता भूमि को निहारा और चल पड़ा. मैं इमरजेंसी के राक्षसों का समर्थन करके कुछ ऐसा हासिल कर लेता जिससे घर बसा पाता तो शायद इतनी ग्लानि न होती जब तुम्हें कुछ देने का एक जघन्य सुख ही सही, रहता तो. लेकिन मैंने उन दो वर्षों में वाहियात लोगों के सामने घटिया तराने गुनगुनाये. तुम्हारी खीझ अब समझ सकता हूँ. दरअसल तुम तो बिलू हो जो गरीब के ढोर छुड़ाने के लिए अपने मुन्ने के कान सूने कर सकती हो. देबू की ताकत का नया संचार दे सकती हो किन्तु मैं देबू न हो सका. कहाँ चूक हो गयी कहाँ उपन्यास भर बिलू की जगह तुम्हें देखता रहा लेकिन जब जब देबू की जगह खुद को देखना चाहा अपराध बोध से सिहर उठा. प्यारी बिलू सिर्फ दंतू के लिए है और मैं देबू नहीं. तुम मुझे शक्ति दो कि मैं देबू बनूँ. मेरी कलम में देबू के उद्यम की ताकत भरो. तुम बिलू हो न! तुम कर सकती हो, क्या देबू को देबू बनाने में बिलू का कुछ दान-त्याग नहीं? बहुत! बहुत!!

अभी भी रिमझिम चल रही है. ठंडी बयार सड़क के किनारे के वृक्षों पर ठहरा पानी. जब भारी वाहन से सड़क हिलती है तो

बिलबिलाकर सरकता है और ईंट के फुटपाथ पर धड़ाम से गिरता है. फिर नयी बँद फिर धड़ाम.

मैं अकेला हूँ. परसों दिल्ली से लगभग हताश लौटा. टी.वी. में काम मिलने का इन्तजाम होने में समय लगेगा. तब तक कुछ फुटकर काम. 'आजकल' में एक कहानी दी है. कहानी विशेषांक है. कुछ फुटकर लेख यहाँ-वहाँ दे रहा हूँ—भोपाल आकाशवाणी में एनाउन्सर के पद हेतु आवेदन दिया है. सागर भी इस बाबत लिखा है. यह नौकरी मिली तो कुछ रास्ता निकलेगा.

तुम ठीक हो न. आते समय आवेग में था. मोह बाँधता वैसे मैं और फिर नदी से प्यासा लौटना भी अपने आप में एक अनुभव है. सारे रास्ते नदी अन्दर बहती रहती है शीतल शीतल. वही हुआ होठों का एक चुका हुआ उत्सव कई बार हुआ सूनेपन में. यह ज्यादा आनन्द देता है. बुझी हुई मोमबत्ती का क्या आकर्षण, जब जल उठे तब देखो, अन्दर मे अँधेरे में तुम चुपचाप बैठी हो, प्रतीक्षातुर और एक मोमबत्ती जल रही है तुम्हारे मुख पर एक अपूर्व आभा बिखेरती हुई. बैठी रहो.

कुक्कू को स्नेह कहना. इस बार उसके पास बैठना न हो सका.

अनु गुड़िया पांडु को प्यार

आ चाची व बाबूचाचा को चरण स्पर्श

पुष्पा शशी को स्नेह, उनके साथ समता भी यहाँ आ रही है.

पत्र जल्दी देना.

पत्र का उत्तर तत्काल देना लिफाफा संलग्न है.

तुम्हारा
नवीन सागर

प्यारी छाया, प्यार ही प्यार,

आज 'गणदेवता' पूरा किया और इस समय सामने के कारखाने से चिमनी से उठते घने काले धुएँ की दुर्गन्ध के बीच सारे दृश्य को धुआँ-धुआँ होते देख रहा हूँ. सड़क पर सजी-धजी स्त्रियों और बाबुओं की आवाजाही जारी है. अपनी संस्कृति से उखड़े हुए लोगों की उबाऊ जीवन पद्धति, उबाऊ से भी अधिक भयानक जीवन पद्धति किसी भी राष्ट्र के लिए दुर्भाग्य की बात हो सकती है. समझ में नहीं आता हम कहाँ जा रहे हैं. शायद यह संक्रमण काल की धुन्ध हो लेकिन इस धुन्ध में भी आपकी कोई नींव तो होनी चाहिए. नींव नहीं है. जीवन में सार्थकता का अनुभव यदि अनुपस्थित है तो फिर क्या रहा? और सार्थकता तलाशी नहीं जा सकती वह तो बस हो सकती है. और वही नहीं है तलाशी जा रही है—तथाकथित आधुनिकता और तज्जनित संस्कृतिहीनता में. 'गणदेवता' पढ़कर जाना संस्कृति आदमी का प्राण होती है जब वह हिलती है तो प्राण हिल उठते हैं वह ढहती है तो प्राण ढहने लगते हैं. संस्कृति का रूपान्तर अपने काल और विकृति की सम्भावनाओं की कोई सीमा नहीं देता. खैर.

तुम कैसी हो. काम तो बहुत करना पड़ता होगा. दरअसल तुम मेरे एवज में मजदूरी करके मेरा और अपने बच्चों का पेट भर रही हो. यदि सत्य को खूब नंगा करके देखा जाये तो इन स्थितियों का इससे भिन्न कोई निष्कर्ष नहीं निकलता. इसलिए इसे तुम रोजगार समझ कुछ दिन करती जाओ क्योंकि मैं तो इस अहसास की धार पर लहूलुहान हूँ ही कि तुम्हारे पारिश्रमिक का खा रहा हूँ उसी पर जी रहा हूँ. नये सिरे से कुछ बनाना और बिगड़े हुए को सुधारना—इनका फर्क तुम जानती हो. अब तो मेरे पास बिगड़ा हुआ भविष्य है जिसकी आँतें अतीत में ही बुन दी थीं मैंने, इसलिए बिगड़े को सुधारना है. तुमने कभी बिगड़ा हुआ ब्लाउज सुधारा है? सुधारा होगा तो लगता होगा इससे भला तो नया कपड़ा लाकर सिलना ही होगा, और कपड़ा चूँकि बाजार में मिलता है इसलिए ऐसा किया भी जा सकता है. बस बिगड़े ब्लाउज के लिए कुछ अफसोस होगा. किन्तु काल की धज्जियों से बुनी हुई भविष्य के आँतें तो प्रत्यंचा पर तना हुआ वह तीर है जो वर्तमान को चीरता हुआ भविष्य के सीने में धँसेगा ही. इसलिए उसमें कोई फेरबदल मानव शक्ति के बाहर होता है. ऐसा मैं मानता हूँ. चमत्कार और अतिमानवीय शक्तियों का अपवाद जरूर हो सकता है.

अभी-अभी एक युवा जोड़ा स्कूटर पर गुजरा तो मैं उसे मन्त्रमुग्ध सा देखता रह गया. तुम्हारा सपना था न कि शादी के बाद तुम स्कूटर पर पीछे बैठोगी और... वह रक्तरंजित सपना और उस सपने का खून मेरी हथेलियों से चँता हुआ मेरी दृष्टि के साथ वहाँ तक गया जहाँ तक वह प्रफुल्लित युवा जोड़ा नजर आता रहा, मन में ईर्ष्या की एक ज्वाला दप् से जली और बुझ गयी, ईर्ष्या क्यों? फिर एक अवसाद ने घेर लिया और ऐसा लगने लगा जैसे किसी ठंडे कमरे के अँधेरे में अकेला मैं हूँ और दूर से कोई दर्दीली वायलिन बज रही है. अन्दर काँटे से उठे तभी एक कविता लिख भेज रहा हूँ—सम्भाल कर रखना मेरे पास दूसरी कॉपी नहीं. आज रात बहुत देर तक आधी नींद में तुम्हें देखता रहा. वह आभा से दमकता चेहरा. मद्धिम प्रकाश में तुम्हारे ऊपर झुका हुआ और एक मान की दीप्ति तुम्हारी आँखों में. तुम्हारा वह चेहरा शब्द- व्याख्या से परे है और एक और खासियत उसमें कि स्मृति स्पर्श से जल्दी ही फिसलता है वह. रात भी यही होता रहा वह फिसलता और गर्मी की हाँफती दोपहर में तुम्हारा थकान भरा खिन्न चेहरा और छाती पर लेटा पांडु, खिड़की में बौराई सी बैठी गुड़िया. इन दोनों दृश्यों में खासी धक्का-मुक्की चली. फिर नींद साफ टूट गयी और सूनी बाँहें एक जीवन्त अहसास की गरमाहट को कसने के लिए मचल उठे. मैंने उठकर पानी पिया फिर आगामी मिलन के काल्पनिक दृश्यों में गोते लगाता हुआ न जाने कब सो गया.

फिर वही दोपहर में हुआ. आज उनींदा लेटा तुम्हें देखता रहा आज तुम खासी तन्दुरुस्त थीं और प्रसन्न भी (यह बात अलग है कि उस समय तुम वहाँ बरतन मल रही होगी) आँखें बन्द करके तुम्हें देखता रहा लेकिन आश्चर्य छू नहीं सका क्योंकि तुम बच्चों की तरह इधर-उधर उछल रही थीं. काश तुम वास्तव में इतनी ही प्रसन्न रहने लायक स्थितियाँ पातीं.

अब तुम्हें अकेले में बिलू कहा करूँगा. किसी से कहना मत. दरअसल उस उपन्यास को पढ़ते हुए बिलू की जगह बराबर तुम्हीं मूर्त्त रही.

अब कविता अगले पत्र में भेजूँगा.

कुक्कू कैसी है? उसका अब क्या इरादा है? रिसर्च करेगी? उसकी शादी की क्या सम्भावनाएँ हैं? उसे मेरा स्नेह कहना. जरूर कहना. और कहना कि कम से कम नमस्ते तो लिखवा दिया करे. वह नाराज है मुझे पता है पर ऐसा भी क्या?

मुनू कहाँ है?

बाकी सारे समाचार देना

पत्रोत्तर देना.

तुम्हारा ही
नवीन सागर

◆ पत्र ◆

नवीन सागर द्वारा लिखे गये पत्र अपने परिजनों और मित्रों को

नवीन सागर ने अपने जीवन में बहुत पत्र लिखे हैं. जितने पोस्ट किये, उससे कहीं अधिक पत्र रह गये. न जाने किस समय बोध के कारण उन्होंने इन पत्रों को पोस्ट ही नहीं किया. कुछ तो आधे-अधूरे भी हैं. लेकिन उनमें अधूरे रह जाने का बोध नहीं होता. शायद उस मनोदशा में उतना ही सम्भव हो...

व्यक्तिगत होते हुए भी इन पत्रों के सम्बोधन में एक ऐसी मनुष्य इकाई का बोध है कि उन्हें पढ़ते हुए हमारे जीवन के सन्दर्भ खुद ब खुद जुड़ते-जोड़ते चले जाते हैं.

इन पत्रों की रचनात्मकता चकित करती है. शायद हिन्दी में यह अपने तरह के पत्र हैं, जहाँ व्यक्तिगत पत्रों में प्रतिनिधि सामूहिक आवाज ही सुनाई देती है. इन पत्रों में अपने समय के रिश्तों की पड़ताल ही नहीं, कहीं न कहीं मनुष्य के अकेले छूटते चले जाने की व्यथा भी है. नवीन सागर के पत्रों में पत्र विधा का विस्तार दिखायी देता है. बहुत पत्रों में अपने समय का एकालाप भी है. चारों ओर की अनुपस्थिति बोध में चेखव के पात्र की तरह स्वयं से सम्वाद करने की एक विधा भी, जिसे उन्होंने अपने होने के लिए ईजाद की होगी.

यहाँ नवीन सागर के कुछ पत्र दे रहे हैं—वे जो पोस्ट किये और जिन्हें आत्मीय जनों ने उपलब्ध करवाया. इसके अलावा वे पत्र भी, जिन्हें उन्होंने पोस्ट नहीं किया. पत्रों की संख्या और उनकी रचनात्मकता देखकर भविष्य में उन्हें किताब के रूप में लाने का प्रयास होना चाहिए.

—अतिथि सम्पादक

आदरणीय हल्के भइया,

मैं ठीक हूँ. आशा है, आप सब लोग भी स्वस्थ सानन्द होंगे.

मैं काफी पहिले ही पत्र डालना चाहता था, लेकिन परेशानियाँ इतनी रहीं कि वक्त नहीं मिल सका. आज से यहाँ, अम्बा माता में हमारा कैम्प लगा है. लैड, जिंक और कॉपर के लिए खोज चल रही है. इन तीनों धातुओं की हमारे देश में बहुत कमी है, इसलिए इन्हें खोजने के तरीके सीखने के लिए हम यहाँ करीब एक माह रहेंगे. उसके बाद करीब दस दिनों के लिए जाबर (राजस्थान) जायेंगे. जहाँ हमारा कैम्प लगा है, उसके थोड़ी दूर कस्बा है और तीन तरफ ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ और घने जंगल हैं. यहाँ रहना, अपने आप में बड़ा ही विचित्र और साहसिक अनुभव है. होता है कि हम कुछ कर रहे हैं.

एम. टेक पूरा होने में अभी चार माह और बाकी हैं. उसके बाद अगस्त के कम्प्टीशन में बैठूँगा और सम्भवतः अगली जनवरी तक नौकरी लग जायेगी. इसी अगस्त से रिसर्च मिल जायेगी जिसमें करीब 300/- माहवार मिलेंगे.

अभी तक आपको मालूम ही हो चुका होगा कि मैंने शादी कर ली है. वो, एक ज्योग्राफी के प्रोफेसर की पुत्री है. खानदान अच्छा है. जाति का अन्तर जरूर है, जो व्यवहारिक पक्ष में हमारे घरवालों को कष्ट दे सकता है क्योंकि इस देश का प्रगतिशील अपने घर में घोर रूढ़िवादी होता है. जो लोग मेरे इस काम के लिए मेरी पीठ ठोक रहे हैं, उन्हीं का वह हाथ उनके बच्चे के लिए, इस स्थिति में घूंसे में बदल सकता है. ऐसे गिरगिट प्रगतिशीलों के समाज से घिरकर चाची या बाबूचाचा का परेशान होना जायज है. उनके सामने तीन-तीन लड़कियों की शादी की समस्या है—यह मैं पहिले भी जानता था, लेकिन इसका सामना करने का साहस जुटा लेने के बाद ही, मैंने अपने सिद्धान्तों की लड़ाई शुरू की है. मुझ पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि मैंने स्वार्थ के लिए (जिसे मेरे सिद्धान्तों का पर्याय समझा जा सकता है) ऐसा किया है, और अपने परिवार के हितों का खयाल नहीं रखा. दरअसल मैं व्यक्ति के क्रिया-कलापों को सीधे व्यापक सन्दर्भों से जोड़ने के बाद ही, सामाजिक परिवर्तन की कल्पना कर पाता हूँ. मैं किसी बदलाव के लिए, जादुई या तिलिस्मी करिश्मों का इन्तजार नहीं करता. साधारण आदमी, अपने कई निहायत साधारण ढंग से किसी बड़े परिवर्तन की शुरुआत कर सकता है, या उस प्रक्रिया में अपना योग दे सकता है. मैंने उस बदलाव की प्रक्रिया में योग दिया है, जो कहीं से भी किसी भी कोण से अपराध नहीं हो सकता. और निरपराध को सजा देने की परम्परा के तहत, सम्भव है मेरे परिवार को किसी बड़ी मुसीबत में फँस जाना पड़े. लेकिन उस स्थिति में एक नये जेहाद की शुरुआत भी हो सकती है.

मेरा सोचना शादियों में हजारों रुपयों की फिजूलखर्ची करने वाले दिमागों के लिए कुछ भी हो, मेरे लिए एक सीधा और सच्चा रास्ता है. जातिगत विभाजन, एक तरह से वर्ग भेद की नींव है, और जातियों की सीमा तोड़ना वर्ग संघर्ष की शुरुआत. समानता की कल्पना इससे पहिले की ही नहीं जा सकती. खेमों और तम्बुओं में बँटा देश जब तक एक साथ मिलकर मैदान में नहीं आ जाता तब तक 'आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी' वाली बात सम्भव नहीं हो सकती. किताबों को अमल में लाने का समय अब आ गया है. मेरी बातों को पढ़कर कोई भी ना समझ आदमी मूर्ख या पागल का फतवा देकर छुटकारा पा सकता है, लेकिन एक हवा जो धीरे-धीरे चीजों को उलटना-पलटना शुरू

कर चुकी है. उससे बचना मुंश्किल है, और मैं अपने आप को उस हवा से अलग नहीं मानता. यदि आप मेरी बातों को किसी भी कोण से जायज और सामयिक मानते हैं तो कृपया चाची और बाबू चाचा को समझाइये कि यह महज एक साधारण सी बात है. वे बहुत घबराये हुए हैं, परेशान हैं, और मुझसे नाराज हैं. उनका ऐसा करना इतना स्वाभाविक है कि मैं किसी भी तरह से उनको गलत नहीं मान सकता. रूढियाँ और गलत आस्थाएँ, जब संस्कार बन जायें, तो उनका टूटना बहुत ही दुखदायी होता है. चाची और बाबू चाचा के संस्कारों पर सीधा प्रहार किया है मैंने, इसलिए वे चौंककर, अनायास आये विपत्तियों और अपने अन्दर की टूटती चीजों से आहत हो गये हैं.

आप उन्हें समझाइये. और वे मुझे जो भी सजा देना चाहें, उसके लिए मैं तैयार हूँ.

मैं अभी चाची को पत्र नहीं लिख रहा हूँ. दो-चार दिन बाद लिखूँगा. यदि वे चिरगाँव में हों, तो खबर कीजिये. मैं इन दिनों आर्थिक संकट से गुजर रहा हूँ. यदि चाची मेरी सहायता कर सकें तो ठीक रहेगा. चाची से पूछिये यदि उनकी सामर्थ्य या इच्छा न हो तो कोई बात नहीं. वैसे अब इस स्टेज पर आने के बाद पैसों के लिए चाची की ओर देखना अच्छा नहीं लगता, लेकिन क्या करूँ लाचारी है.

पूज्य ललता एवं दादा को चरण स्पर्श.

पूज्य दादी, छोटी एवं बड़ी भाभी को चरण स्पर्श.

आदरणीय कक्का जी को प्रणाम.

यदि चाची वहाँ हो तो उनका आशीर्वाद अपेक्षित है. सब छोटों को प्यार.

पत्राचार कीजिए.

29 जुलाई 94
भोपाल

आदरणीय राठी जी,

दो बरस होने को आये मैं धूल में पड़ा हूँ अपनी ही धूल में. तनाव घुटन में भीषण अकेला. बेहद निजी दुखों की एक ढही हुई दीवार के नीचे. न कुछ लिख पाता हूँ न सोच पाता हूँ. जो लिखा वह इतना खराब और पक्षधर लगता है कि अपने मुँह में किसी के थूक का अनुभव होता है. किसी से मिलता-जुलता नहीं घर के एक कोने में पड़ा रहता हूँ बहुत कम सोता हूँ और जागता उससे भी कम हूँ पता नहीं कौन पश्चाताप! अपने से पता नहीं क्योंकर ऐसी ऊब! इतनी घृणा... पर यह सब क्यों लिख रहा हूँ. 'उनींदे की लोरी' का एक कविता पढ़कर 'एक गुपचुप प्रलाप' पढ़कर, जाने क्यों लगा कि आपको सब कह दूँ. लेकिन सबको मैं जानता नहीं मेरी कोई अपनी भाषा नहीं. इतनी आत्मबद्धता!

'एक गुपचुप प्रलाप' पढ़कर मैं देर तक इस कमरे से उस कमरे में होता रहा. सारी किताबें धूल और जालों से अटी हैं इन पर दीवाली के दियों का आलोक फैला होगा अब अन्धकार फैला है. मेरी लिखने की जगह पर मेरी धूल ही धूल पड़ी है. मैंने खिड़की में खड़े होकर कटहल का पेड़ देखा. सड़क से जाती हुई बच्ची देखी जो बस्ता टाँगे थी और रो रही थी. इस तरह की कोई हरकत भीतर किसी में हुई. वो अभी धूल में मिला नहीं है.

कविता से जब भी ऐसा होता है कविता पर भरोसा बढ़ता है. प्रयाग जी और मंगलेश जी को मेरा नमस्कार कहिये. घर में सबको यथा योग्य.

आपका
नवीन सागर

कक्कू बॉस (राजुला शाह)

इस बार तुम इतने दिन रहीं और मैं ठीक से एक बार भी तुम्हारे पास बैठ नहीं पाया. कई कविताएँ लिखी गयी थीं. सोचता था सुनाऊँगा उसका भी मौका नहीं लगा. रात में जब तुम जा रही थीं मैं आधी नींद में विवश लेटा था.

इन दिनों जल्दी उठ जाता हूँ ज्यादातर तो अनिद्रा से थककर, और कभी-कभी, गहरी नींद से अचानक—जैसे कोई जगा गया हो. एकदम चैतन्य कुछ न कुछ लिखने लगता हूँ. अभी तो सबकुछ अनर्गल है. जैसे बरसों से बन्द मकान में घर की तरह एक कोने की धूल साफ की और चेहरे और सिर पर मकड़जाला लपेटकर बैठ गये. नीम अँधेरे में धीरे-धीरे दीवारें, दरवाजे खिड़कियाँ और चीजें उभर रही हैं दूसरे कमरे का हिस्सा दिख रहा है उसमें टँगा अपना बहुत पुराना फोटो दिखता है फ्रेम से पहचानता हूँ. पास जाता हूँ तो धूल अटा आईना है—साफ करता हूँ उँगलियों से गोलाकार. ऐसा साफ कि धूल की सघन धारियाँ घट गयी हैं उनके बीच उँगलियों से साफ हुए आईने में अपना फोटो देख रहा हूँ—भीतर भटक रहा हूँ बाहर दूर-दूर से लौट रहा हूँ अभी बहुत बाकी हूँ और बहुत बाकी रह जाऊँगा. खुद के सामने खड़ा हूँ. अपने साथ बैठा हूँ. दूसरी बात नहीं हो रही. अभी अबोला है. बहुत पास बैठने के बाद भी अभी बहुत दूर बैठने की प्रतीति है. खुद को छू रहा हूँ. अपरिचित स्पर्श है. बॉस बड़ी मुश्किल है. क्या पता क्या हो क्या न हो. जल्दी नहीं है कई जन्मों का सिलसिला है.

कहानी की चित्रों सहित फोटोकापी रख दी है. तुमने इसका कवर नहीं बनाया था. इन्हीं चित्रों में से कुछ सुझा देना कवर.

मैं अभी कुछ दिनों के लिए कहीं जाऊँगा. जाने की जगह तय नहीं है बस जाने की अभीप्सा है. जहाँ कोई जानता न हो.

नवीन सागर

प्रिय लाल्टू,

इस बार भोपाल में तुम्हें कहीं भीतर स्पर्श कर पाया इसकी मुझे सदा खुशी रहेगी. तुम दोनों यानी तुम और कैरन हो ही ऐसे, कि नीरस से नीरस आदमी में भी तरंगे उठने लगें. जिसमें कैरन का तो जवाब नहीं. मैंने यूँ ही नहीं कह दिया था कि कैरन का एक मायका अमेरिका में है तो एक मेरे घर में. वह है ही ऐसी कि लगता है मानो धरती की धीर भरी बेटी है कैसी निमग्न अचंचल उदात्त और खामोश कलाकार. तुम्हारी तारीफ में क्या करूँ जबकि तुम्हें कैरन ने जीवन भर के लिए पाया है. (चुना है) तुमसे कविता संग्रह बनाने की बात मैंने बहुत जरूरी लगने पर की थी. बहुत अच्छी कविताएँ उस दिन

सुनीं. तुम्हारा अपना अलग ढंग है और तुम अपनी अनुभूतियों के पूरे नाटक को भाषा में पकड़ने की सहजता से भरे हुए हो. जहाँ कहीं बहुत उपरली राजनीतिक चेतना के साक्ष्य कविता में मिलते हैं वहाँ तुम्हारा कवित्व पार्श्व में जाता सा लगता है. इसका ये मतलब नहीं कि कविता में यह चेतना होनी नहीं है, होनी है पर उसे अभी तुम्हारी अनुभूति में एकजान होना है—जरा लाउडली कह रहा हूँ. कुल मिला के तो मुझे कविताएँ बेहद अच्छी लगीं. सबसे बड़ी बात ये है कि सारी कविताओं में एक व्यक्ति अनुभव होता है जो अपने सम्वेदन के मर्म और जीवन जगत की क्रिया-प्रतिक्रिया के फैलते संसार में बड़ा बेचैन नजर आता है. और यही बात है कि मुझे तुम्हारी कविताएँ इतनी अच्छी लगीं. जहाँ कहीं पारिभाषिक हो चुके या अपना अर्थ खो चुके शब्द आ जाते हैं वहाँ लगता है कई बार मानो खून छलछला आया हो. अब तुम कविताओं पर काम कर रहे हो तो जाहिर है कि कुछ रद्दोबदल होगा. अनेक कविताएँ तो ऐसी हैं कि एक कंकड़ को, (कंकड़ यानी कण) क्या मैं उपदेश टाइप का दे बैठा! नहीं यार ये तो बातचीत है.

कल शाम तेजी के साथ गुजरी. बियर पी और बहुत बातें कीं. वह परेशान है और उसकी परेशानी से मैं दुखी हूँ. उसे जम के लिखना होगा वरना वो बरबाद हो जायेगी. तीव्र सम्वेदन और बुद्धि की प्रखरता उससे जो माँगती है उसे देना चाहिए. पागल है. पर करें क्या उसे अपने पागलपन से इतना प्यार है कि हमें भी है अगर वह इतनी पागल न होती तो उसके लिए मेरे पास क्या भाषा होती! आज शायद अभी आती ही होगी. कहीं रात भर ठीक से सो न सकी हो और अपनी थकान झोले में डाले सामने आ बैठे. और ऊपर से हँसने लगे. बड़ी लाल टिपकी वाले माथे की लड़की.

हरदा आने के बारे में अपनी डायरेक्टर से बात करने के बाद ही लिखूँगा. यहाँ काम बहुत है और मेरे पास एक भी छुट्टी नहीं बची है. आना चाहता हूँ और कहीं किसी न किसी तरह आ पहुँचूँ. राजेश और राम प्रकाश से आज बात होगी.

तुम्हारा पत्र पाकर बहुत खुश हुआ. घर से चला तो मायूसी थी अब ध्यान जा रहा है कि बाहर आसमान है. कैरन को स्नेह.

नवीन सागर

28 सितम्बर 95
भोपाल

आदरणीय प्रयाग जी,

आज आपका पत्र मिला तो जाने क्यों अजीब सी सान्त्वना मिली. जैसे मैं बड़ा संतप्त था. रुकी हुई सिसकी साँस के अतल में से एकदम बुलबुले सी ऊपर आकर खो गयी. अजीब संयोग आज दुपहर विजय मोहन सिंह के घर के आगे से गुजरते हुए मुझे एक पल को पुराने दिन होने का भ्रम हुआ. मुझे लगा वे भीतर होंगे और तब आपकी याद आयी चमड़े का थैला टांगे किसी पेड़ की हिलती छाया में आपके धीरे-धीरे रहने की याद. आज ही सुबह एक वाचाल कवि जाते-जाते नीचे मेरे घर के गेट पर पूछ रहा था प्रयाग शुक्ल की क्या विशेषता है. मैंने कहा आप जाते-जाते इतना बड़ा सवाल कर रहे हैं, मैं जबकि आपके पीछे-पीछे भागता हुआ इसका उत्तर देने की स्थिति में नहीं हूँ. फौरी तौर पर तो यही कि वे किसी और की तरह नहीं लिखते और न कोई दूसरा उनकी तरह लिख पायेगा. शुरू से ही उनका स्वभाव उनकी भाषा बनाता आया है और उसे अलग से बेहिचक पहचाना जा सकता है. उसमें जो शान्त गरिमा और उद्वेलित करने वाली बेचैनी का शून्य-सन्नाटा है यह उनकी अपनी आवाज है. मेरी थोड़ी आवेश भरी यह बात सुनकर वे रुककर कुछ कहने को हुए पर मैंने विदा का हाथ हिला दिया और कहा शोर तेज और अनर्गल हो तो उसमें से गुजरती हुई जो आवाज जितनी ही धीमी होगी उसका अस्तित्व उतना ही खुद हो जनायेगा.

और आज आपका पत्र आ गया. मैं ऐसे संयोगों की इतनी कद्र करता हूँ कि कई बार मन होता है संयोगों का कथाकार बन जाऊँ.

इंडिया टुडे की वार्षिकी में मैंने अन्धकार का प्रहसन नाम की एक कहानी भेजी है. वे छाप रहे हैं. आपका उपन्यास अंश छप रहा है जानकर उत्सुकता और बढ़ गयी मैंने चार-पाँच साल पहले लिखी कहानी के नाक-नक्श ठीक करके उसी को भेज दिया. जाने कैसी लगे. आपकी प्रतिक्रिया तो मिलेगी ही. आप उपन्यास लिख रहे हैं और मैं बरसों से उपन्यास लिखने की सोच रहा हूँ. आप चींटी की तरह धीरे-धीरे लगातार अपना काम करते रहते हैं, बड़ी खुशी होती है. दिल्ली की आपाधापी के बीच आपके भीतर कोई केन्द्रक है जिसमें से निरन्तर उत्सर्जन होता रहता है. आप दरअसल आकाश हवा पानी धूप परछाईं पेड़ पत्तों और स्मृतियों के प्रान्तरों से लगातार अपने में लौटते रहने का सीधा-सादा जीवन जीते हैं और दुनियावी काम काज निर्लिप्त कर्तव्य भाव से करते हैं. (मेरे कयास मेरे हैं.) आपके शब्दों के ऊपर कभी-कभी क्या छलछला आता है! जैसे पिता के कोट की फटी आस्तीन मोड़ पर गुम हो गयी थी. उनका काँपता जबड़ा भीतर किसी बड़ी खामोशी से पहले की आखिरी आवाज थी यह बेतुकी बात याद आ गयी.

25 दिसम्बर 93
भोपाल

प्रिय रामकुमार

यह पत्र एक खास मकसद से लिख रहा हूँ. विस्तार से पृष्ठभूमि समझाने की शायद जरूरत नहीं. बहुत कुछ तुम स्वयं जानते हो. बंसी कौल के नाट्य दल से मेरे जुड़ते के कलात्मक-आध्यात्मिक कारणों के साथ-साथ गुड़िया के कारण एक व्यक्तिगत सन्दर्भ भी है. बंसी ने सबसे बुरे समय में उसे साधा और मेरे तनाव घटाये अब बंसी तनाव में है इसलिए मेरी बारी है. वे चौबीस घंटे इस चिन्ता में रहते हैं कि दो साल बाद जब ग्रांट खत्म हो जाएगी तो दल का क्या होगा. वे चाहते हैं कि यह दल बना रहे इसकी अपनी जमीन हो शेड हो और निरन्तर कोई आर्थिक स्रोत ऐसा बना रहे कि एक्टरों की तनख्वाहें निकलती

रहे. दल छोटी जगहों पर जाकर प्रदर्शन और प्रशिक्षण के काम करे इत्यादि यहाँ के लोगों को तुम जानते ही हो किसी की उँगली कट जाये तो उनकी पेशाब नहीं उतरती. तुम सोचोगे मुझे खुद को उलझाने की आदत है और मैं इस भूमिका के साथ तुम्हें भी अपने साथ घसीट रहा हूँ. तो– हाँ! मैं ऐसा कर रहा हूँ. मैं अब तब तक शान्त नहीं बैठूँगा जब तक इस नाट्य दल का आधार पुख्ता नहीं हो जाता, और न तुम्हें बैठने दूँगा. मैं इसी सिलसिले में कल सुबह दतिया-चिरगाँव जा रहा हूँ. वहाँ 21 जुलाई से 24 जुलाई तक रंग विदूषक के कम से कम दो शो की व्यवस्था करनी है– आने जाने के किराये के अलावा खाने ठहरने और प्रति प्रर्दशन कम से कम चार हजार की व्यवस्था. मैं नहीं जानता वहाँ मेरे प्रियजन क्या करेंगे क्या नहीं. पर उम्मीद बाँधकर जा रहा हूँ. यह पत्र लिखने का मकसद ये है कि यदि तुम अपने कुछ मित्रों से रंग विदूषक के लिए उदार अनुदान प्राप्त करके भेज सको तो 21 तारीख से पहले जरूर भेज दो. यदि हरि भटनागर से तुमने रकम वापस नहीं ली है तो उसे दो कि वह उस रकम को यहाँ फौरन दे जाये वह पैसा खा रहा है. जबकि तुम्हारा पैसा ऐसों के मुँह में जाने के लिए नहीं बना है, बल्कि ऐसे प्रयत्नों में खपने के लिए है जल्दी से यह पत्र इसलिए कि मैं नहीं जानता सोमवार को दतिया से किस हाल में लौटना होगा. यहाँ कोई मुझे फूटी कौड़ी नहीं देगा. एक्टर उत्साहित है. जमकर तैयारी कर रहे हैं और मैं अपनी आदत से लाचार बड़ी-बड़ी बातें करके ऐसा तुषार बाँध चुका हूँ कि बस! इसलिए तुम्हें कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा. ऐसी मुसीबतों से घबराये बिना उनमें फँस जाना चाहिए पुण्य मिलता है. सतयुग में सिर्फ नौ लाख सोलह हजार एक सौ आठ आत्माओं को मानव शरीर मिलेगा. उसके लिए रिजर्वेशन चल रहा है मैं तुम्हारा करवा दूँगा.

यदि तुम 21 जुलाई से पहले यानी 20 को यहाँ आ जाओ और हमारे साथ चलो तो बहुत अच्छा लगेगा. नाटक कम्पनी के साथ कारिन्दे की तरह जाने का मजा. तुम कोई काम निकालकर आ जाओ. आ ही जाना है. मैं 20 तारीख को तुम्हारी प्रतीक्षा व्यग्रता नहीं, उग्रता से करूँगा.

दूसरी बात, तुम सक्षम हो, उस इलाके में दो-चार नगर ऐसे बनाओ जहाँ कम्पनी का थियेटर बुला सको. आने-जाने का किराया और पाँच हजार से एक लाख तक एक शो की फीस जितनी भी तुम दिला सको. पागल नहीं हुआ हूँ, इसी तरह से अगले साल में पाँच लाख जमा हो पायेंगे. जमीन इमारत और एक साल की एक्टरों की तनख्वाह के लिए. जब तक प्रदेश व्यापी ऐसे ही दयानतदारों खुदाई खिदमतगारों का समूह अपना बन जायेगा जो आगे के लिए रास्ते बनायेगा. रामकुमार तुम हो पप्पी है मित्रा जी हैं यही लोग हैं जिनकी दम पर मैं दो साल में यह होते देखने की उम्मीद कर बैठा हूँ. न तो मुझ पर हँसना न झल्लाना और न चुप बैठ जाना. मरने से पहले कोई तो चीज ऐसी हो जिसके बनने में हम ईंट गारे की तरह खप जायें. मैं तो अब रचनाओं का सारा पारिश्रमिक इस नाट्य कम्पनी को ही दूँगा. और भी जिस तरह से कमा पाऊँगा, इसी में लगाऊँगा.

अभी परसों रात दो घंटे तक मैंने अपने मुकेश भाई रवि भाई और ब्रजेश भाई (कुरुक्षेत्र से आये थे) के आगे शमशेर और विनोद जी की कविताओं का नाटकीय पाठ किया. मेरे लिए वे दो घंटे अविस्मरणीय हो गये है. तुम्हारी याद ऐन परफरमेन्स के बीच आयी. तुम भीगी आँखों से देखते सुनते अगर होते. बच्चों को प्यार और मित्रों को नमस्कार.

जो कुछ लिखा हो साथ लाना.

इस पत्र को तार समझना और उचित कार्यवाही करना. यदि तुम चुप बैठ गये तो मैं घबरा जाऊँगा.

तुम्हारा
नवीन सागर

प्रिय रामकुमार,

मद्रास से वापस आ गया हूँ. आज ही पता चला कि तुम लैलूँगा पहुँच गये हो वरना समझ में नहीं आ रहा था कहाँ पत्र लिखूँ. तुम यहाँ से अचानक चले गये उस दिन अन्तिम रूप से कुछ भी बातें न हो सकीं.

मेरी एक आर्टरी 50 प्रतिशत खराब हो गयी है. 70 प्रतिशत होती तो ही ऑपरेशन होता. टेस्ट सारे हो गये हैं. एंजिओग्राफी भी हो गयी है. दवा और परहेज सम्भवत: इस खराबी को दूर कर सकते हैं. दूर भले न कर पायें इसे बढ़ने न देंगे, इस उम्मीद के साथ लौटा हूँ. वहाँ बस पड़ा ही नहीं रहा लगभग 100 पेज लिख डाले कविताएँ भी और अंट शंट कुछ भी. अब लग रहा है अपने एक-एक मिनट का अर्थ समझ में आ रहा है, तुम इस बार जब भी आओ बहुत सारी कविताओं के साथ आना. रोज शाम को अकेले एक तरफ निकल जाया करो और भले ही अँधेरे के या एक तारे के धूमिल प्रकाश में सही, एक कविता लिखकर घर लौटा करना.

अभी मुझे देखने को आने की ज़रूरत नहीं है. मैं स्वस्थ हूँ. एक महीने अभी बेड रेस्ट पर शायद और रहूँगा. तुम जब तक पचास नयी कविताएँ लिख लो तब तक मत आना–यही दिन हैं जुलाई के अन्तिम हफ्ते से अगस्त के अन्तिम हफ्ते के बीच झड़ी लगने के दिन. रामकुमार अपने भीतर खुद को अतल जाने दो और बेसुध हो जाओ फिर अगर भजन ही फूटे तो फूटने दो. व्यक्ति-रामकुमार की तरह नहीं–मनुष्य की तरह अपने भीतर और बाहर अकेले पड़ जाओ, जो कुछ भी है वह सब और जो कुछ नहीं है वह भी सब, तुम्हारी आवाज ही स्पंदित हो उठेगा. इतने तरल हो जाओ कि कविता तुम्हें सोख ले. बच्चों को मेरा प्यार देना.

घर में बाकी सबको यथा योग्य.

सरकारी मकान में अभी बहुत अटपटा लग रहा है, ऐसा लग रहा है किसी के यहाँ आकर रुका हूँ और इस घर में यहाँ-वहाँ अपने घर की चीजें रखी देखकर चौंक-चौंक उठ रहा हूँ. सुबह सोकर उठता हूँ तो लगता है किसी परायी नींद में से किसी परायी सुबह में आँखें खोली हैं. जिस दिन तुम्हारी हँसी यहाँ गूँज जायेगी यह अजनबियत भी जाती रहेगी. पर याद रहे इस बार अकेले न आ पड़ना.

तुम्हारा नवीन सागर

26 दिसम्बर 97
भोपाल

प्रिय रामकुमार

तुम भी आखिरकार मुझसे ऊब गये. ऊब जाओ पर अपने में डूबकर! सबसे ऊब जाओगे. एक दिन तो अपने से भी ऊबे हुए निकलोगे. अपने में डूबकर मेरी तरह खड़क होने से पहले लौट जाओ अपने शून्य के सामने जिसमें प्रतिबिम्बित शून्य में जीवन के अर्थों की विलीन होती बेआवाज व्यर्थता से पहले एक कालातीत लहर है उसमें डूब जाओ. मुझे दुख है पर मुझसे ऊब गये हो. अच्छा है ऊब जाओ. मुझसे मुक्त होना तुम्हारा अपने उस झूठ से मुक्त होना है जो दुनियावी अच्छाई का बोझ है जो बार-बार तुम्हें तुम्हारे शून्य के बाहर तथ्यों के बीहड़ में फेंकता है. मैं सम्बन्धों के खंडहर की गन्ध हूँ उसकी बास. हवाओं के गुजरते काफिलों के किनारे स्तम्भित पत्थर प्राचीन. दीवार में मुँह सटाये लेटी. साँस लेती लाश. घर से जाती घर को लौटती. आत्मा पर स्मृतियों की काई है जिसमें अभीप्साओं के झुरमुर जुगनुओं से लदे हैं. यह मेरी मृत्यु का उत्सव है. जहाँ मेरा इति जीवन इतिहास अपना नाच खत्म करके हाँफ रहा है.

मुझे याद आ रहा है मैं इनकार कर सकता था जन्म लेने से. अन्धकार में जहाँ सबकुछ दिख रहा था वहाँ मैं लौट सकता था अव्यक्त. मैं कोई था ही नहीं कुछ अनन्त अव्यक्त में अविच्छिन्न शून्य था. ईश्वर का बीज भी नहीं था. प्रस्फुटित ईश्वर के प्रकाश में लबालब जो भरा था अन्धकार में उसका तलहीन अतल था. मुझे नहीं आना था. अव्यक्त रहना था समाप्त.

अपने होने के विरुद्ध मैं चीत्कार हूँ दुःख हूँ गूँगा मैं एक व्यर्थ आवाज हूँ सन्नाटा हूँ संसार के आर-पार मैं अन्धकार हूँ अपने पर बरसता हुआ. मैं ईश्वर हूँ एक इच्छा के लिए तरसता हुआ.

मैं सबसे क्षमा माँग रहा हूँ. मुझे क्या पता था कोई भाषा होगी बेहद अधूरी और मैं पूरे से भी अधिक होता जाऊँगा. मैं खुद को दुहराऊँगा और भाषा के बाहर रह जाऊँगा. मेरे अनर्गल हो गये प्रयत्न! अर्थहीन मेरे शब्द.

नवीन सागर

आदरणीय प्रयाग जी,

गुड़िया ने मेरी नयी कविता डायरी के पहले पन्ने पर दर्ज कर दी है—जितनी देर में ऊपर से गुजरता है हवाई जहाज. बोली, अब इसमें अच्छी कविताएँ लिखी जायेंगी.

इस बीच मैं कविताएँ फेअर करने में लगा रहा. पिछले दो ढाई बरस की जगह-जगह बिखरी इबारतों में से कुछ अच्छी कविताएँ निकल आयी हैं जैसे कबाड़ खाने में से किसी को साबुत टार्च या बच्चे के लिए तीन पहियों की साइकिल मिल जाये.

कि इसी बीच इतवार को अचानक सिर फटते-फटते बचा. रक्तचाप ने हद की. मैं सड़क पर था. फिर मेरे दोस्त राकेश जैमिनी फोटोग्राफर और फिर गुड़िया भरत शर्मा अंजना पुरी आदि ने बचा लिया. अभी बेड रेस्ट पर हूँ. रेस्ट तो बेड ही कर रहा है मैं तो उस पर एक बीड़ी के लिए तरसती हुई घुटन सा पड़ा हूँ. माँ आ गयी है. जो दिन में पच्चीस बार मेरे कमरे में डरकर झाँकती है. वे भगवान से नाराज है. कि उन्हें कभी कोई बीमारी नहीं हुई जबकि उनके बेटों को कुछ भी हो जाता है.

आपको मेरा पत्र मिला होगा. मुझे अब पत्र लिखने का दौरा पड़ा है. आपको हर हफ्ते मेरा पत्र पढ़ना होगा.

घर में सबको यथा योग्य. असद जैदी मंगलेश डबराल, विष्णु नागर का होना बड़ी राहत.

आपका
नवीन सागर

प्रिय विनोद भाई,

अभी-अभी अशोक को छोड़कर लौटा हूँ, बहुत गरमी है. बाजू के मकान में शादी की भड़भड़ है. खुले में अधलेटा लिख रहा हूँ लेकिन पसीने की धारें छूट रही हैं. शादी के खाने वगैरह की गंध फैली है. दूर-दूर के लाउडस्पीकरों का पता चल रहा है. ऐसे में अपना पता कैसे चले! दिल-दिमाग सुन्न है और चिट्ठी लिख रहा हूँ. बिल्कुल एक अलग शुरुआत सोचता घर लौटा था. चिट्ठी लिखने और कहानी लिखनी की प्रक्रिया का एक जैसा होना ही न लिख पाने का कारण बन गया. एक बार मैंने चिरगाँव में अपनी एक चिट्ठी देखी जो मैंने गरमियों में कभी मामा को लिखी थी. उसे पढ़कर न जाने क्यों मुझे अजीब सी शर्म लगी. बस तभी से किसी को चिट्ठी लिखी और लिख कर रख ली. कागजातों में कविता- कहानियों से ज्यादा चिट्ठियाँ हैं. कभी किसी को पढ़कर लगता है चिट्ठी का भूत है. कभी कोई स्तम्भित-सी लगती है. कई ऐसी लगती हैं जैसे लौटकर आयी हों. फाड़ी नहीं जाती. इन्हें पढ़कर बहुत पीछे दूर-दूर कहीं छूटा हुआ-सा दिखता हूँ. लेकिन यह भी एक नशा ही है. चिट्ठी भेजने का डर न भेजने की आदत बन गया. आदत झूठ के लिए मजबूर करती है. नैतिक-सी दिलाशा भी देती है.

इस सत्र के चलते न जाने कैसे हुआ कि पोस्ट की गयी इक्का दुक्का चिट्ठी ने भी पहुँचना छोड़ दिया.

जो चिट्ठी पहुँच जाती है उसके पढ़े जाने के अंदाजिया समय पर मैं एक तरह की झेंप का अनुभव करता हूँ.

यही सब कुछ मेरी सफाई है. मुझसे ज्यादा सफाइयाँ शायद ही किसी ने दी हों. फिर भी मुझे सफाई देना नहीं आया. जो झूठ को सच की सहजता से बोल लेता है उसका बोला सच निरा झूठ लगता है वह सच को सच की तरह खोल सकने में असमर्थ हो जाता है. (सफाई को यह बौद्धिक सी मार्मिकता देने की कोशिश है.)

सच मैंने बनाये नहीं—निरासक्त और निरावेग यह शीर्षक याद आया. इस वाक्य का स्वर ध्यन खींचता है. टकसाली स्वरों के आंतरिक एकसेपन के बीच मद्धिम सा यह स्वर अपने आकाश को जाता प्रतीत होता है. ऐसी कविताएँ भीतर मिल सकती हैं बशर्ते तेज मसाले खाने की आदत बाह छोड़ी जा सके. जनसत्ता की 'बूढ़े' शीर्षक से छपी कविताएँ.

कथादेश मुम्बई पाठक-मंच की स्थापना



मुम्बई : साहित्यिक सरोकारों को केन्द्र में रखते हुए, दिनांक 22 सितम्बर, 2007 को 'कथादेश मुम्बई पाठक-मंच' की स्थापना की गयी. मुम्बई के युवा लेखकों और पत्रकारों सहित, कुछ वरिष्ठ लेखकों ने भी इस मंच की सदस्यता ग्रहण की. इस उद्देश्य से आयोजित गोष्ठी की अध्यक्षता कवि विनोद कुमार श्रीवास्तव (नोयडा) ने की और अध्यक्षीय मंडल में, आलोचक-समीक्षक डॉ सरजू प्रसाद मिश्र (नागपुर) एवं वरिष्ठ लेखक डॉ. शोभनाथ यादव (सम्पादक : प्रगतिशील आकल्प, मुम्बई) भी उपस्थिति रहे.

विनोद कुमार श्रीवास्तव ने कथादेश मुम्बई पाठक-मंच के गठन की निम्न सूचना पढ़ी—

'आज दिनांक 22 सितम्बर 2007 (शनिवार) को, साहित्यिक सरोकारों को केन्द्र में रखते हुए, हम मुम्बई के कुछ साहित्यिक रुचि के लोग, साहित्यिक पत्रिका कथादेश के सहयोग से एक पाठक-मंच की स्थापना करते हैं, जिसका नाम है 'कथादेश मुम्बई पाठक-मंच' इस मंच का उद्देश्य, लेखकों और पाठकों के बीच सीधा और सार्थक सम्वाद, स्तरीय साहित्य की समझ का विस्तार तथा रचनात्मक साहित्य से तटस्थ होते जा रहे समाज में, साहित्यिक अभिरुचि जागृत करने का प्रयास होगा.

हम साहित्यिक रुचि रखने वाले सभी लोगों को इस मंच से जुड़ने के लिए आमन्त्रित करते हैं. इस मंच की सदस्यता निःशुल्क होगी. इस मंच से जुड़ने की इच्छा रखने वाले लोग कृपया निम्नलिखित व्यक्तियों से सम्पर्क करें—

मनोज शर्मा
फोन. 09820477240,
हृदयेश मयंक
फोन. 09869118707'

उपर्युक्त क्रम में विनोद कुमार श्रीवास्तव ने जम्मू शहर 'कथादेश जम्मू पाठक मंच' की स्थापना किये जाने की सूचना भी दी. जिसके संयोजन का भार, मनोज शर्मा की प्रेरणा से,

शेख मुहम्मद कल्याण
505/2, एयर पोर्ट रोड,
सतवारी, जम्मू-180003
फोन 09419289072

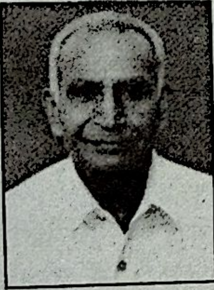
ने स्वीकार किया है. भविष्य में नागपुर, हापुड़ व पंजाब सहित देश की अन्य जगहों में भी ऐसे ही पाठक-मंच बनाये जाने की सम्भावित सूचना भी दी गयी.

पाठक-मंच का परिचय देते हुए गोष्ठी के संचालक व प्रतिबद्ध वरिष्ठ कवि हृदयेश मयंक ने बताया कि आज साहित्य के समक्ष जिस तरह की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं उनसे टकराने के लिए, मासिक साहित्यिक पत्रिका 'कथादेश' (सं. हरिनारायण) के सहयोग से इस मंच की स्थापना की गयी है. उद्देश्यों को थोड़ा और स्पष्ट करते हुए, इस सन्दर्भ में सीधे विद्यार्थियों तक जाने और साहित्यिक परिदृश्य की अद्यतन स्थिति के प्रति उन्हें जागरुक बनाने की जरूरत तक पर भी बल दिया गया. विश्वास जताया गया कि ऐसे प्रयासों से हम मौजूदा साहित्य-विरोधी समय में भी साहित्य की उम्मीद जगाये रख सकते हैं.

गोष्ठी में चले विचार विमर्श के दौरान, बिना पुरोहित के, लेखक व पाठक के आपसी तालमेल, आम आदमी के प्रति पुख्ता विश्वास, पुस्तकों पर सम्वाद तथा पुस्तकों के चयन इत्यादि से सम्बन्धित मन्तव्य सामने आये.

गोष्ठी के दूसरे सत्र में कविता पाठ हुआ. वर्तमान समय में भदेस, बाजारवाद और भगत सिंह पर केन्द्रित अधिकांश कविताओं ने मनुष्य में आस्था के स्वर को बार-बार मुखर किया. इस सत्र में मुख्यतः आलोक श्रीवास्तव (रैन भई चहुं देस, भगत सिंह), हरि मृदुल (हुजूर, अंताक्षरी, कुत्ता), मनोज शर्मा (किट्टू के जन्म दिन पर, भाषा में प्रेम), शैलेश सिंह (भगत सिंह), डॉ. सोहन शर्मा (लगेगा तो आवाज आयेगी, थमना मत गोदावरी), हृदयेश मयंक (आस्था, परजें, जगह), डॉ. शोभनाथ यादव (शापित) व विनोद कुमार श्रीवास्तव की, नवीन सागर की स्मृति में लिखी कविताएँ (क्रूरता, हिस्सा) को मुक्त कंठ से सराहा गया. इस गोष्ठी में अन्य महत्वपूर्ण हस्ताक्षरों सहित सर्वश्री चन्द्रपाल सिंह, जे.जे. यादव, शीतला प्रसाद सरोज, हरिगोविन्द विश्वकर्मा, हरिशंकर उपाध्याय, सुनील ओवाल व दया कृष्ण जोशी उपस्थित रहे.

वरिष्ठ प्रकाशक जगदीश भारद्वाज सम्मानित



नयी दिल्ली. केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार ने हिन्दी प्रकाशन जगत की दीर्घकालीन सेवाओं के लिए वरिष्ठ प्रकाशक एवं सामयिक प्रकाशन के संस्थापक जगदीश भारद्वाज को सम्मानित किया. यह सम्मान उन्हें संस्थान के मुख्यालय आगरा में आयोजित एक भव्य समारोह में प्रदान किया गया.

पिछले 45 वर्षों से सक्रिय श्री भारद्वाज अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशन संघ के महामन्त्री और उपाध्यक्ष रह चुके हैं. वे 'हिन्दी प्रकाशक' मासिक के 4 वर्षों तक सम्पादक भी रहे हैं. इस दौरान उन्होंने लेखक-प्रकाशक सम्बन्धों को मधुर बनाने के लिए कई महत्वपूर्ण कार्यक्रमों का सफलतापूर्वक आयोजन किया.

सम्मान समारोह में संस्थान के उपाध्यक्ष प्रो. रामशरण जोशी, निदेशक प्रो. शम्भुनाथ, वरिष्ठ लेखक प्रो. असगर वजाहत, नेशनल बुक ट्रस्ट की अध्यक्ष नुज्हत हसन तथा देश भर से आये विशिष्ट प्रकाशक, महत्वपूर्ण लेखक एवं बड़ी संख्या में साहित्यप्रेमी मौजूद थे. दो दिन चली इस राष्ट्रीय विकास संगोष्ठी में हमारे 'हमारे पाठक कहाँ हैं?', 'प्रकाशक-लेखक सम्बन्ध' एवं 'हिन्दी में साहित्यतर विषयों की कमी' आदि महत्वपूर्ण विषयों पर भी चर्चा आयोजित की गयी.

डोरिस लेसिंग को साहित्य का नोबेल पुरस्कार

ब्रिटिश उपन्यासकार डोरिस लेसिंग को वर्ष 2007 का साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया है. 88 वर्षीय लेसिंग का जन्म रोडेसिया (जिम्बावबे) में हुआ था. उनके रंगभेद-विरोधी विचारों की वजह से दक्षिण अफ्रीका में 1956 में उनके प्रवेश पर पाबन्दी लगा दी गयी थी. उनकी सर्वाधिक चर्चित पुस्तक 'द गोल्डन नोटबुक' है जो 1962 में प्रकाशित हुई थी. इस किताब से फेमिनिस्ट आन्दोलन ने बहुत प्रेरणा ली थी. इसे फेमिनिज्म की आरम्भिक पुस्तकों में शुमार किया जाता है, यद्यपि लेसिंग स्वयं को फेमिनिस्ट नहीं मानतीं. उनका मानना है कि फेमिनिस्ट आन्दोलन ज्यादा ही विचारधारात्मक है और वे इसे कभी पसन्द नहीं कर पायीं. स्त्री-पुरुष रिश्तों की बारीक पड़ताल करने वाली यह लेखिका कई बार फेमिनिस्टों की तीखी आलोचना के कारण विवाद में रहीं. लेसिंग आज भी बेहद ऊर्जावान हैं और अब भी झगडालू और शरारती हैं. लेसिंग के पुरस्कृत होने को रंगभेद के खिलाफ उनके संघर्ष को सलाम रूप में व्याख्यायित किया जा रहा है.

शंकर गुहा नियोगी स्मारक सम्मान

वयोवृद्ध पत्रकार कुलदीप नैयर को जनोन्मुखी पत्रकारिता के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए नयी दिल्ली में आयोजित एक समारोह में शहीद शंकर गुहा नियोगी स्मारक के आजीवन उपलब्धि पुरस्कार से सम्मानित किया गया. यह पुरस्कार शहीद शंकर गुहा नियोगी स्मारक द्वारा 'स्मारक व्याख्यान' के अवसर पर प्रदान किया गया. पुरस्कार ग्रहण करते हुए नैयर ने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले युवाओं से ईमानदारी और समर्पण के साथ कार्य करने की अपील की. शंकर गुहा नियोगी स्मारक का 25 हजार रुपये का प्रथम पुरस्कार पत्रकार एवं सामाजिक कार्यकर्ता अनिल चमड़िया को दिया गया. अनिल चमड़िया ने पुरस्कार राशि को विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय पाँच संगठनों में वितरित कर दिया.

इंतिजार हुसैन को प्रेमचन्द फैलोशिप

नयी दिल्ली स्थित साहित्य अकादमी द्वारा अकादमी के प्रथम प्रेमचन्द फैलोशिप पाकिस्तान के प्रसिद्ध कथाकार इंतिजार हुसैन को प्रदान करने के अवसर पर उनके सम्मान में स्वागत समारोह का आयोजन किया गया. समारोह की अध्यक्षता गोपीचन्द नारंग ने की. इंतिजार हुसैन ने फैलोशिप प्राप्त करने पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि यह सम्मान पाना उनके लिए फख्र की बात है.

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के पुरस्कार

'वसुधा' के सम्पादक प्रो. कमला प्रसाद एवं सूरजपाल चौहान को केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा ने हिन्दी सेवी सम्मान योजना के अन्तर्गत दिये जाने वाले सुब्रह्मण्यम भारती सम्मान से सम्मानित किया है. यह पुरस्कार हिन्दी के विकास से सम्बन्धित सर्जनात्मक एवं आलोचनात्मक क्षेत्रों में उल्लेखनीय सेवाओं के लिए प्रदान किया जाता है. इससे पूर्व वर्ष 2005 के लिए कृष्णदत्त पालीवाल एवं मंजूर एहतेशाम इस पुरस्कार से सम्मानित हो चुके हैं.

'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान'

हिन्दी में साहित्यिक आलोचना की संस्कृति को प्रोत्साहित करने के लिए 45 वर्ष की आयु सीमा में आने वाली किसी युवा आलोचक को उसकी उत्कृष्ट आलोचनात्मक कृति अथवा निबन्ध के लिए पुरस्कृत करने के अभिप्राय से प्रतिवर्ष 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' प्रदान किया जाता है. इसकी स्थापना वर्ष 1995 में हुई थी.

<u>आलोचना के लिए 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' : नियमावली</u>

1. यह सम्मान प्रतिवर्ष देवीशंकर अवस्थी के जन्म दिन पर 5 अप्रैल को प्रदान किया जाता है.

2. सम्मान राशि रु. 5001 (पाँच हजार एक रुपये) मात्र है. साथ में प्रतीक चिन्ह और प्रशस्ति पत्र भी जो निर्णयक-समिति के विवेक और सौजन्य से तैयार किया जाता है.

3. सम्मान किसी प्रकाशित आलोचनात्मक कृति, निबन्ध अथवा पुस्तक समीक्षा पर ही दिया जायेगा.

4. सम्मान के लिए पुस्तक अथवा निबन्ध का पिछले तीन वर्षों (मई 2004 से 31 दिसम्बर 2007 तक) की अवधि में प्रकाशित होना अनिवार्य है. भविष्य में यह क्रम नियमानुसार बना रहेगा.

5. निर्णायक मंडल एवं साहित्य प्रेमियों के सुझाव और आग्रह पर वर्ष 2005 से उपर्युक्त नियमों के अन्तर्गत आने वाले युवा आलोचकों से आग्रह किया जा रहा है कि 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' हेतु आलोचना की पुस्तक, पुस्तकें अथवा कोई लम्बे निबन्ध की दो-दो प्रतियाँ (शेष प्रतियाँ 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' समिति स्वयं मँगा लेगी) निर्णायक समिति के संयोजक के पते पर सन् 30 नवम्बर 2007 तक विचारार्थ भेज दें. केवल विशेष परिस्थितियों में इसे 30 दिसम्बर सन् 2007 तक माना जा सकता है. आने वाले वर्षों में भी यही प्रक्रिया बनी रहेगी. किसी अन्य जानकारी के लिए सम्मान समिति से सम्पर्क किया जा सकता है.

श्याम सिन्धु
2/346 ए, आजाद नगर, कानपुर
फोन. 0512-2563198

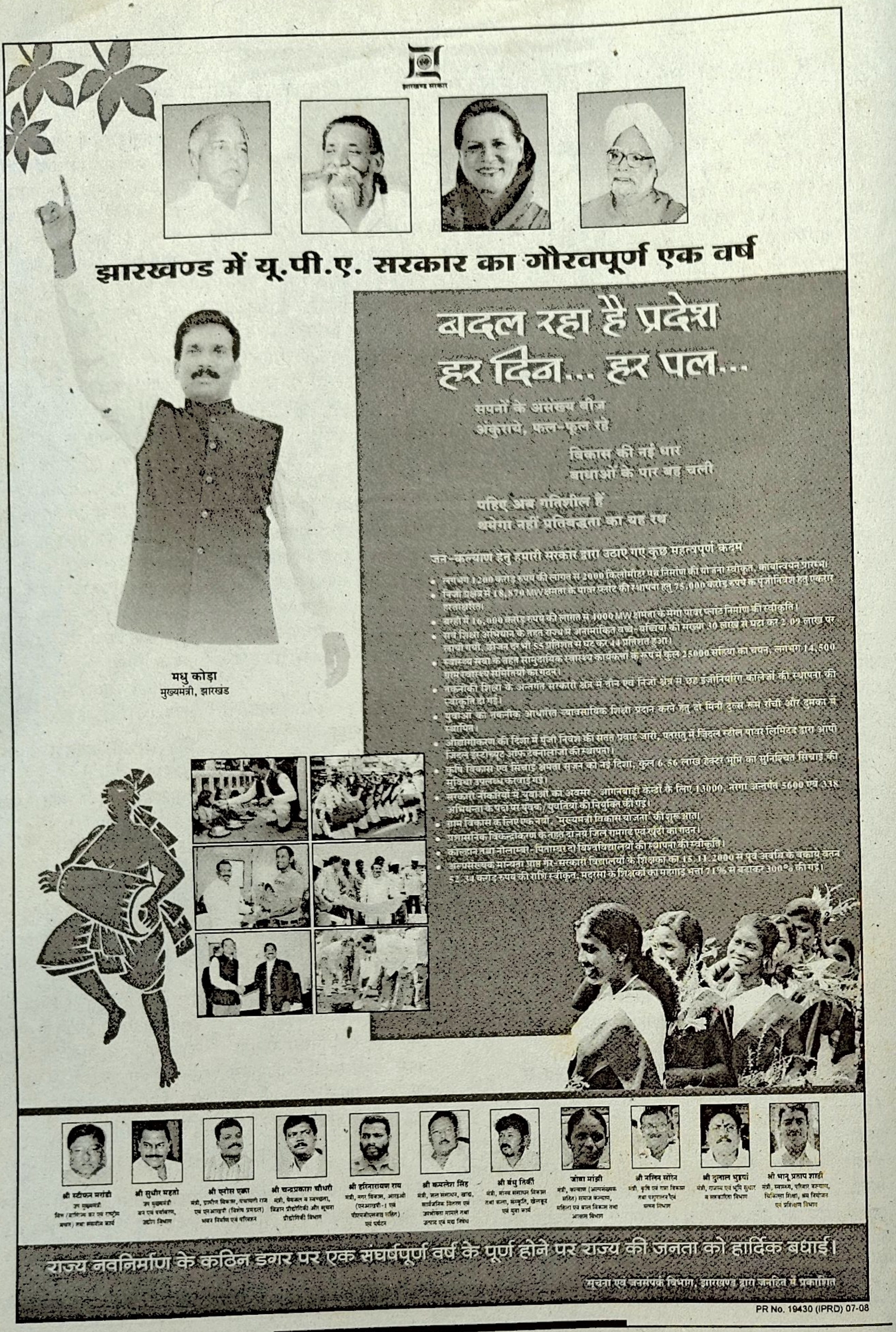
डॉ. (श्रीमती) कमलेश अवस्थी,
संयोजक
देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान
पुरस्कार समिति
26, आर.पी.एस.
शेख सराय, फेज-1
नयी दिल्ली
फोन. 011-26102716

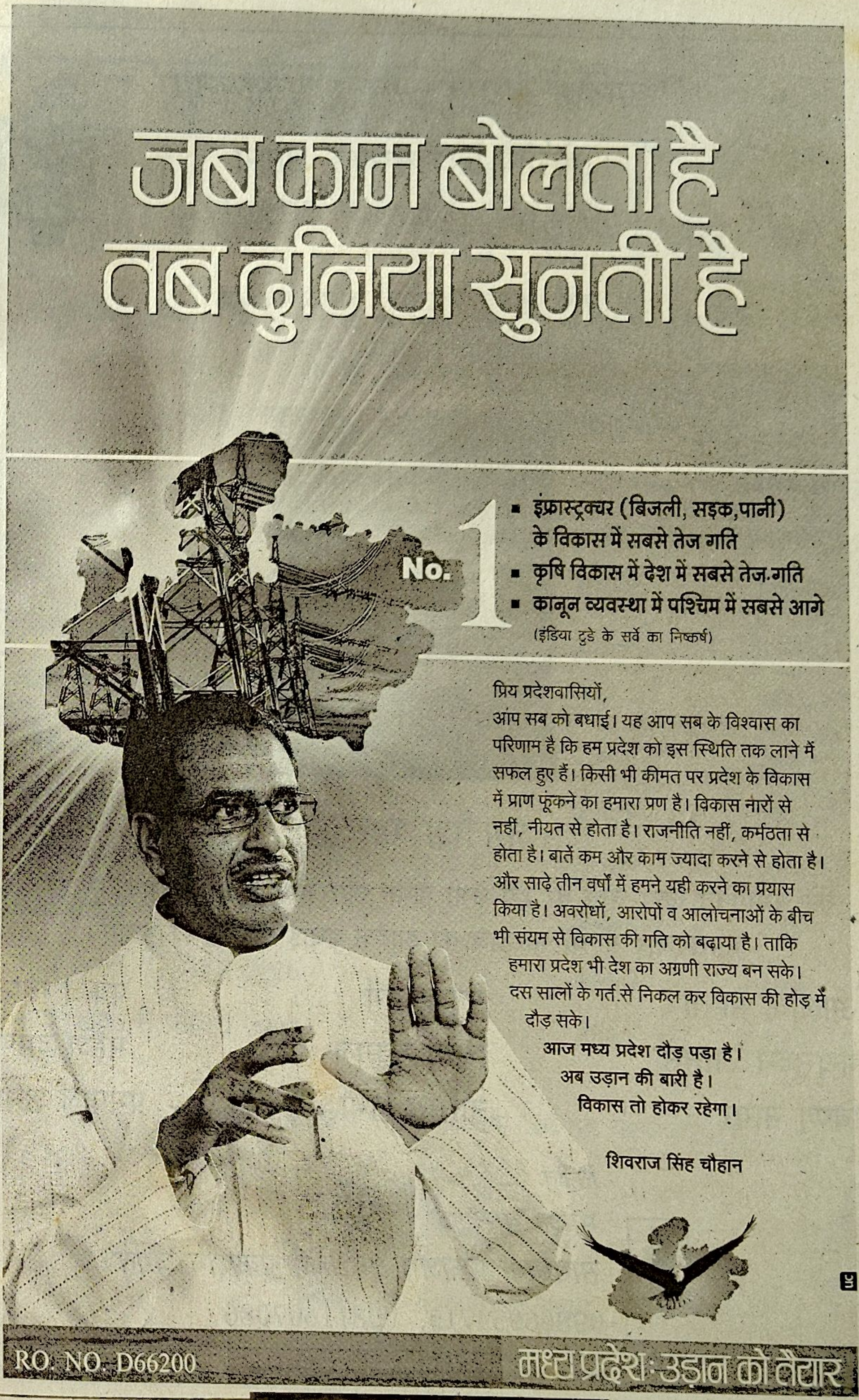
विनय दुबे का निधन

हिन्दी के सुपरिचित कवि विनय दुबे अब हमारे बीच नहीं रहे. उनका गत मास निधन हो गया. अपने काव्य-संग्रहों 'महामहिम चुप हैं', 'सपनों में आता है राक्षस', 'होने जैसा नहीं' के लिए पाठकों में वे बहुत लोकप्रिय हुए. इसके अतिरिक्त उन्होंने दो काव्य-नाटक एवं बाल-साहित्य भी लिखा. उन्हें साहित्य अकादमी की सीनियर फैलोशिप के अतिरिक्त कई पुरस्कार भी प्राप्त हुए.

प्रो. शुकदेव सिंह नहीं रहे

बनारस की अकादमिक संस्कृति के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर प्रो. शुकदेव सिंह का गत दिनों निधन हो गया. वे 74 वर्ष के थे. वे प्रख्यात साहित्यकार के साथ-साथ मध्यकालीन सन्त साहित्य के वरिष्ठ अध्येता थे. कबीर की कविताओं के अध्ययन-विश्लेषण पर उनका विशेष अधिकार था.


झारखण्ड सरकार
झारखण्ड में यू.पी.ए. सरकार का गौरवपूर्ण एक वर्ष
बदल रहा है प्रदेश
हर दिन... हर पल...
सपनों के असंख्य बीज
अंकुराये, फल-फूल रहे
विकास की नई धार
बाधाओं के पार बह चली
पहिए अब गतिशील हैं
थमेगा नहीं प्रतिबद्धता का यह रथ
जन-कल्याण हेतु हमारी सरकार द्वारा उठाए गए कुछ महत्वपूर्ण कदम
ग्राम विकास के लिए एक नयी 'मुख्यमंत्री विकास योजना' की शुरूआत।
मधु कोड़ा
मुख्यमंत्री, झारखंड
श्री स्टीफन मरांडी
श्री सुधीर महतो
श्री एनोस एक्का
श्री चन्द्रप्रकाश चौधरी
श्री हरिनारायण राय
श्री कमलेश सिंह
श्री बंधु तिर्की
जोबा मांझी
श्री नलिन सोरेन
श्री दुलाल भुइयां
श्री भानू प्रताप शाही
राज्य नवनिर्माण के कठिन डगर पर एक संघर्षपूर्ण वर्ष के पूर्ण होने पर राज्य की जनता को हार्दिक बधाई।
सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, झारखण्ड द्वारा जनहित में प्रकाशित
PR No. 19430 (IPRD) 07-08


जब काम बोलता है
तब दुनिया सुनती है
No. 1
इंफ्रास्ट्रक्चर (बिजली, सड़क,पानी) के विकास में सबसे तेज गति
कृषि विकास में देश में सबसे तेज गति
कानून व्यवस्था में पश्चिम में सबसे आगे
(इंडिया टुडे के सर्वे का निष्कर्ष)
प्रिय प्रदेशवासियों,
आप सब को बधाई। यह आप सब के विश्वास का परिणाम है कि हम प्रदेश को इस स्थिति तक लाने में सफल हुए हैं। किसी भी कीमत पर प्रदेश के विकास में प्राण फूंकने का हमारा प्रण है। विकास नारों से नहीं, नीयत से होता है। राजनीति नहीं, कर्मठता से होता है। बातें कम और काम ज्यादा करने से होता है। और साढ़े तीन वर्षों में हमने यही करने का प्रयास किया है। अवरोधों, आरोपों व आलोचनाओं के बीच भी संयम से विकास की गति को बढ़ाया है। ताकि हमारा प्रदेश भी देश का अग्रणी राज्य बन सके। दस सालों के गर्त से निकल कर विकास की होड़ में दौड़ सके।
आज मध्य प्रदेश दौड़ पड़ा है।
अब उड़ान की बारी है।
विकास तो होकर रहेगा।
शिवराज सिंह चौहान
RO. NO. D66200
मध्य प्रदेश: उड़ान को तैयार

NOVEMBER 2007 KATHADESH MONTHLY R.N.I. No. 37114/81
P-Regd. No. DL(E) - 21/5173/06-08
Date of Posting 1&2 (Same Month) ● PRICE 20/-

साहित्य, संस्कृति और कला का समग्र मासिक
कथादेश

शीघ्र प्रकाश्य

कथादेश का मीडिया विशेषांक

आप भी इस विशेषांक में अपनी बात कह सकते हैं

- आप भी इस विशेषांक में अपनी बात कह सकते हैं : यदि आप समाचार पत्रों के पाठक हैं, रेडियो के श्रोता हैं, टेलीविजन के दर्शक हैं और वेब के उपभोक्ता हैं. आपकी इनके कारोबार के बारे में क्या राय है. इन्हें लेकर किस तरह के सवाल अपने भीतर उठते हैं. आप ज्यादा से ज्यादा पाँच सौ शब्दों में अपने अनुभव, टिप्पणी या किसी भी रूप में अपनी बात हम तक भेजें. हम उन्हें विशेषांक में शामिल करेंगे.
- जिनके पास मीडिया के सच को दिखाने वाली कहानियाँ, कविताएँ, संस्मरण आदि हों वे इस विशेषांक में प्रकाशन के लिए भेज सकते हैं.

हमने अपने इस आयोजन में मीडिया के सभी पहलुओं पर ध्यान देने की पूरी कोशिश की है. मीडिया क्या लोकतन्त्र का चौथा स्तम्भ रह गया है? जिसे राष्ट्रवादी कहा गया वह मीडिया बाजार का हथियार कैसे बना? पत्रकारिता संस्थान समाज के लिए पत्रकार निर्मित कर रहे हैं या फिर बाजार के बिचौलिये? राष्ट्रीय भाषाओं के साथ गाँव ज्वार में कमजोर की लुगाई के साथ होने वाले व्यवहार की तरह का मनचाहा सलूक किया ज़ा रहा है सचमुच क्या युवाओं के लिए मीडिया में नौकरी की अपार सम्भावनाएँ हैं या फिर सस्ते श्रमिक पैदा करने की योजना का यह हिस्सा है. अपवाद को आम बात बताना जैसी मीडिया की कलाबाजी का रहस्य क्या है?

हम विज्ञापन के इच्छुक लोगों और संस्थानों से भी अनुरोध करते हैं कि वे इस आयोजन में हमारा सहयोग करें.

कथादेश
सी-52/जेड-3, दिलशाद गार्डन
दिल्ली-110095